हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास

लेखक की कुछ अन्य रचनाएँ

शिवराज भूषण (सम्पादित)

आधुनिक साहित्य (निबंध-संग्रह)

हिन्दी उपन्यास में वर्ग-भावना : प्रेमचन्द युग (शोध-रचना)

हिन्दी साहित्य : पिछला दशक (आलोचना)

रीता की बात (उपन्यास)

कैंडिडे (अनुवाद)

हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास

[लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए

स्वीकृत प्रबन्ध]

डॉ० प्रतापनारायण टंडन

बी. ए. (ऑनर्स), एम. ए., सा. र., पी-एच. डी.

हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक
हिंदी साहित्य भंडार
गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ
मुद्रक
विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ
मूल्य
साढ़े बारह रुपए
प्रथम संस्करण
१९५६

गुरुवर पण्डित ब्रजकिशोर मिश्र को

विषय-सूची

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

भूमिका

हिंदी कथा-साहित्य ने बहुत थोड़े समय में शिल्प के क्षेत्र में आश्चर्यजनक और अभूतपूर्व प्रगति की है। प्रश्न उठाया जा सकता है कि इसके मूल में कौन से कारण हैं। वास्तव में यह एक सामान्य धारणा बन गयी है कि कथा-साहित्य की उत्पत्ति भी मनुष्य के विकास के साथ ही साथ हुई। इस दृष्टि से इस निष्कर्ष को आधार मानकर चला जा सकता है कि मानव-जीवन में घटित होने वाले अनेक उतार-चढ़ावों का प्रभाव साहित्य पर पड़ता चलता है। अतः कथा-साहित्य को इस नियम का अपवाद कहकर उसके इस प्रभाव से मुक्त बने रहने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने की चेष्टा व्यर्थ होगी, क्योंकि स्थूल रूप से यह सर्वमान्य कहा जा सकता है कि एक प्रकार से अन्य साहित्यांगों की अपेक्षा उपन्यास में जीवन को प्रतिबिम्बित कर सकने की क्षमता अधिक है। कम से कम आधुनिक युग के विचारकों ने एक स्वर से इस मन्तव्य का प्रतिपादन करते हुए उसके सर्वाधिक महत्व की घोषणा की है।

उपर्युक्त कथन से यहाँ यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपन्यास-साहित्य में शिल्प-सम्बन्धी रूपों का विकास कोई आकस्मिक बात नहीं है। वस्तुतः यह स्वाभाविक विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप ही होता रहता है, जिसकी चर्चा आगे की गयी है। इसीलिए हिंदी उपन्यास के विकास के आदि युग से लेकर अब तक के इतिहास में कथा-शिल्प-सम्बन्धी पारस्परिक भिन्नता और नवीनता परिलक्षित होती है। ध्यानपूर्वक देखने पर यह मालूम होगा कि कथा-शिल्प का यह विकास उपन्यास साहित्य के विकास के समान्तर ही हुआ है। परन्तु हम फिर यह कहें कि यह विकास-क्रम उसकी निरन्तर गतिशीलता, पुष्टता और परिपक्वता का ही संकेत देता है, और आधुनिक उपन्यास-साहित्य के इतने अधिक समृद्ध होने का कारण भी, मूल रूप से, इसके उपर्युक्त गुणों को ही मानना चाहिए।

हिंदी उपन्यास के विकास के संदर्भ में कथा-शिल्प के विविध रूपों के विकास को देखने पर यह पता चलता है कि किस युग में शिल्प के कौन से रूपों का प्रयोग उपन्यास साहित्य में बहुलता से हुआ एवं उसके रूप-विकास की गति कैसे निर्धारित हुई।

वस्तुत: प्रारम्भिक युग से लेकर अब तक जो विकास हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में हुआ है, वह एक प्रक्रिया के अनुसार ही। अवश्य, यह परिवर्तन उपन्यास क्षेत्र में सर्वांगीण रूप में हुआ है, और कथा-शिल्प का सम्बन्ध उपन्यास के आकार से भी प्रत्यक्ष रूप में होता है। इसलिए ज्यों-ज्यों कथा के प्रकार और वस्तु में परिवर्तनशीलता के फलस्वरूप विकास होता गया, त्यों-त्यों कथा के विविध शिल्प-रूपों का भी जन्म होता गया।

कथा-शिल्प के समानान्तर ही एक बड़ा परिवर्तन जो कथा-साहित्य में होता गया, वह कथावस्तु के निरंतर संकुचित होते जाने का है। यों तो कथा-साहित्य के विकास के युगों में आदि काल से लेकर अब तक अनेक परिवर्तन उसके रूप-गठन के क्षेत्र में हुए हैं, परन्तु उनमें से ये ही दो प्रमुख हैं—कथा-शिल्प की दृष्टि से उसका निरंतर विकास और कथा-वस्तु की दृष्टि से ह्रास। लेकिन इस कथन से यह तात्पर्य न समझना चाहिए कि कथानक का ह्रास कथा-साहित्य की कोई पतनोन्मुख प्रवृत्ति है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने पर इन दोनों परिवर्तनों को विकास का द्योतक ही कहा जायगा, क्योंकि कथावस्तु का ह्रास भी एक प्रकार से कथा-शिल्प के रूपों के विकास में सहायक सिद्ध हुआ और यह अनिश्चित है कि यदि वैसा न होता तो आधुनिक कथा साहित्य का कौन सा स्वरूप हमारे सामने होता। इसलिए कथा-शिल्प के विकास का अध्ययन करते समय इस वैज्ञानिक प्रभेद को ध्यान में रखना आवश्यक है। हिन्दी उपन्यास के विकास के विशेष सन्दर्भ में यह विकास अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता से लक्षित किया किया जा सकता है।

हिंदी उपन्यास के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि उसके विकास के आदि युग से लेकर अब तक के विविध-विकास-युगों में न केवल कथा-वस्तु की दृष्टि से वैभिन्न्य मिलता है, वरन् शिल्प-रूपों की दृष्टि से भी पर्याप्त परिवर्तन-शीलता लक्षित होती है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हिंदी उपन्यास के इतिहास के काल-गत शिल्प-रूपों और प्रयोगों का अध्ययन किया गया है। इस दृष्टि से यह अपने ढंग का सर्वप्रथम वैज्ञानिक अध्ययन है।

प्रबन्ध के पहले अध्याय में उपन्यास का साहित्य में स्थान-निर्धारण किया गया

है। विविध साहित्यांगों की परिभाषा करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि विषय-क्षेत्र से संबंध रखनेवाली नवीन परिभाषाओं को उद्धृत करने के साथ ही एक तटस्थ दृष्टिकोण से निष्कर्षों को भ. निकाला जा सके। इस विषय में इस बात को भी ध्यान में रखा गया है कि साहित्यांग-सिद्धांतों का इस रूप में परिचय दिया जाय, जो आगे के अध्यायों के मूल होने के साथ ही साथ उपन्यास के रूप-निर्धारण में भी सहायक हों। उपन्यास के क्षेत्र-विस्तार और महत्व को भी इसी अध्याय में स्पष्ट किया गया है। उपन्यास को आधुनिक युग की देन कहा जाता है। और सत्य भी यही है कि इसका महत्व आधुनिक युग में ही सर्वाधिक मान्य हुआ है। परन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि विश्व-उपन्यास का प्रसार सैकड़ों वर्ष पहले तक है और उसके नवीनतम रूपों का निर्माण-स्रोत भी विश्व का प्राचीनतम कथा-साहित्य है; जिस प्रकार आधुनिक उपन्यास का नवीन स्वरूप-निर्माण परम्परा की दृष्टि से बहुत प्राचीन धाराओं पर आधारित होते हुए भी आधुनिक युग से ही विशेष रूप से सम्बन्धित है, उसी प्रकार उसका नवीनीकरण तथा महत्व-निर्धारण भी आधुनिक युग में ही हुआ है। इसीलिए व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी इसका विवेचन किया गया है। उपन्यास की परिभाषा करते समय जो उद्धरण दिये गये हैं, उनमें भारतीय विद्वानों के मतों को ही प्रमुखता दी गयी है, यद्यपि इस तथ्य को भी भुलाया नहीं गया है कि इस साहित्यांग का जितना प्रचार-प्रसार विदेशी भाषाओं में है, उतना हिन्दी में नहीं और यह भी कि उन्होंने ही इसकी विस्तार से विवेचना भी की है। विदेशी साहित्यकारों के मतों को उद्धृत करते समय यही दृष्टिकोण सामने रखा गया है। उपन्यास के अन्य विषयों से सम्बन्ध को भी इसी अध्याय में निश्चित किया गया है। जिन विषयों से उपन्यास का सम्बन्ध दिखाया गया है, उनके चुनाव में उन्हीं को प्रमुखता दी गयी है, जिनका आधुनिक उपन्यास साहित्य से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सम्बन्ध है और जिनका स्वतंत्र रूप से अध्ययन भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिए आधुनिक उपन्यास पर मनोविश्लेषण आदि के सिद्धांतों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

दूसरे अध्याय में उपन्यास के मूल तत्वों की विवेचना करते हुए कथानक को उपन्यास के प्रधान तत्व के रूप में मानकर उसकी विशिष्टता स्पष्ट की गयी है। उपन्यास-साहित्य के विकास के संदर्भ में कथानक के विकास को देखने से यह पता चलता है कि इस तत्व का उपन्यास-साहित्य के समानान्तर ही विकास हुआ। अवश्य, वर्तमान युग के उपन्यासों में कथानक-तत्व का अभाव मिलता है और निरंतर ह्रास होता जा रहा है।

आज कथानक के क्षेत्र में जो प्रयोग उपन्यासों में दिखायी देते हैं, उनको देखते हुए यह भ्रम हो सकता है कि उपन्यास के अन्य तत्वों की अपेक्षा इस तत्व का महत्व कम है या इसके अभाव में भी उपन्यास की रचना सम्भव हो सकती है। इस मान्यता का खण्डन करते हुए इस अध्याय के प्रारम्भिक भाग में यह प्रतिपादित किया गया है कि उपन्यास की रचना इस मूल तत्व के अभाव में नहीं हो सकती। जहाँ कथानक की परिभाषाएँ दी गयी हैं, वहाँ इस बात को ध्यान में रखा गया है कि वे उपन्यास के कथानक की स्पष्ट व्याख्या कर सकें। अँग्रेजी साहित्य में इस विषय पर बहुत-कुछ लिखा गया है, जबकि हिन्दी-साहित्य में इस पर स्वतन्त्र रूप से कुछ नहीं लिखा गया। कुछ पाश्चात्य पण्डितों के कथानक पर विचार इस अध्याय में उद्धरित करने का यही कारण है। उपन्यास के अन्य तत्वों की परिचयात्मक व्याख्या भी इसी अध्याय में की गयी है। इन तत्वों में चरित्र-चित्रण पर विशेष गौरव दिया गया है, क्योंकि कथानक-तत्व के बाद इसी तत्व की प्रधानता के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है। वास्तव में विभिन्न आलोचक उपन्यास के तत्वों के विषय में दो प्रकार के विचार रखते हैं। प्रथम वर्ग के विद्वानों की यह धारणा है कि उपन्यास के तत्वों में कथानक का महत्व सर्वाधिक है और दूसरे वर्ग के विद्वान् चरित्र-चित्रण पर अधिक गौरव देते हैं। इन दोनों तत्वों की प्रधानता-अप्रधानता के विषय में तथा चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त उपन्यास के जो शेष तत्व हैं, उन पर भी इसी अध्याय में विचार किया गया है।

प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में हिन्दी उपन्यास के प्रेरणा-स्रोत खोजने का प्रयत्न किया गया है तथा उनमें कथा-शिल्प के रूपों की व्याख्या की गयी है। वास्तव में हिंदी उपन्यास के विविध विकास-युगों को देखने पर यह ज्ञात होता है कि उसके विविध युगीन रूपों पर प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य का व्यापक प्रभाव पड़ा है। प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्तर्गत जिस कथा-साहित्य को लिया गया है, उसमें वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि की कथाओं के साथ ही साथ उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, जातक आदि कथा-साहित्य भी आ गये हैं। यों पूर्णता के विचार से वृहत्कथा, वृहत्कथा-श्लोक, वृहत्कथा-मंजरी, कथा सरित्सागर, शुक-सप्तति, पंचतन्त्र तथा हितोपदेश आदि के कथा-साहित्य में भी शिल्प-तत्व ढूँढ़ने का प्रयत्न किया गया है। इस युग में विशेष रूप से उन कथा-कृतियों का भी उल्लेख किया गया है, जिनकी रचना भारतेन्दु युग के पूर्व ही हो चुकी थी। इन कृतियों के अन्तर्गत रानी केतकी की कहानी, सिंहासन-बत्तीसी, बैताल पचीसी, माधवामल कामकन्दला,

शकुन्तला, प्रेमसागर, माधव विलास, नासिकेतोपाख्यान आदि की चर्चा की गयी है एवं उनके शिल्प-रूपों का प्रभाव की दृष्टि से विवेचन किया गया है।

चौथे अध्याय में आधुनिक उपन्यास के प्रारम्भिक युग और उसमें कथा-शिल्प के रूपों पर विचार किया गया है। इस अध्याय में सर्वप्रथम आधुनिक युग की ऐतिहासिक, राजनैतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए आधुनिक युग में नव-जागरण दिखाया गया है। इस नव-जागरण का सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ा, यह बताते हुए उसकी पृष्ठभूमि निर्मित की गयी है। फिर हिन्दी उपन्यास का उद्भव दिखाते हुए भारतेन्दु युग में लिखे गये उपन्यास-साहित्य का परिचय दिया गया है तथा उसमें कथा-शिल्प के रूपों का विश्लेषण किया गया है। इस युग के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी तथा गोपालराम गहमरी आदि की औपन्यासिक कृतियों में कथा-शिल्प के रूप ढूँढने का प्रयत्न किया गया है। एक दृष्टि से यही युग हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के इतिहास का सर्वप्रथम युग समझना चाहिए। इस युग के उपन्यासों की भूमि अवश्य कल्पनात्मक है, परन्तु भावी उपन्यास के रूप-निर्धारण में इसका महत्वपूर्ण योग रहा है।

पाँचवें अध्याय में कथा-विकास की विविध पद्धतियों की सैद्धान्तिक विवेचना सहित उनके व्यावहारिक आरोप का विवरण प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में, इन पद्धतियों का वर्गीकरण पाँच प्रकार से किया गया है—कथानक पद्धति, काव्यात्मक अथवा भावात्मक पद्धति, नाटकीय पद्धति, विश्लेषणात्मक पद्धति तथा फ्लैशबैक पद्धति। इसी वर्गीकरण के पश्चात् इन विविध कथा-विकास पद्धतियों के अंतर्गत आने वाली प्रणालियों—अर्थात् प्रथम के अन्तर्गत, रचनात्मक पद्धति, लोक-कथात्मक पद्धति, प्रेमाख्यात्मक पद्धति, आत्म कथात्मक पद्धति तथा सामान्य वर्णनात्मक पद्धति, द्वितीय के अंतर्गत वीर-काव्यात्मक पद्धति, रीति-काव्यात्मक पद्धति तथा भाव-प्रधान काव्यात्मक पद्धति, तृतीय के अंतर्गत रंग-मंचीय नाटकीय पद्धति, योरोपीय संघर्षात्मक पद्धति तथा ओजपूर्ण संवादात्मक पद्धति, चतुर्थ के अंतर्गत मनोवैज्ञानिकतायुक्त विश्लेषणात्मक पद्धति, बौद्धिकतायुक्त विश्लेषणात्मक पद्धति, यथार्थपरक विश्लेषणात्मक पद्धति, तथा आदर्शपरक विश्लेषणात्मक पद्धति आदि—की परिचयात्मक विवेचना उदाहरण सहित प्रस्तुत की गयी है।

छठवें अध्याय में यह दिखाने की चेष्टा की गयी है कि रचना-उद्देश्य के अनुरूप कथानक का रूप-संगठन किस प्रकार से और किन रूपों में होता है। इस दृष्टि से रचना-

उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए छै प्रकार के कथानक निर्धारित किये गये हैं—(१) शिक्षा-नीति, (२) मनोरंजन, (३) कुरीति-निवारण अथवा समाज-सुधार, (४) मनोविश्लेषण, (५) आंचालिक चित्रण तथा (६) हास्य। इन्हीं को दृष्टि में रखते हुए यह संकेत देने का प्रयत्न इस अध्याय में किया गया है कि कथानक-निर्माण में रचना-उद्देश्य के अन्तर्गत किस प्रकार के तत्व समावेशित हो जाते हैं, तथा साथ ही वे उसे किन रूपों में प्रभावित करते हैं।

सातवें अध्याय में कथा-शिल्प के अभिनव-प्रयोगों तथा हिन्दी उपन्यास के ज्योति-स्तंभों की विवरणात्मक आलोचना इस दृष्टि से प्रस्तुत की गयी है कि हिंदी उपन्यास के प्रारंभिक युग से लेकर आज तक कौन-कौन से उपन्यासकार ऐसे हुए, जिन्होंने उपन्यास-धारा को सर्वाधिक प्रभावित किया तथा इस दृष्टि से उनकी लिखी हुई विविध कथा-कृतियों में कथा-शिल्प-गत कौन-कौन सी विशेषताएँ मिलती हैं। इस दृष्टि से जिन उपन्यासकारों का चुनाव किया गया है, उनमें लाला श्रीनिवास दास, बाबू देवकीनन्दन खत्री, प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र कुमार तथा सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' हैं। इनके साथ ही, इन उपन्यासकारों द्वारा प्रवर्तित प्रवृत्तिगत परंपराओं को बढ़ाने वाले अन्य महत्वपूर्ण उपन्यासकारों पर भी विचार किया गया है।

आठवें तथा अंतिम अध्याय में उपसंहार के रूप में यह बताया गया कि उपन्यास में कथा-शिल्प का क्या महत्व होता है तथा पिछले अध्यायों में प्रस्तुत किये गये कथा-शिल्प के विकास-विवरण के आधार पर हिंदी उपन्यास की, शिल्प की दृष्टि से, भावी संभावनाएँ क्या हो सकती हैं।

अंत में, मै लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष डा० दीनदयालु गुप्त, एम. ए., एल-एल. बी., डी. लिट्; प्रसिद्ध उपन्यासकार डा. वृन्दावनलाल वर्मा, डी. लिट्, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डा. श्रीकृष्ण लाल, एम. ए., डी. फिल्., तथा अपने निर्देशक डा. व्रजकिशोर मिश्र, एम. ए., पी-एच. डी. के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूं, जिनके सुझाव तथा सहयोग से यह प्रबन्ध पूर्ण हो सका। मैं नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के आर्य भाषा पुस्तकालय के अधिकारियों का भी कृतज्ञ हूं, जिनके सहयोग से मैं कुछ महत्वपूर्ण पुस्तकों को देख सका तथा जिनका अध्ययन इस प्रबन्ध की रचना में सहायक हुआ।

—प्रतापनारायण टंडन

अध्याय १

उपन्यास का साहित्य में स्थान, परिभाषा, स्वरूप और महत्व

साहित्य की परिभाषा और उसका स्वरूप

साहित्य की परिभाषा

साहित्य की परिभाषा अनेक प्रकार से की गयी है। संस्कृत के विद्वानों ने साहित्य की विविध परिभाषाएँ की हैं, जिनमें से 'श्राद्ध-विवेक'[1], 'शब्द शक्ति प्रकाशिका'[2] तथा 'शब्द कल्पद्रुम'[3] आदि के विद्वान लेखकों द्वारा की गयी परिभाषाएँ संक्षिप्त और स्पष्ट हैं। 'सहितस्य भावः साहित्यम्' के अनुसार जिसमें सहित का भाव हो, उसे साहित्य कहते हैं। संस्कृत की इस साहित्य-परिभाषा की व्याख्या करते हुये बँगला के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—'सहित' शब्द से साहित्य की उत्पति है—अतएव धातुगत अर्थ करने पर 'साहित्य' शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है। यही नहीं, वरन् वह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरंग योग साधन साहित्य के सिवाय और किसी के द्वारा सम्भव नहीं। जिस देश में साहित्य का अभाव है, उस देश के लोग सजीव बन्धन से बँधे नहीं, विच्छिन्न होते हैं।'[4]

१. 'परस्पर सापेक्षाणां तुल्य रूपाणां युग पदेकं क्रियान्वयित्वं साहित्यम्' (—'श्राद्ध विवेक')।

२. 'तुल्यवदेक क्रियान्वायित्वं वृद्धिविशेषः विषयित्वं वा साहित्यम्' (—'शब्दशक्ति प्रकाशिका')।

३. 'मनुष्य कृत श्लोक मय ग्रन्थ विशेषः साहित्यम्' (—'शब्द कल्पद्रुम')।

४. 'साहित्य परिचय' (प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई), पृष्ठ १२।

एक और प्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार साहित्य को मनुष्य के जीवन की आलोचना कहा जाता है। हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचन्द ने इससे सहमत होते हुए लिखा है—'साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गयी हो, जिसकी भाषा प्रौढ़ और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो।.........साहित्य की बहुत सी परिभाषाएँ की गयी हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है, चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।'[1]

प्रसिद्ध उपन्यासकार और विचारक जैनेन्द्र कुमार ने साहित्य की परिभाषा करते हुए लिखा है—'मानव जाति की इस अनन्त निधि में जितना कुछ अनुभूति-भाण्डार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है। और भी, अक्षरबद्ध रूप में जो अनुभूति-संचय विश्व को प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य।'[2]

साहित्य को अभिव्यक्ति की कला कहा जाता है। जो ज्ञान भाषाबद्ध कर दिया जाता है, उसे भी साहित्य कहते हैं। परन्तु उसके अन्तर्गत विज्ञान आदि से सम्बन्धित पुस्तकें नहीं आतीं। वास्तव में साहित्य मनुष्य की रुचि का परिष्कार करता है और इस प्रकार जीवन को सुन्दर बनाने की चेष्टा भी करता है। मनुष्य का जीवन इस संसार में दुखपूर्ण माना गया है। आधुनिक युग में तो मानव-जीवन की जटिलताएँ और भी बढ़ गयी हैं, जिनके कारण जीवन भार-स्वरूप समझा जाने लगा है। मनुष्य यन्त्र की भाँति कार्य करते-करते श्रमित हो जाता है और कुछ समय के लिये यह चाहता है कि वह अपने सामने के जीवन को भूल जाय और अपने मस्तिष्क से उन अनेक समस्याओं को थोड़े समय के लिये हटा दे जो उसे चिन्ता-ग्रस्त किये रहती हैं। यह एक बड़ा उद्देश्य है। 'बड़े' शब्द से यहाँ 'व्यापक' अर्थ समझना चाहिए। व्यापक इसलिए कि आज यह एक-दो मनुष्यों या एक-दो वर्गों की समस्या न होकर समस्त मानव-जाति की समस्या बन गयी है।

१. 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रेमचन्द), पृष्ठ २।

२. 'साहित्य शिक्षा' (सं० श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा श्री हेमचंद्र मोदी), पृष्ठ १०।

तो जब मनुष्य कुछ देर के लिये इन सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति पाकर अपना ध्यान किसी दूसरी ओर लगाना चाहता है, तब उसे मनोरंजन की आवश्यकता होती है। वह अपना मनोरंजन करना और इस प्रकार अपने कष्टों को भूल जाना चाहता है। आधुनिक युग में जहाँ एक ओर नयी-नयी समस्याएँ सामने आती जाती हैं, वहां दूसरी ओर मनोरंजन के नये-नये साधनों का भी मनुष्य आविष्कार करता चला जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक देश में प्राकृतिक तथा भौगोलिक दशाओं और बौद्धिक स्तर के अनुसार अनेक खेलों का प्रचलन रहा है।

ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता चलता है, त्यों-त्यों इन मनोरञ्जन के साधनों के भी रूप-प्रकार में परिवर्तन होता जाता है। मूल रूप से यह कहा जा सकता है कि इन सबका उद्देश्य मनोरञ्जन करना ही है। यों आज के युग में इनके अन्य उपयोग भी हो सकते हैं। परन्तु इन साधनों के विभिन्न प्रकार हैं और मनुष्य अपनी रुचि और स्तर के अनुसार उनका उपयोग कर सकता है। इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह कहा जायगा कि साहित्य भी मनोरञ्जन का एक साधन है, जिसका उपयोग केवल समाज का शिक्षित वर्ग ही कर सकता है। परन्तु इनमें महत्वपूर्ण भेद यही है कि जहाँ इन सब अन्य मनोरञ्जन के साधनों का उद्देश्य केवल मनुष्य को बहलाना है, वहाँ साहित्य के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह मनोरञ्जन के अतिरिक्त और भी कुछ करता है। वह मानव-जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक क्षेत्रों में उसके स्तर को ऊँचा उठाने के लिये प्रयत्नशील रहता है।

प्रसिद्ध यूरोपीय सन्दर्भ-ग्रन्थ 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में साहित्य की परिभाषा करते हुए लिखा गया है—'साहित्य' एक व्यापक शब्द है। अपनी यथार्थ परिभाषा के अभाव में सर्वोत्कृष्ट विचार की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति के स्थान पर प्रयुक्त हो सकता है।' अँग्रेजों के प्रसिद्ध विद्वान विलियम हेनरी हडसन ने साहित्य को उन अनेक साधनों में से एक माना है, जिनमें किसी विशिष्ट युग की स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पाकर उन्मुक्त होती है।

मनोविश्लेषण शास्त्र के पण्डित फ्रायड ने साहित्य की व्याख्या एक नवीन दृष्टिकोण से की है। उसने साहित्य को अतृप्त वासनाओं की अभिव्यक्ति मात्र माना है। हिन्दी में ही नहीं, विश्व की प्रायः सभी भाषाओं के अधिकांश विद्वानों ने

फ्रायड के मन्तव्यों से अपनी सहमति प्रकट की है। परन्तु प्रो० विनयमोहन शर्मा ने फ्रायड के साहित्य पर आरोपित सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। उन्होंने यह माना है कि फ्रायड की यह व्याख्या केवल काल्पनिक साहित्य के विषय में ही ठीक हो सकती है।[1]

साहित्य का उद्देश्य या प्रयोजन

साहित्य में मनुष्य अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है। उसके लिए वह भाषा को माध्यम बनाता है, मनुष्य के लिए यह कोई नयी या विलक्षण बात नहीं है। वह आदि काल से ही ऐसा करता रहा है। परन्तु साहित्य का जन्म तभी से हुआ, जब भाषा की रचना हो गयी, यद्यपि भाषा की रचना होने के पूर्व से ही मनुष्य अपनी भावनाओं को व्यक्त कर रहा था। उस समय वह भाषाबद्ध साहित्य के स्थान पर चिह्न संकेत—लिपि या चित्र-लिपि की सहायता लेता था। मानव जाति के विकास के साथ ही साथ इन कलाओं का भी विकास हुआ और इनके अनेक नवीन रूप भी सामने आये। इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रौढ़ साहित्य की उत्पत्ति और विकास के मूल कारण वे ही रहे होंगे, जो इन कलाओं के थे। और इसीलिए उसके विकास की प्रक्रिया भी उनसे अधिक भिन्न नहीं रही होगी। परन्तु इस समानता के आधार पर यह कहना कठिन है कि साहित्य का महत्व ठीक उसके समान ही है, या प्रभावात्मकता की दृष्टि से उनमें पूर्ण समता है।

प्रेमचन्द के अनुसार साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिये की जाय। 'कला के लिये कला' के सिद्धांत पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता हैं जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलम्बित हो; ईर्ष्या और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुःख और लज्जा, ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है और बिना उद्देश्य के तो रचना हो ही नहीं सकती।'[2]

१. 'साहित्य परिचय', (प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई), पृष्ठ १९।

२. 'साहित्य-शिक्षा' (सं० श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा स्वर्गीय हेमचन्द्र मोदी), पृष्ठ १७।

प्रेमचन्द जी ने यह स्वीकार किया है कि काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है, परन्तु उन्होंने केवल शृंगारिक मनोभावों तक ही मानव-जीवन का क्षेत्र सीमित नहीं माना है। उनका विचार है कि शृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का केवल एक अंग हैं, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।[1]

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के अनुसार 'साहित्य का उद्देश्य ज्ञान का प्रचार करना है, कम से कम सत् साहित्य का तो यही उद्देश्य है। साहित्य से मनुष्य का जो मनोरञ्जन होता है, उसका कारण है उसकी स्वाभाविक ज्ञान-लिप्सा। यदि उसमें ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा बलवती न होती तो साहित्य के किसी अंग से उसकी मनस्तुष्टि न होती। मतलब यह कि समस्त साहित्य के मूल में ज्ञान है। साहित्य के जिस अंश में हम ज्ञान का जितना ही अधिक अंश स्वायत्त कर लेते हैं, वह हमारे लिए उतना ही अधिक उपादेय होता है। ज्ञान की प्राप्ति में ही साहित्य की उपादेयता है।"[2]

साहित्य, सही अर्थों में तभी साहित्य कहा जायगा जब उसमें किसी सत्य को प्रस्तुत किया गया हो। सत्यता उसका सर्वप्रथम महत्वपूर्ण गुण है। प्रभावात्मकता इसी से सम्बद्ध विशेषता है। जो साहित्य सत्य पर नहीं आधारित होगा, वह प्रभावात्मकता की दृष्टि से भी हीन होगा। इसीलिये साहित्य में यथार्थ का अभाव नहीं होना चाहिए, अन्यथा वह मनुष्य की अनुभूतियों को तीव्रता नहीं दे सकेगा और अपने उद्देश्य से हट जायगा।

ऊपर कहा गया है कि साहित्य मनोरञ्जन के अन्य साधनों से भारी असमानता रखता है और इसीलिए उसे केवल मन-बहलाव का साधन नहीं समझना चाहिए। दूसरे प्रकार से कहा जाय तो मनोरञ्जन के अन्य साधनों का सम्बन्ध एक मनुष्य के व्यक्तिगत मनोविनोद तक सीमित रहता है, परन्तु साहित्य का सम्बन्ध

१. 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रेमचन्द), पृष्ठ ३।

२. 'साहित्य परिचय' (प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई), पृष्ठ १०२।

मनुष्य के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन से भी होता है। इस प्रकार जीवन के अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी वह प्रभाव छोड़ता है। इसीलिए जहाँ अनेक विद्वान एक स्वर से इस बात की घोषणा करते हैं कि साहित्य मात्र मनोरञ्जन या आनन्द की ही वस्तु है, वहाँ अन्य शास्त्रज्ञ दृढ़ता से इस बात पर भी गौरव देते हैं कि उसका महत्व इससे कहीं ऊपर उठकर है।

आई० ए० रिचर्ड्स के मतानुसार अन्तःप्रवृत्तियों का संगठन ही साहित्य का उद्देश्य है। उसने लिखा है कि एक कलाकार अपने क्षणिक, अपरिचित और निजी संवेगों को दबाता है और इस प्रकार एक अधिक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व की प्राप्ति की चेष्टा करता है।[१] बहुत से विद्वानों का यह भी मत है कि साहित्य मनुष्य में जीवन के मूल्यांकन की क्षमता उत्पन्न करने में सहायता देता है। चूँकि आज सभ्यता के विकास के फलस्वरूप मनुष्य का जीवन-क्रम अधिक जटिल हो गया है, अतः साहित्य का क्षेत्र-विस्तार भी बढ़ गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि अब साहित्य मानव-जाति की सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से अधिक महत्व-पूर्ण साधन बनता जा रहा है।

साहित्य के विषय

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि मूल रूप से अनुराग-विराग तथा सुख-दुख ही साहित्य के विषय हैं। साहित्य के रस का आनन्द अलौकिक बताया गया है; क्योंकि साहित्य हमारी रुचि का परिष्कार करके उसका स्तर ऊँचा उठाता है। प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य पर किसी देखी हुई साधारण घटना की अपेक्षा किसी पढ़ी हुई घटना का प्रभाव अधिक गहरा और स्थायी पड़ता है। मनुष्य साहित्य के माध्यम से अपने आवेष्ठन के विभिन्न पहलुओं के ज्ञान को अर्जित

१. "When we find the artist struggling towards impersonality, towards a structure of his work, which excludes his private, eccentric, momentary idio-syncracies, and using always as its basis, those elements which are most uniform in their effect upon impulses."

—'Principles of Literary Criticism', p. 2.

करना चाहता है, क्योंकि उनका सम्बन्ध सीधे उसके जीवन से होता है। साहित्य मनुष्य के कार्य-कलाप के विषय में उसे निर्देशित करने की चेष्टा करता है। वह संसार से व्यक्ति का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार साहित्य मानव-जीवन से सीधा उत्पन्न होकर सीधे मानव-जीवन को प्रभावित करता है। साहित्य पढ़ने से हम जीवन के साथ ताजा और घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं। साहित्य में उन सारी बातों का जीवन्त विवरण होता है जिसे मनुष्य ने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा है। जीवन के जो पहलू हमें नजदीक से और स्थायी रूप से प्रभावित करते हैं उनके विषय में मनुष्य के अनुभवों के समझने का एक मात्र साधन साहित्य है।"[1]

संक्षेप में, साहित्य के विषय सम्पूर्ण मानवता और मानव-जीवन के विविध पक्ष होते हैं। एक साहित्यकार की चेतना स्पष्ट रूप में यह देखती और अनुभव करती है कि मानव-रूप चिरन्तन-काल से परिवर्तनशील रहा है और प्रत्येक युग में नवीन तत्वों को ग्रहण करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि युग और उसकी आवश्यकता के अनुसार साहित्य के विषय भी परिवर्तित होते रहते हैं और नये युग में नये साहित्यिक विषयों की आवश्यकता होती है।

साहित्य और शाश्वतता

अभी कहा गया है कि युग की आवश्यकता के अनुसार साहित्य में भी परिवर्तन होता रहता है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन दोनों का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। ऊपर यह भी कहा गया है कि साहित्य स्वभावतः ही परिवर्तनशील या विकासशील होता है। इसका कारण यह है कि चूँकि साहित्य सम्पूर्ण मानव-जीवन का मूल्यांकन अथवा विवेचन करता है, अतः वह मनुष्य की दृष्टि में भी परिष्कार करता रहता है, यद्यपि यह बहुत कुछ युग की परिस्थितियों अथवा वातावरण पर निर्भर करता है, क्योंकि मनुष्य अपने प्राचीन साहित्य को पढ़कर उसका रस तो ग्रहण कर सकता है, परन्तु उसे अपने समसामयिक जीवन की

१. 'साहित्य का साथी' (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ ४।

अनेक समस्याओं और मानव-मूल्यों की चेतना अपने नये या युगीन साहित्य में ही मिल सकती है। किसी भाषा का प्राचीन साहित्य वास्तव में उसके बोलने वालों के सांस्कृतिक परिष्कार की क्षमता के कारण अधिक महत्व का होता है; नयी समस्याओं और विभिन्न मानव-मूल्यों की चेतना उत्पन्न करने की दृष्टि से कम महत्व का।

प्रसिद्ध विद्वान जे.ड का विचार है कि यदि वर्तमान काल में कोई विचारक बनना चाहता है, तो उसका एक प्रमुख कर्तव्य यह है कि वह प्राचीन काल के महापुरुषों के विचारों से अवगत होने का प्रयत्न करे, क्योंकि इस प्रकार का परिचय संस्कृति का एक आवश्यक अंग है। उसका विश्वास है कि जो व्यक्ति श्रेष्ठ विचारकों की कृतियों का आस्वादन करके उसके महत्व को समझ चुका होगा, वह स्वयं किसी भी निम्न कोटि की रचना को प्रकाश में लाने में संकोच करेगा।[१] आई० ए० रिचर्ड्स ने भी इसी प्रकार प्रत्येक लेखक-विचारक के लिए इस प्रकार के परिचय पर गौरव दिया है।[२]

प्रो० विनयमोहन शर्मा ने युग और साहित्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए बताया है कि साहित्य में केवल व्यक्ति-भावना ही मूर्त्त रूप धारण नहीं करता, वरन् उसमें समाज, देश और विश्व भी झाँकता है। समय की भावना का प्रस्फुटित होना ही युग-धर्म कहलाता है और वही साहित्य स्थायी हो सकता हैं, जिसमें युग की आत्मा बोलती हो।[3]

साहित्य और युगीन समस्याएँ

विविध युगों का साहित्य अपने-अपने युग की छाया को अपने आप में लिये रहता है। यह बहुत सामान्य बात है कि प्रत्येक युग की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं। चूँकि युग स्वयं साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है, अतः यह स्वाभाविक हो जाता है कि युग की विशेषताएँ भी किसी न किसी रूप में साहित्य में समावेशित हो जायँ। उदाहरण के लिए यदि किसी देश की शासन-व्यवस्था में कोई बड़ा

१. दे० Zoad—'Return to philosophy.'
२. "Good reading, in the end, is the whole secret of good judgment."
३. 'साहित्य परिचय', पृष्ठ २७।

अन्तर आ जाता है, या उसका शासन-सूत्र एक जाति के हाथ से निकल कर दूसरी जाति के हाथ में चला जाता है, तो वहाँ विभिन्न क्षेत्रों में बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं। ये परिवर्तन अनिवार्य होते हैं, यद्यपि इनके परिणाम सदैव एक-से होते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु मूल रूप से इन प्रयत्नों के पीछे उद्देश्य यही रहता है कि वे समग्र रूप से देश की प्रगति में सहायक हों।

ऊपर एक विशेष स्थिति की ओर संकेत किया गया है। यह असत्य है कि इस प्रकार के प्रयत्न किन्हीं विशेष स्थितियों में ही होते हैं। वास्तव में प्रत्येक युग में स्पष्ट देखा जा सकता है कि समय ने किस प्रकार मोड़ लिये, हालाँकि उनके पीछे सदैव ही प्रगति का उद्देश्य जुड़ा रहता है।

इस प्रकार के प्रयत्न जब हों तब उनके फलस्वरूप प्रगति ही हो, यह आवश्यक नहीं है। परन्तु यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रगति न हो। वास्तव में इसका कभी भी तात्कालिक निर्णय कठिन होता है। लेकिन इसका जो अनिवार्य परिणाम होता है, वह होता है परिवर्तन—भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विविध परिवर्तन। इस प्रकार के कोई प्रयत्न हों और कहीं परिवर्तन न हो, सामान्य रूप से यह बात अस्वीकार ही की जायगी।

ऊपर के कथन का तात्पर्य यह है कि जब इस प्रकार के कोई प्रयत्न नहीं किये जाते हैं—यह मानना चाहिए कि वे प्रायः सदैव ही किये जाते हैं—तो वहाँ व्यापक परिवर्तन होते हैं। चूँकि ये परिवर्तन सभी क्षेत्रों में होते हैं, अतः साहित्य का क्षेत्र भी इनसे प्रभावित होता है। यहाँ अन्य क्षेत्रों की बात न करके विशेष रूप से यह देखने का प्रयत्न ही किया जायगा कि साहित्य में उनका आविर्भाव किन परिस्थितियों को उत्पन्न करता है और फलस्वरूप साहित्यिक गति-विधि उनसे किस सीमा तक निर्धारण पाती है।

जब उपर्युक्त प्रकार के परिवर्तनों के फलस्वरूप नयी परिस्थितियाँ सामने आती हैं, तो स्वभावतः साहित्य में उन समस्याओं को उठाया जाता है, जो उस युग में महत्वपूर्ण होती हैं। साहित्य के क्षेत्र में, किसी सीमा तक यह मान्य है कि उसमें इतना फैलाव है कि वह उन समस्याओं को तीखे रूप में और सविस्तार प्रस्तुत कर सके। अवश्य इनकी अभिव्यक्ति और समावेश से साहित्य के रचनात्मक क्षेत्रों में नयी सम्भावनाएँ दिखायी पड़ती हैं और एक प्रकार से उनके

माध्यम से ही उन समस्याओं के मूल तक पहुँचा जा सकता है, जो युगीन कहलाती हैं।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक लम्बे अरसे तक हमारे देश को अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहना पड़ा। कुछ ऐसे अवसर भी आये, जब ये प्रयत्न संघर्ष में परिवर्तित हो गये और संघर्ष हुआ। इस संघर्ष ने जन-जीवन के विविध क्षेत्रों को प्रभावित किया और इसके फलस्वरूप जनता की नागरिक चेतना जाग्रत हुई। साहित्य में यह सब ज्यों का त्यों मिलता है। और यही कारण है कि किन्हीं विशिष्ट युगों में लिखी गयी आधी से अधिक कृतियों में इस प्रकार के विषयों की ही प्रधानता दी गयी है। जैसे, भारत-विभाजन से जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, सन् सैंतालीस के बाद के सात-आठ वर्षों के बीच में लिखी गयी सहस्रों कथा-कृतियों में उन्हीं को आधार बनाया गया है।

प्रश्न हो सकता है कि किसी युग के साहित्य में इन सामाजिक जटिलताओं और समस्यओं की उपेक्षा भी की जा सकती है या नहीं। और यदि की जा सकती है तो उसके क्या परिणाम सामने आते हैं। एक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि उपेक्षा करना सम्भव है, परन्तु यह उपेक्षा-भाव अहितकर फल की सृष्टि कर सकता है। यदि युगीन विषमताओं की उपेक्षा करके साहित्य-रचना की जायगी, तो न केवल उसमें यह कमी होगी कि वह किसी युग विशेष के समाज का यथार्थ चित्रण न कर सकेगा, बल्कि उसे कभी किसी मान्य साहित्य में स्थान मिलना भी कठिन होगा, क्योंकि उसे युग की मान्यता प्राप्त नहीं होगी।

बहुधा यह कहा जाता है कि आज का साहित्य वैयक्तिक चित्रण तक ही सीमित होता चला जा रहा है और उसका यह सीमा-संकोच विकास की दृष्टि से अच्छा लक्षण नहीं है। वस्तुतः यह कैसा लक्षण है, इस पर विवाद करना यहाँ अनावश्यक है। यहाँ यह देखना चाहिए कि वैयक्तिक कोटि का साहित्य भी अपने आप में सामयिक परिस्थितियों का चित्रण कितनी गहनता से कर सकता है। इस दृष्टि से हमारा विचार यह है कि चाहे साहित्य समाजगत हो या व्यक्तिगत, यदि उसमें किसी जीवन-दर्शन, जीवन-आदर्श या जीवन-सन्देश की निहिति है, तो इतना होना पर्याप्त है, क्योंकि ये वे तत्व हैं, जिनके अभाव में साहित्य की सार्थकता कम है, भले ही वह किसी समग्र समाज का चित्रण हो या वर्ग-व्यक्ति का।

परन्तु उपर्युक्त प्रश्न गौण है। उसकी चर्चा का कारण केवल यही है कि आज अकारण ही साहित्यकारों को यह शिकायत हो रही है और जिसका समाधान भी बहुधा लोग करते देखे जाते हैं। किन्तु हमारे विचार से इस संदर्भ में जो दूसरा सवाल उठाया जा सकता है, वह अधिक महत्व रखता है। वह प्रश्न यों रखा जा सकता है—क्या यह अनिवार्य रूप में आवश्यक है कि साहित्य में वर्णित किसी भी विषय का समकालीन परिस्थितियों से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्ध हो ?

इस प्रश्न का समुचित उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक इस समस्या के कुछ अन्य पहलुओं को भी न देख लिया जाय; क्योंकि अब तक हम जिस सन्दर्भ में बात करते आये हैं, उससे सामान्य रूप से यही निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक व्यवस्थाओं को साहित्य में प्रतिबिम्बित होना ही चाहिए। अब हम यह भी मान लें कि इस प्रकार का भी साहित्य रचा गया है और इसकी सम्भावनाएँ भी सदैव रहती हैं कि कोई साहित्य सामाजिक परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध न रखता हो। इस दृष्टि से एक आलोचक के लिए यह व्यावहारिक कठिनाई अवश्य हो सकती है कि वह एक ही आलोचना पद्धति से दोनों का मूल्यांकन कैसे करे।

अब ऊपर के प्रश्न का उत्तर किसी सीमा तक स्वतः स्पष्ट हो जाता है, जो यह है कि यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं कि साहित्य में वर्णित किसी भी वस्तु का समकालीन परिस्थितियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो, परन्तु यह भी स्पष्ट है कि उनकी अवहेलना करना कठिन है और कुछ अहितकर भी।

यह मन्तव्य भ्रामक है कि कोई भी ऐसा साहित्य स्थायी साहित्य नहीं हो सकता जिसमें अपने युग की छाया मिलती हो। हाँ, यह अवश्य चिन्त्य हो सकता है कि इस मत के पोषक प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। परन्तु हमारा अनुमान है कि उनकी इस धारणा के पीछे यह भ्रम है कि ऐसा प्रत्येक साहित्य, जिसमें युगीन परिस्थितियाँ झलकती हैं, किन्हीं राजनीतिक मत-वादों से प्रेरित होकर लिखा जाता है और उन्हीं मत-वादों के साथ ही साथ उनको आधार बनाकर रचे गये साहित्य की भी समाप्ति हो जाती है।

यह ध्यान में रखने की बात है कि सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित साहित्य जहाँ एक ओर अपने आप में उस युग की समस्याओं को गहनता से

अभिव्यक्त कर सकने में समर्थ होता है, वहाँ यदि स्तर की दृष्टि से वह उच्च नहीं है तो उसे किसी रूढ़िवादिता का निरर्थक पोषण भी मिल सकता है। इसका कारण यह होता है कि यदि साहित्यकार को युगीन समस्याओं को उनके तीखे रूप में कभी अनुभव करने का अवसर नहीं मिला है, तो वह स्वभावत: ही उन्हें उस प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्ति नहीं दे सकता, जिसके अभाव में साहित्य निष्प्राण हो जाता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि यह धारणा पूर्ण रूप से भ्रामक नहीं है कि समसामयिक सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य को प्रभावित करती हैं, परन्तु इसके बावजूद इस धारणा में आंशिक रूप से सत्य वर्तमान है कि विशिष्ट कोटि के साहित्यकार अपने आपको सामाजिक सीमाओं से मुक्त भी रखे रह सकते हैं और उसकी ऊँचाइयों का अतिक्रमण भी कर सकते हैं।

साहित्य का आधार

साहित्य का आधार भाव हैं। मनुष्य के हृदय में जो मूल भावनाएँ होती हैं, उनमें कभी परिवर्तन नहीं होता। वे सभी परिस्थितियों में और सर्वत्र एक सी रहती हैं। भावों की इस एकरूपता के कारण संसार के विभिन्न देशों की विविध भाषाओं के साहित्यों की पारस्परिक तुलना करके उनकी एकता निर्धारित की जा सकती है; यद्यपि यह भिन्न बात है कि उनमें जातिगत, तथा देश-कालगत विविधताएँ विद्यमान रहती हैं। उनकी इस प्रकार की आलोचना का आधार तुलनात्मक होता है, जो साहित्य के समसामयिक मानदंड के आधार पर की जाती है।

प्रेमचन्द जी के विचार से 'साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं, लेकिन बुनियादें मिट्टी के नीचे दबी पड़ी हैं। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिए अनन्त है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिए सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन का उद्देश्य ही आनन्द है। मनुष्य जीवन-पर्यन्त आनन्द ही की खोज में पड़ा रहता है। लेकिन साहित्य का आनन्द इस आनन्द से ऊँचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनन्द में ग्लानि छिपी होती है। उससे अरुचि भी हो सकती है, पश्चाताप भी हो सकता है; पर सुन्दर से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह

अखण्ड है, अमर है।"[1]

साहित्य की मूल मनोवृत्तियाँ

भावनाओं की अभिव्यक्ति मनुष्य की मूल मनोवृत्ति है। उसकी यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने भावों तथा विचारों को दूसरों पर प्रकट करे और स्वयं दूसरों के भावों तथा विचारों को समझने की चेष्टा करे। वह अपनी कल्पना की सहायता से ईश्वर, जीव तथा सृष्टि की अनेक सम्भावनाओं तथा रूपों का चिन्तन करता है और उन्हें अपनी भाषा या वाणी के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इस संसार के जड़ और चेतन पदार्थ उसके हृदय पर प्रभाव डालते हैं और उसकी कल्पना को झकझोरते हैं। यही कारण है कि वह उनकी अभिव्यक्ति का प्रयत्न करता है। उसके ये प्रयत्न विभिन्न प्रकार के होते हैं। मूर्ति बनाना, चित्र खींचना, संगीत तथा साहित्य का प्रणयन आदि ऐसे ही प्रयत्न हैं।

एक मनुष्य अपनी मानसिक वृत्तियों की तो अभिव्यंजना करना ही चाहता है, वह विविध मनोविकारों तथा विभिन्न क्षेत्रों में अपने अनुभवों को भी व्यक्त करना चाहता है। सामान्य रूप से उसकी यह प्रवृत्ति मानव-मात्र की विशेषता कही जा सकती है, यद्यपि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसके बौद्धिक स्तर में भी कोई असमानता नहीं होती। प्रत्येक मनुष्य के गुण-बुद्धि में भिन्नता के अनुसार ही सौन्दर्य के प्रति उसके दृष्टिकोण में भी अन्तर होता है। सौन्दर्य के प्रति मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक रूप से आकर्षण रहता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि मनुष्य अपनी अभिव्यञ्जना की मनोवृत्ति के कारण ही साहित्य-रचना में प्रवृत्त होता है तथा सौन्दर्य-प्रेम की भावना के कारण उसमें कल्पनात्मकता अथवा चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा करता है।

साहित्य का अन्य विषयों से सम्बन्ध

साहित्य और नीति

साहित्य अथवा कला का नीति से क्या संबंध है, यह प्रश्न बहुत समय से

१. 'विचार वल्लरी' (सम्पादक, जैनेन्द्र कुमार), पृष्ठ ७८।

विचारकों के सामने रहा है और वे इसके उत्तर में किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं और न ही किसी विषय पर एकमत हो सके हैं। स्पिनगार्न ने अपनी पुस्तक 'न्यू क्रिटिसिज्म' में इस मन्तव्य को प्रतिपादित किया है कि नैतिक दृष्टि से कला का परीक्षण अन्ध-परम्परा है और अब इसका परित्याग भी किया जा चुका है। उसने कला का उद्देश्य केवल अभिव्यक्ति को माना है, उपदेश या आनन्द को नहीं। ब्रैडले ने भी इसी से मिलते-जुलते विचार प्रकट किये हैं। उसने अपनी पुस्तक 'पोएट्री फार पोएट्री' में लिखा है कि काव्य-कला स्वयं ही अपना साध्य है। परन्तु उपर्युक्त मतों से यह न समझना चाहिए कि साहित्य और नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि जहाँ एक ओर स्पिनगार्न तथा ब्रैडले जैसे विचारक उनकी सम्बद्धता का विरोध करते हैं, तो दूसरी ओर ऐसे भी विद्वान हैं जो साहित्य में नीति पर बहुत गौरव देते हैं। ऐसे विद्वानों में टालस्टाय[१] तथा मैथ्यू आरनल्ड ने तो यहाँ तक लिखा है कि जो काव्य नैतिकता के प्रति विद्रोही है, वह जीवन के प्रति भी विद्रोही है तथा जो काव्य नैतिकता के प्रति उदासीन है, वह जीवन के प्रति भी उदासीन है।[२] टी० एस० इलियट ने भी यह स्वीकार किया है कि इन दोनों में कोई न कोई संबंध अवश्य है, यद्यपि वह स्वयं इसे स्पष्ट नहीं कर पाया है।[३] आई० ए०

१. "In every age and in every human society there exhists a religious sense of what is good and what is bad common to what whole society, and it is this religious conception that decides the whole value of the feelings transmitted by art."

—'What is Art' (Tolstoy)

२. 'A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life.'

३. Poetry certainly has some thing to do with morals, and with religion, and even with politics; perhaps though we cannot say what.'

'The Sacred Wood.' (T. S. Eliot)

रिचर्ड्स ने भी इनके सम्बन्ध को किसी सीमा तक स्वीकार किया है।[१] प्रेमचन्द जी ने साहित्य और नीति का एक ही लक्ष्य माना है। उन्होंने लिखा है—'नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।'[२]

श्री जैनेन्द्र कुमार ने बताया है कि अब साहित्य अधिकाधिक व्यक्तिगत होता जा रहा है, परन्तु पहले वह समाजगत अधिक था। उसमें समाज की नीति-अनीति की मान्यताओं की ज्यों की त्यों स्वीकृति प्रतिबिम्बित होती थी। आज के साहित्य में समाज की उन्हीं निर्णीत धारणाओं के प्रति व्यक्ति का विरोध और विद्रोह अधिक दिखायी पड़ता है। उन्होंने लिखा है कि आज केवल हमारी नीति ही साहित्य में नहीं है, हमारे संकल्प और हमारे मनोरथ भी आज उसमें भरे हैं।[३]

श्री इलाचन्द्र जोशी ने बताया है कि अब तक हमारे देश में साहित्य को शिक्षित और अशिक्षित जनता विशुद्ध मनोरंजन और मानसिक विकास की सामग्री मानती रही है या ऐसी वस्तु, जो हमें आनन्द की सूक्ष्म आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान कर सके। उन्होंने लिखा है कि हमारे अनेक मान्य आलोचकों की सम्मति में साहित्य-कलाकार को मानव-हृदय के स्थायी भावों और जीवन के तथाकथित शाश्वत सत्यों को ही अपनी कृतियों में कलात्मक रूप से प्रस्फुटित करना चाहिए और सामयिक समस्याओं की अवज्ञा करके रसात्मक वाक्यों द्वारा मानव-मन में केवल तथाकथित 'दिव्य अनुभूति' जगाने और 'दिव्य चेतना' उकसाने का प्रयत्न करना चाहिए।[४]

१. 'Culture, religion, instruction in some special senses, softening of the passions, and the furtherance of good senses may be directly concerned in our judgments of the poetic values of experiences.'

'Principles of Literary criticism'. (I. A. Richards)

२. 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रेमचन्द), पृष्ठ ५।

३. 'साहित्य परिचय' (प्रकाशक-हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई), पृष्ठ ५६।

४. 'आलोचना' ३, पृष्ठ ४७।

अतीत युगों के सामाजिक जीवन की झलक तत्कालीन साहित्य में देखी जा सकती है। कोई भी साहित्य अपने युग के सम्पूर्ण जीवन का चित्र समग्रता से प्रस्तुत कर सकता है। यह तथ्य इस बात का आभास देता है कि साहित्य का नीति तथा समाजशास्त्र आदि से निकट सम्बन्ध है, यद्यपि यह भिन्न बात है कि साहित्य की प्रवृत्तियों में परिवर्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए पहले साहित्य में सामाजिक पक्ष प्रबल रहता था, परन्तु आधुनिक साहित्य में व्यक्तिगत पक्ष को प्रधानता दी जाती है। इस प्रकार के साहित्य का भविष्य क्या होगा, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है; परन्तु यह सर्वमान्य है कि इनमें से किसी भी पक्ष की पूर्णतः उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्ततः साहित्य ही समाज का नेतृत्व करता है और अन्तिम रूप से यह किसी समाज के सामान्य बौद्धिक स्तर पर ही निर्भर होता है कि वह किन रचनाओं का स्वागत करे और इस प्रकार उन्हें प्रोत्साहन दे, तथा किस प्रकार की रचनाओं की उपेक्षा करे और उन्हें न पनपने दे।

साहित्य और विज्ञान

मनुष्य की प्रारम्भ से ही यह चेष्टा रही है कि वह सृष्टि के रहस्य का उद्घाटन करे। उसके सारे प्रयत्न मूल रूप से इसी केन्द्रगत उद्देश्य के आसपास चक्कर लगाते रहे हैं। वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने समस्त ज्ञान और शक्ति से प्रयत्न करता है। विज्ञान को साहित्य की प्रारम्भिक और अंतिम अवस्था में साहित्य कहा जाता है। इसीलिये यह भी माना जाता है कि साहित्य का संसार भावनाओं और कल्पनाओं का संसार है। परन्तु विज्ञान और साहित्य में कुछ पारस्परिक सम्बन्ध भी है। आज के युग में इन दोनों का यह सम्बन्ध और भी निकट का हो गया है। दोनों का उद्देश्य मूल रूप से मानव जाति का कल्याण ही कहा जा सकता है।

जैनेन्द्र कुमार ने इस सम्बन्ध में लिखा है—'जहाँ यह बुद्धि प्रधान होकर रही, जहाँ उसने पदार्थ को उसके चारों ओर के सम्बन्धों से तोड़कर उसे समझने की चेष्टा की—और जिसका परिणाम जीवन के रस और नीति से, इस प्रकार, अधिकाधिक विच्छिन्न होकर प्रकट हुआ कि जिससे अनुभूति कम और यत्न अधिक व्यक्त हुआ, और जो अन्ततः रेखाबद्ध और फार्मूलाबद्ध विद्या हो पड़ी—वही वस्तु है विज्ञान।............इसके विरोध में जब मानव ने अपने व्यक्तित्व के पूरे जोर

से विश्व को अपनाने की चेष्टा को शब्दों में व्यक्त किया—जो शुद्ध अनुभूतिमय है, जहाँ लगभग स्रष्टा ज्ञाता है ही नहीं वरन् वह अपनी सृष्टि से एकाकार है, जहाँ सम्बन्ध सिरजन का है जानने का नहीं, जहाँ स्रष्टा और सृष्टि की एकता है,—वह है साहित्य।"[1]

साहित्य और संस्कृति

संस्कृति को मनुष्य-समाज की एक प्रमुख विशेषता माना जाता है। वह मनुष्य के हृदय में उस बौद्धिक चेतना को जगाती है, जो पशुओं या असभ्य समाज में नहीं पायी जाती है। इसी प्रकार साहित्य भी मनुष्य के चेतनामूलक जीवन का एक अंग है। साहित्य का विषय सम्पूर्ण मानव-जीवन है और साहित्य एक सांस्कृतिक प्रयत्न है। इसी कारण साहित्य को किसी अंग या किसी वर्ग के जीवन तक सीमित नहीं समझना चाहिए। जीवन अपनी समग्र व्यापकता और गहनता से साहित्य में अभिव्यक्ति पा सकता है। साहित्य की एक विशेषता इस दृष्टि से यह भी है कि उसमें मानव-जीवन का यथार्थ चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही उसकी भावी सम्भावनाओं का भी परिचय मिलता है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि संसार की जो जाति मानसिक प्रौढ़ता की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक विकसित अवस्था प्राप्त कर चुकी होती है, उसमें उतने ही तीव्र अथवा प्रखर रूप में नैतिक और सांस्कृतिक चेतना भी पायी जाती है। इसकी पृष्ठभूमि में उस जाति की, इस क्षेत्र में जागरूकता ही होती है, जिसके फलस्वरूप इस नैतिक तथा सांस्कृतिक चेतना की सम्भावनाएँ प्रतीत होती हैं।

डॉ० देवराज के अनुसार, 'संस्कृति अपने विभिन्न रूपों में विशेष दृष्टियों से अर्थवती वास्तविकताओं की चेतना उत्पन्न करने की प्रक्रिया या व्यापार है। संस्कृति का अर्थ चेतनामूलक एवं सृजनात्मक जीवन का विकास है। नृ-विज्ञान के पण्डित जिसे 'कलचर' कहते हैं उसके, विभिन्न मानव-समूहों में, हजारों रूप पाये जाते हैं। विभिन्न देशों तथा जातियों के मनुष्य असंख्य ढंगों से खाते-पीते,

१. 'साहित्य शिक्षा' (सम्पादक, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी तथा हेमचन्द्र मोदी), पृष्ठ ३७।

वस्त्रों तथा आभूषणों से अपने को अलंकृत करते तथा विवाह आदि उत्सव मनाते हैं।....सम्भवतः यही सब दृष्टि में रखकर स्पिनोजा तथा एंगेल्स जैसे विचारकों ने कहा है कि स्वतन्त्रता का अर्थ अवश्यम्भाविता की चेतना है।........अतः समृद्ध सांस्कृतिक जीवन के लिए प्रत्येक जाति एवं व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अतीत की संस्कृति को आत्मसात् करते हुए आगे बढ़े।"[1]

साहित्य और मनोविज्ञान

पहले भी विद्वानों की यह धारणा थी कि साहित्य में मनोविज्ञान का योग आवश्यक है। अधुनिक युग में तो इस तथ्य से इन्कार किया ही नहीं जा सकता कि बिना सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि के उत्कृष्ट कोटि की साहित्य-रचना असम्भव है। वास्तव में जो साहित्यकार विकसित मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का आधार अपनी कृति में देगा, वही साहित्य अधिक यथार्थपरक भी होगा। बिना सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि के मानव-जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डाल सकना कठिन है।

आधुनिक युग के साहित्य पर मनोविज्ञान का जितना व्यापक प्रभाव मिलता है, उससे यह बात सिद्ध हो गयी है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है। प्रसिद्ध विद्वान सी. जे. युंग ने मनोवैज्ञानिक साहित्य पर विचार करते हुए लिखा है—'साहित्य में अनन्त रचनाएँ इसी प्रकार की हैं जैसे, प्रेम, परिस्थिति, परिवार, अपराध और समाज सम्बन्धी उपन्यास, उपदेशात्मक काव्य, गीतियों की एक बहुत बड़ी संख्या दुःखान्त और सुखान्त रूपक आदि। मनोवैज्ञानिक रचना का रूप-विशेष जो भी हो, वह अपनी सामग्री का चयन मनुष्य की चेतन अनुभूति के विस्तीर्ण क्षेत्र से, जीवन की सुस्पष्ट अग्रभूमि से ही करता है। इस प्रकार का रचन मनोवैज्ञानिक सुबोधता की सीमा का उल्लंघन कहीं भी नहीं करता। अनुभूति और उसकी कलात्मक अभिव्यंजना के रूप में वह जो भी ग्रहण करता है उसका सम्बन्ध सुबोधता से है। स्वयं आधारिक अनुभूतियों में यद्यपि वे सयुक्तिक नहीं होतीं, कोई वैचित्र्य नहीं है, वरन वे तो अनादि काल

१. 'आधुनिक समीक्षा' (डा० देवराज), पृष्ठ ७६।

से परिचित रही हैं, प्रेम और उसका प्रारब्ध-प्रेरित अन्त, भाग्य-चक्र से मनुष्य की पराधीनता, सुन्दर और भीषण प्रकृति, सभी चिरन्तन हैं।"[1]

साहित्य और यथार्थता

साहित्य में यथार्थता की समस्या पर कुछ समय पूर्व बड़े जोर-शोर से विचार प्रकट किये गये थे। परन्तु यह कुछ आश्चर्य की ही बात है कि इस विचार-विमर्श का एक प्रकार से अन्त भी आकस्मिक रूप से हो गया, भले ही उसके फलस्वरूप किन्हीं बातों को निष्कर्ष रूप में ग्रहण किया जा चुका हो, या नहीं। इसका एक कारण सम्भवत: यह भी रहा है कि इस विषय पर जब विद्वान लोग अपने-अपने विचार प्रकट कर चुके, जिन्हें प्रकट करने के लिए वे चिन्तित थे, तो उन्होंने इस दिशा में मौन-धारण को ही उचित समझा हो।

बहुधा साहित्य में इस समस्या को लेकर इस स्थापना के प्रयत्न भी देखे जाते हैं कि, यह आवश्यक नहीं है कि किसी साहित्यकार को अनिवार्य रूप से आदर्श या यथार्थ में से एक को ग्रहण करना ही होता है, और यह भी, कि आदर्श और यथार्थ, दोनों का समान रूप से उसमें आरोप सम्भव है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि उसे वास्तव में आश्रय भी इन दोनों का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि तभी साहित्य को विस्तृत क्षेत्रीय मान्यता मिल सकती है।

जहाँ तक ऊपर की स्थापनाओं का सम्बन्ध है, हम उनके प्रश्न को यहाँ पूर्णत: दरगुजर करना चाहेंगे, क्योंकि जिस सन्दर्भ-विशेष में हम यहाँ बात करना चाहते हैं, उसमें उनका कोई विशेष अर्थ नहीं। समस्या को उसके सही रूप में समझने के लिए यह जान लेना अनुचित न होगा कि वह यथार्थ क्या है, जिसके साहित्य में आरोप पर बल देने की आवाज उठायी जाती है। इसी प्रश्न को दूसरी तरह से यों भी रखा जा सकता है कि वह क्या है जो आदर्श नहीं है; आदर्श और यथार्थ की सीमा-रेखा कहाँ है? हमारा विचार है कि माननीय विकृतियों से मुक्ति-प्राप्ति के लिए किसी कल्पनाजन्य स्वरूप को लक्ष्य-प्राप्ति का केन्द्र मानना ही किसी आदर्श के आरोप का प्रयत्न है। वह एक ऐसी स्थिति होती है, जिस तक प्राप्त होने

१. 'आलोचना' ७ में श्री युंग का निबन्ध, पृष्ठ २५।

का यत्न किया जाता है, और जो अप्राप्य भी कही जा सकती है। उसे एक ऐसी धारणा भी कहा जा सकता हैं, जो मनुष्य के लिए अनुकरण योग्य हो, तथा जिससे उसे प्राप्त करने की प्रेरणा भी मिले।

साहित्य में उस धारणा को यथार्थ कहा जायगा, जो लेखक को उन चरित्रों-परिस्थितियों के चित्रण की प्रेरणा दे, जो युगीन यथार्थता पर आधारित हों। यथार्थ को किस सीमा तक कल्पना के योग की आवश्यकता है, यह भिन्न बात है; मुख्य बात यह है कि कल्पना की सहायता से भी जिस यथार्थ का आरोप होता है, उसे भी इसी के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए। परन्तु उसका लोप तब हो जाता है, जब वह यथार्थ की भाव-भूमि से अलग हटकर किन्हीं अप्राप्य स्थितियों के विषय में गहरी लालसा लिये प्रकट होता है।

यह आवश्यक नहीं है कि यदि साहित्यकार अपने विषयों का चयन यथार्थ से ही करे, तभी उसके दृष्टिकोण को यथार्थवादी कहा जायगा। हम समझते हैं कि यदि साहित्यकार यथार्थ-चेतना या यथार्थ-अनुभूति का सघनता से चित्रण कर सकेगा, तो वह अनिवार्य रूप से सशक्त कृतियों के निर्माण की क्षमता से सम्पन्न होगा, क्योंकि उनके जीवन-सिद्धान्त गहन यथार्थ-चेतना से सम्पन्न होकर ही गहनता प्राप्त कर सकते हैं। कहने का आशय यह है कि यथार्थ की चेतना एक अधिक महत्व वाली वस्तु है।

यथार्थ की चर्चा करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वह केवल सामाजिक कोटि का ही नहीं होता है। उसके अन्य प्रकार भी हो सकते हैं, उदाहरण के लिए मनोवैज्ञानिक यथार्थ, चारित्रिक यथार्थ, आधारिक यथार्थ और वैयक्तिक यथार्थ। ये विविध यथार्थ-प्रकार एक प्रकार के अन्तर्सम्बन्ध से परस्पर बध्य हैं, यद्यपि इन्हें पृथक्-पृथक रूप में भी देखा जाना सम्भव है। जैसा कि हमने अभी कहा है यथार्थ की चेतना अधिक महत्वपूर्ण है और जिस लेखक की यथार्थ-दृष्टि जितनी गहन होगी वह दृष्टिकोण से उतना ही महान् साहित्यकार होगा।

हमने ऊपर कहा है कि जिस यथार्थ में कल्पना का योग होता है, वह भी उसी के अंतर्गत आता है। यह सत्य होते हुए भी वस्तुतः एक शर्त पर निर्भर करता है। वह शर्त होती है कल्पना के यथार्थजन्य होने की। ऐसी स्थिति में वह इस योग्य होती है कि यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ का भ्रम वह उपजा सके। अन्ततः यह

इन दोनों के पारस्परिक सन्तुलन और संगति पर ही निर्भर करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मर्यादित रूप में, कल्पना के यथार्थनुकारी होने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं।

यथार्थवाद किसी आदर्शात्मक लक्ष्य का समर्थक न होकर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्यक्ष जगत् से सम्बन्ध रखता है, जो उसके सामने अस्तित्व रखता है और गतिमान है। रूढ़ि अथवा परम्परा से विद्रोह करनेवाला साहित्य यथार्थोन्मुख होता है और यथार्थ की प्रवृत्ति का परिचायक भी। भ्रमों का जन्म उन परिस्थितियों में होता है, जब यथार्थ के नाम पर साहित्य में विकृत, हेय तथा असंगति के लक्षणों की बहुलता दिखायी देती है। ये प्रवृत्तियाँ निम्न रुचि के पाठकों में ही लोकप्रिय होती हैं तथा ऐसे वातावरण की उद्भावना करती हैं, जो अस्वस्थ साहित्य के सृजन की भावनाओं में वृद्धि करता है।

आधुनिक युग के साहित्य में भी यथार्थारोपण अधिक हुआ है। इसका एक कारण यह भी है कि उसने जन-भावना का आश्रय लेकर उसके अधिक से अधिक निकट आने का निरन्तर प्रयत्न किया। लोक-गाथाओं का अध्ययन करने पर इस बात का पता चलता है कि इनकी शक्ति उनके चित्रण की यथार्थता में ही निहित है। भावनाओं की यथार्थता, अनुभूति की यथार्थ तीव्रता, जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति तथा कल्पना की उचित संगति इनकी महत्ता का मुख्य कारण है।

वास्तव में यथार्थ वही है, जो प्रत्यक्ष रूप में अस्तित्व रखता है। यों जहाँ तक उसके विविध पक्षों का प्रश्न है, वे अनेक हो सकते हैं और उन पर विवाद करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यह सत्य है कि समाज का यथार्थ चित्रण ही सामाजिक जीवन को पूर्णता से अभिव्यक्ति देने की सामर्थ्य रखता है। अधिक से अधिक, यथार्थ चित्रण की दृष्टि से यदि लेखक के सामने कोई शर्त रखी जा सकती है, तो वह है निष्पक्षता और ईमानदारी की। ऐसा होने पर सामाजिक यथार्थ की सम्भावनाएँ स्वभावत: ही बढ़ जाती हैं।

इस समय साहित्य में यथार्थता की समस्या जितनी महत्वपूर्ण है, उतनी ही यथार्थवादी दृष्टिकोण के परिष्कार की समस्या भी; क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि आज यथार्थवादी ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियाँ एक सीमा को पहुँच गयी हैं, जो इस विचारधारा के भावी विकास की दृष्टि से गतिरोध की स्थिति उत्पन्न करनेवाला एक लक्षण है।

इस समय, हमारे विचार से इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि युग की वास्तविकता के सन्दर्भ में, साहित्य में यथार्थ के आरोप के प्रयत्न हों, जो युगीन चेतना का सही प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखता हो, विविध क्षेत्रीय कुण्ठाओं एवं रूढ़ियों का नहीं। जिस युगीन वास्तविकता की बात हमने ऊपर कही है, उसकी उपेक्षा करके किसी भी स्थायी कोटि के साहित्य का निर्माण सम्भव नहीं। अत: साहित्यकार के लिए इसके सम्बन्ध-निर्धारण की बात आज बहुत महत्व रखती है।

युगीन यथार्थ, इस दृष्टि से, साहित्य की महानता की एक कसौटी है और इस दृष्टि से उसके प्रति उदासीनता का अर्थ, स्वत: ही महान् साहित्य के निर्माण से विमुख होना और कोरी कर्तव्यवादिता का ढिंढोरा पीटना है। साहित्यिक विकास के प्रत्येक युग में यह देखा जा सकता है कि सदैव युगीन यथार्थ साहित्य में प्रतिबिंबित हुआ है, जिससे न केवल उसे स्थायित्व मिला है, वरन् गौरव भी।

जहाँ तक यथार्थवाद की व्याख्या-विश्लेषण का सम्बन्ध है, हम यह संकेत करना चाहेंगे कि उसका एक विशिष्ट और स्वतन्त्र दर्शन है। परन्तु हम जिस बात पर गौरव देना चाहते हैं, वह है साहित्य में यथार्थ के मर्यादा-निर्धारण की समस्या, जिसके सन्दर्भ में यह तथ्य भी सामने रखना होगा कि युगीन यथार्थ अब नये धरातल पर प्रतिष्ठित हो रहा है।

बहुधा ऐसा समझा जाता है कि यदि साहित्य में यथार्थ भावनाओं को ही अभिव्यक्ति देने की चेष्टा होती है, तो इतने मात्र से उसका महत्व बढ़ जाता है और अन्य कला-तत्व गौण हो जाते हैं। यह एक भ्रामक धारणा है। तथ्य यह है कि यथार्थ भावनाओं की वही अभिव्यक्ति सशक्त रूप में सामने आयेगी, जो कलात्मकता के तत्वों से पूर्ण हो। यथार्थवाद की कोई ऐसी मुहर नहीं है, जिसे लगा देने पर श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ सभी प्रकार का साहित्य महान् की कोटि में आ जाय। उसकी सम्भावनाएँ तभी हो सकती हैं, जब साहित्यकार को जीवन की मार्मिक छवियों की अनुभूति उनके तीखे रूप में हुई हो एवं उसने मानवीय सत्यों का साक्षात्कार भी किया हो। मानवीय जीवन एवं उसके विभिन्न पक्षों का गहन तथा विस्तृत क्षेत्रीय अध्ययन यथार्थ जीवन की सम्पूर्णता से अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

साहित्य के दायित्व

आज के युग में मानव-जीवन की जटिलताएँ बहुत बढ़ गयी हैं। साहित्य का विषय चूँकि मानव-जीवन ही है, अतः उसका दायित्व भी इन परिस्थितियों में बढ़ जाता है। साहित्य में मानव-जीवन की प्रधान समस्याओं को उठाया जाता है, और विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न चरित्रों की सम्भावनाएँ दिखाई जाती हैं। आज का मनुष्य-जीवन विविध समस्याओं से इस प्रकार घिरा हुआ है कि एक साहित्यकार उससे विमुख नहीं हो सकता। वास्तव में आज साहित्य एक वास्तविक वस्तु बन गया है और निरन्तर जीवन के निकट होता जा रहा है। अतः उसमें अब कल्पना की उड़ानें भरना साहित्यकार उचित नहीं समझता। वह यह अनुभव करता है कि यदि वह ऐसे साहित्य का सर्जन न कर सका, जिसका योग मानवता के समुचित विकास में हो, तो उसका कार्य निष्प्रयोजन ही रहेगा। इसीलिए आज वह जीवन की यथार्थता से कतराकर नहीं भागता और न ही संघर्षों से न जूझकर मुँह मोड़ना चाहता है। और यह एक महत्वपूर्ण बात है कि किसी भी देश या जाति के सांस्कृतिक या बौद्धिक स्तर का दायित्व अंततोगत्वा वहाँ के साहित्य-कला पर ही समझा जाता है। इससे स्पष्ट है कि आज साहित्य का उद्देश्य केवल पाठक वर्ग का मनोरंजन करना ही नहीं है, वरन् विश्व के सांस्कृतिक आंदोलनों में भी उसका महत्वपूर्ण योग रहता है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'इसीलिए साहित्यकार आज केवल कल्पना विलासी बनकर नहीं रह सकता। शताब्दियों का दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम साहित्य की सृष्टि करना ही सबसे बड़ी बात नहीं है। सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी परमावश्यक है जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके। साहित्यिक सभाएँ यह कार्य कर सकती हैं। वे सम्पूर्ण जन-समाज को उत्तम साहित्य सुनाने का माध्यम बन सकती हैं। जिन देशों में शिक्षा की मात्रा बहुत कम है, उनके साहित्यिकों की अपेक्षा यहाँ के साहित्यिकों की जिम्मेदारी कहीं अधिक है।'[१]

१. 'अशोक के फूल' (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ १६७।

साहित्य, काव्य और कला

साहित्य और काव्य में कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है। सामान्य रूप से विविध काव्यों को साहित्य के अन्तर्गत ही रखा जाता है। संस्कृत में साहित्य और काव्य को प्राय: समान अर्थों में प्रयुक्त किया गया है।[1] भर्तृहरि ने साहित्य का शब्द काव्य के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है।[2] राजशेखर के समय में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के अर्थ में भी किया गया था।[3] संस्कृत में काव्य के अन्तर्गत गद्य-काव्य, पद्य-काव्य और चम्पू काव्य को रखा जाता है। परन्तु वहाँ इस धारणा का आधार 'काव्य' शब्द का व्यापक अर्थों में प्रयोग है। एक साहित्यकार अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए या तो गद्य का आश्रय लेता है या पद्य का। कभी-कभी वह इन दोनों के मिश्रित रूप को भी प्रयुक्त करता है। सामान्यत: साहित्यिक अभिव्यक्ति के ये तीन माध्यम ही माने जाते हैं, जिनके आधार पर ही ऊपर का वर्गीकरण किया गया है। परन्तु आधुनिक युग में इन शब्दों का प्रयोग इतने व्यापक अर्थों में नहीं किया जाता। इस युग के अनेक आलोचकों ने विविध धारणाओं एवं मान्यताओं के आधार पर अपने साहित्यिक सिद्धांतों का प्रतिपादन-विवेचन किया है तथा इन विषयों को विविध निर्मित-निर्धारित सीमाओं में बाँधने की चेष्टा की है।

भारतीय काव्य-शास्त्रियों और समीक्षकों की धारणाएँ काव्य की परिभाषा और स्वरूप के विषय में समान नहीं हैं। प्राचीन और आधुनिक विद्वान भी इस सम्बन्ध में मत-वैभिन्न्य रखते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य की परिभाषा के प्रश्न को काव्य की आत्मा से सम्बद्ध करके उस पर अपने-अपने विचार प्रकट

१. 'काव्य प्रभाकर', पृष्ठ ६५५।
२. 'साहित्य संगीत कला विहीना साक्षात्पशु: पुच्छ विषाण हीना:।
तृणन्नखादन्त पिजीव मानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम्।
३. 'अलंकार पीयूष', उत्तरार्द्ध, पृष्ठ ९।

किये हैं। भरत मुनि[१] तथा विश्वनाथ[२] ने रस को, दण्डी[३] तथा भामह[४] ने अलंकार को, वामन[५] ने रीति को, कुंतल[६] ने वक्रोक्ति को तथा आनन्दवर्द्धनाचार्य[७] ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है।[८]

हिन्दी के विद्वानों ने भी लगभग इसी प्रकार से उसे परिभाषित किया है, क्योंकि वे संस्कृत साहित्य के प्रभाव से अपने आपको मुक्त न रख सके। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

'सुरम्यरूपे ! रसराशिरंजिते ! विचित्र वर्णाभरणे ! कहाँ गई ?
अलौकिकानि-उविधायिनी ! महाकवीन्द्रकान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?
सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे ?
शरीर तेरा शब्द मात्र है, नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही।'[९]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य के अन्तर्गत उस सारे वाङ्मय को रखा है, जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष, अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो या उसकी विचारात्मक समीक्षा हो। कविता उनके विचार से जीवन की अभिव्यक्ति है।[१०] उन्होंने उसे हृदय की मुक्तावस्था का प्रकाशन माना है।[११] डा० श्यामसुन्दर दास ने कविता के अन्तर्गत केवल पद्य को ही माना है। उन्होंने लिखा है—

१. 'नाट्य-शास्त्र' (भरत मुनि)।
२. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं।'
३. 'साहित्य दर्पण' की भूमिका।
४. भामह का काव्यालंकार (शैलताताचार्य शिरोमणि द्वारा सम्पादित।)
५. 'काव्यालंकार सूत्र'।
६. 'शब्दोत्रिविक्षतार्थैक वाचकोन्मेषु सत्स्वपि।
उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः ॥
अर्थः सहृदयाल्हादकारी स्वस्पन्द सुन्दरः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गी भणितिरुच्यते ॥'
७. 'ध्वन्यालोकः।'
८. 'History of Sanskrit Poetics, II (Dr. S. K. Dey) pp. 183.
९. 'द्विवेदी काव्य माला', पृष्ठ २९६।
१०. 'काव्य में रहस्यवाद' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ ११।
११. 'चिन्तामणि' भाग १ (" "), पृष्ठ १९१।

'यद्यपि गद्य के ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो अलंकार और कल्पना के चमत्कार में उत्कृष्ट पद से कम नहीं हैं और पद्य के भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनकी सरल निरलंकार स्वाभाविकता गद्यवत् भासित होती है, तथापि पद्य में संगीत-कला की छाया अधिक स्पष्ट और प्रभावशालिनी देख पड़ती है, कल्पना का अधिक अनिवार्य रूप देख पड़ता है और उसकी रसमयता भी अधिक बलवती समझ पड़ती है।'[1]

इस विषय पर आधुनिक हिन्दी आलोचकों के सिद्धान्त कतिपय आधुनिक कलात्मक-साहित्यिक विचारधाराओं पर आधारित हैं। छायावादी कवियों में प्रसाद, महादेवी तथा पन्त आदि ने इस विषय पर अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। प्रसाद ने काव्य को सत्य की अनुभूति माना है। उन्होंने लिखा है, 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञानधारा है।'[2] उनका यह विचार आध्यात्मिक धारणा पर आधारित है, जिसे उन्होंने यों स्पष्ट किया है—'विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया, जो वाङ्मय के रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेम और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।'[3]

महादेवी वर्मा ने काव्य का महत्व साहित्यांगों में सर्वोपरि माना है, क्योंकि वह हमें सत्य की झाँकी दिखाता है। उन्होंने लिखा है—'वास्तव में जीवन में कविता का वही महत्व है, जो कठोर भित्तियों से घिरे हुए कक्ष के वायुमण्डल को अनायास ही बाहर के उन्मुक्त वायुमण्डल से मिला देने वाले वातायन को मिला है। जिस प्रकार वह प्रत्युत हमें उस सीमा-रेखा पर खड़े होकर क्षितिज तक दृष्टि प्रसार की सुविधा देने के लिए है, उसी प्रकार कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य की अपनी परिधि में बाँधती है। साहित्य के अन्य अंग भी ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु न उनमें

१. 'साहित्यालोचन' (डा० श्यामसुन्दर दास), पृष्ठ २७।
२. 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' (जयशंकर 'प्रसाद'), पृष्ठ १८।
३. वही, पृष्ठ १२।

सामंजस्य की खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है, जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेकरूपता या रेखाओं की विषमता के सामंजस्य पर स्थित हैं।'[1]

इस विषय पर सुमित्रानन्दन पंत की धारणा विकासवादी मानी जाती है। सौन्दर्य और कल्याण विषयक भावनाओं का महत्व उनके विचार के अनुसार काव्य में अधिक है। उन्होंने लिखा है—'सत्य शिव में स्वयं निहित है। जिस प्रकार फूल में रूप-रंग हैं, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा ही होती है, उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवं में सत्य के द्वारा ही होती है।'[2]

पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का विचार है कि चूँकि काव्य एक सूक्ष्म कला है, अतः उसमें पूर्ण और गहन चित्रों का समावेश होना चाहिए। वह कविता में उपदेशात्मकता के पक्ष में नहीं हैं। उन्होंने लिखा है—'सूक्तियाँ, उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं, केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ।'[3]

प्रगतिवादी समीक्षकों का दृष्टिकोण, इस विषय में, उपर्युक्त साहित्यकारों से भिन्न है। उनके अनुसार काव्य या साहित्य को जन-जीवन के निकट होना चाहिए तथा जीवनोपयोगी और यथार्थ भावनाओं के चित्रण की उसमें प्रधानता होनी चाहिए। वे काव्य में काल्पनिक और आध्यात्मिक भावों के स्थान पर स्वाभाविक और यथार्थवादी भावनाओं के चित्रण पर बल देते हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' की काव्य-संबंधी धारणा यथार्थवादी विचारधारा पर आधारित है। उन्होंने अपने प्रारम्भिक काव्य-संग्रह 'रसवंती' की भूमिका में लिखा है—'सम्भव है, अपने अर्थ में मुझे प्रगतिवादी समझने वाले कुछ पाठक 'रसवंती' से निराश भी हों। उनके आश्वासन के लिए मैं निवेदन करूँगा कि दिन भर सूर्य के ताप में जलने वाले पहाड़ के हृदय में भी चाँदनी की शीतलता को पाकर, कभी-कभी बाँसुरी का-सा कोई

१. आधुनिक कवि', भाग १ (महादेवी वर्मा), भूमिका, पृष्ठ ६।
२. 'आधुनिक कवि', भाग २ (सुमित्रानन्दन पन्त), भूमिका, पृष्ठ ६।
३. 'प्रबन्ध प्रतिमा' ('निराला' का निबन्ध), पृष्ठ २८४।

अस्पष्ट स्वर गूँजने लगता है, जो पत्थर की छाती फोड़कर किसी जलधारा के बह जाने की व्याकुलता का नाद है।.......इसके सिवा प्रगति का जो अर्थ मैं समझ सका हूँ वह साम्यवाद नहीं, बल्कि नवीनता का पर्याय है और उसके दायरे में उन सभी लेखकों का स्थान है जो चर्वित-चर्वण, पुरातन-विजृम्भन और गतानुगतिकता के खिलाफ हैं, जो अनुकरणशील नहीं कहे जा सकते। प्रगति का प्रतिलोम युग-विमुखता नहीं, बल्कि गति-विमुखता अथवा गति है।'[1]

काव्य और कला के सम्बन्ध पर भी आधुनिक युग के विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने काव्य को कला के अंतर्गत मानने का विरोध किया है।[2] उनकी धारणा है कि साहित्य के विवेचन के समय भारतीय रुचि-भेद को ध्यान में रखना चाहिए। वह इस विषय में भारतीय संस्कृति और तदनुकूल सौन्दर्यानुभूति की खोज भी अप्रासंगिक न मानकर आवश्यक मानते हैं। उन्होंने लिखा है—'संगीत-कला और कविता अमूर्त्त कलाएँ हैं। संगीत-कला नादात्मक है और कविता उससे उच्चकोटि की अमूर्त्त-कला है। काव्य-कला को अमूर्त्त मानने में जो मनोवृत्ति दिखलायी देती है वह महत्व उसकी परम्परा के कारण है। यों तो साहित्य-कला उन्हीं तर्कों के आधार पर मूर्त्त भी मानी जा सकती है, क्योंकि साहित्य-कला अपनी वर्णमालाओं के द्वारा प्रत्यक्ष मूर्तिमती है। वर्ण-मातृका की विशद् कल्पना तन्त्र-शास्त्रों में बहुत विस्तृत रूप से की गयी है। अ से आरम्भ होकर ह तक के ज्ञान का प्रतीक अहं है। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, जितने ज्ञान हैं, अहं के—आत्मा के हैं। वे सब वर्णमाला के भीतर से ही प्रकट होते हैं। वर्णमालाओं के संबंध में अनेक प्राचीन देशों की आरम्भिक लिपियों से यह प्रमाणित है कि वह वास्तव के चित्र-लिपि है। तब तो यह कहना भ्रम होगा कि चित्र-कला और वाङ्मय भिन्न-भिन्न वर्ग की वस्तुएँ हैं। इसलिए अन्य सूक्ष्म-ताओं और विशेषताओं का निदर्शन न करके केवल मूर्त्त और अमूर्त्त के भेद से साहित्य-कला की महत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।'[3]

१. 'रसवन्ती' (रामधारी सिंह 'दिनकर') भूमिका, पृष्ठ २।
२. 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (जयशंकर 'प्रसाद'), पृष्ठ २८।
३. वही, पृष्ठ २९।

श्रीमती महादेवी वर्मा के विचार से कला का अर्थ चित्रकला के रूप में अधिक समझा जाता है। उनका विचार है कि कलाकार का स्थान विलक्षण नहीं रहता है, बल्कि एक पथ-प्रदर्शक की भाँति रहता है, क्योंकि वह हमारे भावों से परिचित और इसलिए परिचित-सा होता है। उन्होंने लिखा है—'कवि, कलाकार, साहित्यकार, सब समष्टिगत विशेषताओं को नव-नव रूपों में साकार करने के लिये ही उससे कुछ पृथक् खड़े जान पड़ते हैं, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता में साधारण न बना सकें तो आश्चर्य की वस्तु मात्र रह जायँगे। महान् से महान् कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगाकर, एक परिचय-भरा अपनापन ही जगायेगा, क्योंकि वह धूमकेतु सा आकस्मिक और विचित्र नहीं, किन्तु ध्रुव सा निश्चित और परिचित रहकर ही हमें मार्ग दिखाने में समर्थ है।'[१]

श्री सूर्यकान्त 'निराला' की धारणा है कि कला की विवेचना करते समय उसके सभी रूपों पर विचार करना आवश्यक है, अन्यथा वह पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हो पायगी। उन्होंने बताया है कि विभिन्न अनुभूतियों के सम्मिश्रण द्वारा जो अनुभूति उत्पन्न होगी, वह उनसे अलग - अलग प्रकार से भिन्न होगी। वह उसी से काव्य के सौंदर्य की तुलना करते हैं। उन्होंने लिखा है—'कला केवल वर्ण, छन्द, अनुप्रास, रस , अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किंतु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है। ....जैसे केवल बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती, न अंकुर से, न डाल से, न पौदे से, जड़ से लेकर तना, डाल, पल्लव और फूल के रंग, रेणु, गन्ध तक, फूल की पूरी कला के लिए जरूरी है वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण।'[२] सुमित्रानन्दन पन्त का विचार है कि कला को स्वतन्त्र होना चाहिए और उस पर अधिक प्रतिबन्ध नहीं होने चाहिए। भाषा, छन्द आदि के बन्धन उनके विचार में निरर्थक हैं।[३]

रामधारी सिंह 'दिनकर' का इस विषय में यह मत है कि काव्य का क्षेत्र केवल आलोचकों अथवा रसज्ञों तक ही सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसका

१. 'दीपशिखा' (महादेवी वर्मा), भूमिका, पृष्ठ १५।
२. 'प्रबन्ध प्रतिमा', पृष्ठ २७२।
३. 'पल्लव' (सुमित्रानन्दन पन्त), भूमिका, पृष्ठ २३।

आधार लोकप्रियता होनी चाहिए। उसमें प्रभावात्मकता पर अधिक गौरव देना चाहिए और सूक्ष्मता अथवा कलात्मकता पर कम। उन्होंने लिखा है—'जो बात मौलिकता के विषय में है, वही कला की सूक्ष्मता के विषय में भी। कला की विशेषता काव्य-द्रव्य को भली भाँति प्रकट करने में है और जहाँ द्रव्य है वहाँ शैली की भी शोभा है। ....इस विषय पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कला की प्रधानता देनेवाली कविता एक विशेष प्रकार की है।'[१]

पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी के अनुसार, 'कवि विषय का मोलतोल नहीं कूतता, वह उसी समय लेखनी उठाता है, जब अपनी वेदना का लिखने का भार उससे नहीं सँभलता।'[२] सुमित्रानन्दन पन्त के विचार से 'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप हमारे अन्तरमय प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छंद ही में बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति का प्रत्येक कार्य एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड संगीत में होता है।'[3] डा० रामकुमार वर्मा के विचार के अनुसार 'आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक में प्रकाशित हो उठना ही कविता है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौंदर्य निखर उठता है, उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है।'[४] कविवर 'बच्चन' के अनुसार कवि का हृदय केवल कवि का हृदय नहीं है। उसकी हृदय-गोद में त्रिकाल और त्रिभुवन सोते रहते हैं, सृष्टि दुधमुँही बच्ची के समान क्रीड़ा करती है और प्रलय नटखट बालक के समान उत्पात मचाता है। उसका हृदयांगण गगन के गान, समीरण के हास और सागर के रोदन से प्रतिध्वनित हुआ करता है। उसके हृदय-मन्दिर में जन्म-जीवन-मरण अविरल गति से नृत्य किया करते हैं।'[५]

१. 'रसवंती', (रामधारी सिंह 'दिनकर'), भूमिका।
२. 'साहित्य देवता', (माखन लाल चतुर्वेदी), पृष्ठ १।
३. 'पल्लव' (सुमित्रानन्दन पन्त), भूमिका, पृष्ठ २४।
४. 'आधुनिक कवि' (डा० रामकुमार वर्मा), भूमिका, पृष्ठ ५।
५. 'मधुशाला' (बच्चन), सम्बोधन, पृष्ठ ५।

पाश्चात्य विचारकों में, क्रोचे ने यह प्रतिपादित किया है कि कलाकार की भावना की सच्चाई और अनुभूति की गहनता मुख्य हैं।[१] राल्फ फाक्स ने लिखा है कि जिस कला का सम्बन्ध इन्द्रिय-जन्य वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से नहीं होता, वह कला की छाया तक नहीं होती।[२]

गद्य-काव्य और उसके भेद

कथा—साहित्य—उपन्यास

उपन्यास को श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत रखा जाता है। मनुष्य की रुचि कथा-साहित्य में प्रारम्भ से ही रही है। प्राचीन काल में राजा-रानी की कहानियों का बहुत प्रचार रहा होगा और साथ ही उस समय इस साहित्यांग की लोकप्रियता के मूल कारणों में उसकी उत्सुकता को प्रवृत्ति भी रही होगी। वास्तव में कथा-साहित्य में इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप दीर्घता आती है और उसका अन्त तब तक नहीं होता, जब तक पाठक की जिज्ञासा उसमें बनी रहती है। आधुनिक हिंदी गद्य का प्रारम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के समय से हुआ। उस समय जो अँग्रेज भारत आते थे, उनके लिए देशी भाषाओं का ज्ञान आवश्यक समझा जाता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि हिंदी भाषा में कुछ ऐसी पुस्तकों की रचना हो, जो सरल गद्य में हों। इस दृष्टि से कथा-कहानी आदि की पुस्तकें ही सरल भाषा में लिखवाना उचित समझा गया। सन् १८०० के लगभग इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इंशाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की।

१. एस्थेटिक्स' (क्रोचे), परिशिष्ट।

२. Art that is not sensuous, that is not concerned with perception of the real world, with sensible objects, is not art at all, not even the shadow of the art. The essence of the creative process is the struggle between the creator and external reality, the urgent demand to master and recreate that reality.' (Novel and the people, pp. 28)

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है प्रारम्भिक युग के कथा-साहित्य के अंतर्गत जो रचनाएँ आती हैं, उनका मुख्य आधार कथानक में विलक्षणता उत्पन्न करके पाठकों के कौतूहल को नष्ट न होने देना था। इनमें एक के बाद एक घटना इस प्रकार तारतम्य में बँधो-सधी उठती चली आती है कि पाठक सदैव उसके आगे की घटना जानने की इच्छा करता है और इन घटनाओं का ताँता कभी नहीं टूटता। और आधुनिक युग में भी इस साहित्यांग का रूप-आकार अवश्य परिवर्तित हो गया है, परन्तु जहाँ तक लम्बे कथानक का प्रश्न है, उसके कारण का सम्बन्ध कथा-साहित्य की इस प्रवृत्ति से अवश्य ही सम्बद्ध होना चाहिए। इस कथन का प्रमाण 'अलिफ लैला', 'तिलिस्म होशरुबा' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' आदि कथा-साहित्य की रचनाएँ हैं।

प्रेमचन्द जी ने बताया है कि संसार के साहित्य में ऐसी बहुत सी कथाएँ मिलती हैं, जिन पर लेखक सहस्रों वर्ष से आख्यायिकाएँ लिखते आये हैं और आगे भी लिखते रहेंगे। भारतीय पौराणिक कथाओं पर ही अनेक रचनाएँ लिखी गयी हैं। उन्होंने लिखा है—'यूरोप में भो यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए विशेष आधार है। 'दो भाइयों की कथा', जिसका पता पहले मिस्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रांस से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गयी है। यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नये कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता जो पुराने कथानकों में पाया जाता है।'[1]

आधुनिक युग को गद्य का युग कहा जाता है। आज गद्य-साहित्य और विशेष रूप से उपन्यास-साहित्य की जितनी अधिक उन्नति संसार की भाषाओं के साहित्य में हो रही है, उतनी अन्य किसी साहित्यांग की नहीं। कुछ समय पूर्व इस भ्रामक धारणा का प्रचलन हुआ था कि उपन्यास की कोई शास्त्रीय मर्यादा नहीं है, परन्तु अब इस भ्रम का निवारण हो चुका है। आधुनिक युग के महान

१. 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रेमचन्द), पृष्ठ ६० ।

उपन्यासों को देखने से इस बात का परिचय मिलता है कि जीवन का कितना सम्पूर्ण और गहन चित्रण उपन्यास में सम्भाव्य है। प्रेमचन्द ने उपन्यास के इसी विषय-विस्तार को उसकी प्रधानता का प्रमुख कारण माना है। उन्होंने लिखा है, 'अगर आपको इतिहास से प्रेम है, तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है, तो आप उपन्यास में महान् दार्शनिक तत्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुंजाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व आदि सभी विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी अंग में नहीं मिल सकता। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यास का विषय-विस्तार ही उपन्यासकार को बेड़ियों में जकड़ देता है। तंग सड़कों पर चलनेवालों के लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचना उतना कठिन नहीं है, जितना एक लम्बे चौड़े मार्ग-हीन मैदान में चलने वालों के लिए।'[1]

'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति

उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी ने 'प्रणयिनी परिणय' के 'उपोद्घात' में लिखा है—'जिस प्रकार साहित्य के प्रधान अंगों में 'नाटक' का प्रचार प्रथम यहाँ ही हुआ था, उसी तरह 'उपन्यास' की सृष्टि भी प्रथम २ यहाँ ही हुई थी यह अयौक्तिक नहीं है परन्तु किसी २ महाशय का यह कथन है कि 'उपन्यास' पूर्व समय में यहाँ प्रचलित नहीं था, वरन् यह अँग्रेजों की देखा-देखी लोगों ने (Novel) नौवेल के स्थान में उपन्यास की कल्पना कर लिया है इत्यादि। परन्तु उन महात्माओं को प्रथम इसकी मीमांसा कर लेनी चाहिए क्योंकि 'उपन्यास' उप-नी, उपसर्ग पूर्वक आस धातु इन शब्दों से बना है यथा (उप) समीप (नी) न्यास (आस) रखना अर्थात् इसकी रचना उत्तरोत्तर आश्चर्य-जनक एवं कुछ छिपी हुई कथा क्रमश: समाप्ति में स्फुटित हो और अमरकार भी 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' अर्थात् वाङ्मुखी वाचा यह अर्थ उपन्यास के तात्पर्य से ही घटता है, इत्यादि प्रमाणों

१. 'साहित्य का उद्देश्य', (प्रेमचन्द), पृष्ठ ६० ।

से उपन्यास भी प्राचीन काल से भारतवर्ष में प्रचलित है और 'दशकुमार चरित्', 'वासवदत्ता', 'श्रीहर्ष चरित्', 'कादम्बरी' आदि उपन्यास इसकी प्राचीनता में जाज्वल्यमान प्रमाण हैं।'[1]

उपन्यास आधुनिक युग की देन है। यद्यपि यह शब्द संस्कृत भाषा का है, किन्तु प्राचीन संस्कृत-साहित्य में इसका प्रयोग उस अर्थ में कभी नहीं हुआ, जिसमें हम आज करते हैं। भारत की कई प्रान्तीय भाषाओं में यह शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। तेलुगु आदि दक्षिण भारत की भाषाओं में यह शब्द हिन्दी के 'व्याख्यान', 'वक्तृता' आदि के अर्थ में प्रचलित है। अमरुक के प्रसिद्ध श्लोक 'निर्यात शन-कैरलीक बचनोपान्यास माला जनय:' में 'उपन्यास' लगभग इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दक्षिणी-भाषाओं में अँग्रेजी 'नावेल' शब्द के लिए एक संस्कृत शब्द 'नवल' बना लिया गया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—'........उपन्यास वस्तुत: ही 'नवल' अर्थात् नया और ताजा साहित्यांग है, परन्तु फिर भी जिस मेधावी ने कथा, आख्यायिका आदि शब्दों को छोड़कर अँग्रेजी 'नावेल' का प्रतिशब्द उपन्यास माना था उसकी सूझ की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। जहाँ उसने इस नये शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया कि यह साहित्यांश पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं से भिन्न जाति का है वहीं इसके शब्दार्थ के द्वारा (उप=निकट, न्यास=रखना) यह भी सूचित किया कि स विशेष साहित्यांश के द्वारा ग्रन्थकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई अभिनव मत रखना चाहता है। इसलिए यद्यपि यह शब्द पुरानी परम्परा के प्रयोग के अनुकूल नहीं पड़ता, तथापि उसका प्रयोग उपन्यास की विशिष्ट प्रकृति के साथ बिल्कुल बेमेल नहीं कहा जा सकता।'[2]

बाबू गुलाबराय ने भी इसी अर्थ को मान्यता दी है। उन्होंने लिखा है कि 'अँग्रेजी शब्द नॉविल (Novel) में, जिसका अर्थ नवीन है, ऊपर की कहानी का तत्व भरा हुआ है। मराठी भाषा में अँग्रेजी शब्द के आधार पर 'नवल कथा' शब्द गढ़ लिया गया है। मराठी में उपन्यास को 'कादम्बरी' भी कहते हैं। यह एक

१. 'प्रणयिनी परिणय' (किशोरीलाल गोस्वामी) उपोद्घात्, पृष्ठ १।
२. 'साहित्य-सन्देश' उपन्यास अंक, अक्टूबर-नवम्बर, १९४०, पृष्ठ ४२।

व्यक्तिवाचक नाम जातिवाचक बनाने का अच्छा उदाहरण है। उपन्यास शब्द प्राचीन नहीं है, कम-से-कम उस अर्थ में, जिसका आजकल व्यवहार होता है। संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में 'उपन्यास' शब्द है। यह नाटक की सन्धियों का एक उपभेद है (प्रतिमुख सन्धि का), इसकी दो प्रकार से व्याख्या की गयी है। 'उपन्यासः प्रसादनम्'[1] अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। दूसरी व्याख्या इस प्रकार है, 'उपपत्ति कृतो ह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः' अर्थात् किसी अर्थ को युक्ति-युक्त रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। सम्भव है कि उपन्यासों में प्रसन्नता देने की शक्ति तथा युक्ति-युक्त रूप में अर्थ को उपस्थित करने की प्रवृत्ति के कारण इस तरह की कथात्मक रचनाओं का नाम उपन्यास पड़ा हो, किन्तु वास्तव में नाटक साहित्य के उपन्यास शब्द और आजकल के उपन्यास में नाम का ही साम्य है। उपन्यास का शब्दार्थ है, सामने रखना।'[2]

उपन्यास की परिभाषा

उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द ने उपन्यास की परिभाषा करते हुए लिखा है— 'उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की रायें नहीं मिलतीं। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है, जिस पर सभी लोग सहमत हों..........मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।'[3]

प्रेमचन्द जी ने उपर्युक्त मत को कई उदाहरणों तथा तर्कों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। जैसे, उन्होंने यह बताया है कि सन्तान के प्रति प्रेम मनुष्य के

१. 'साहित्य-दर्पण', ६-९।
२. 'काव्य के रूप' (गुलाब राय), पृष्ठ १६५।
३. 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रेमचन्द), पृष्ठ ५४।

चरित्र का एक व्यापक गुण है। परन्तु इसके भी अनेक भेद हैं। कोई संतान के लिए अपने प्राण तक दे देता है, कोई सन्तान के लिए अनेक प्रकार के कष्ट झेलता है और कोई धर्म-भीरुता के कारण कुछ भी नहीं कर पाता। कोई दूसरों का अहित करके भी ऐसा करने में सफल हो जाता है, कोई सन्तान को अयोग्य जानकर उसके प्रति उदासीन हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ठीक सन्तान-प्रेम के गुण के समान ही अन्य मानवीय गुणों के भी व्यापक मात्रा-भेद हैं। इसीलिए सफलतापूर्वक चरित्र-चित्रण तभी सम्भव है, जब उनका अध्ययन सूक्ष्म और गहन हो। इसी दृष्टि से उन्होंने उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र माना है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास को हिन्दी-साहित्य के लिए एक नयी वस्तु माना है।[१] उन्होंने लिखा है—'उपन्यास इस युग का बहुत ही लोकप्रिय साहित्य है। शायद ही कोई पढ़ा-लिखा नौजवान इस जमाने में ऐसा मिले जिसने दो-चार उपन्यास न पढ़े हों। यह बहुत मनोरंजक साहित्यांग माना जाने लगा है। आजकल जब किसी पुस्तक को बहुत मनोरंजक पाया जाता है तो प्रायः कह दिया जाता है कि इस पुस्तक में उपन्यास का-सा आनन्द मिल रहा है। किसी-किसी यूरोपियन समालोचक ने उपन्यास का एकमात्र गुण उसकी मनोरंजकता को ही माना है। इस साहित्यांग (उपन्यास) ने मनोरंजन के लिये लिखी जाने वाली कविताओं का ही नहीं, नाटकों का भी रंग फीका कर दिया है; क्योंकि पाँच मील दौड़कर रंगशाला में जाने की अपेक्षा पाँच सौ मील दूर से ऐसी किताब मँगा लेना कहीं आसान हो गया है जो अपना रंगमंच अपने पन्नों में ही लिये हुए हो।'[२]

उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है। उसमें मानव-जीवन और मानव-चरित्र का चित्रण उपस्थित किया जाता है। वह मनुष्य के जीवन और चरित्र की व्याख्या करता है और उनका उद्घाटन करता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने पश्चिमी देशों में भी उपन्यास को आधुनिक युग की देन माना है और उसका

१. 'साहित्य का साथी' (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ ८३।
२. वही, पृष्ठ ८३।

आरम्भ नये युग के आगमन का सूचक माना है।[१] उन्होंने लिखा है—'उपन्यास से आज-कल गद्यात्मक कृति का अर्थ लिया जाता है। पद्यबद्ध उपन्यास नहीं हुआ करते। उपन्यास के विकास से गद्य के विकास का भी सम्बन्ध है। प्राय: वही परिस्थितियाँ गद्य के विकास में सहायक हुई हैं जो उपन्यास के विकास में योग दे रही थीं। यूरोप में गद्य-उपन्यासों के पूर्व कुछ प्रेमाख्यात्मक कविताएँ प्रचलित थीं। उन्हें ही आधुनिक उपन्यास की जननी कहा जा सकता है।'[२]

यूरोपीय विद्वान राल्फ फाक्स ने कहा है कि उपन्यास केवल गद्य में लिखी हुई कथा ही नहीं है। उसने उसे मानव-जीवन का गद्य माना है। फाक्स के विचार से उपन्यास कला का प्रथम गद्य रूप है, जो मानव को समग्रता से समझने तथा अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है। वह कहता है कि उपन्यास गद्य की एक विशिष्ट यथार्थ दृष्टि को प्रस्तुत करता है, जो उसी की पहुँच में है; काव्य, नाटक, सिनेमा, चित्रकला अथवा संगीत द्वारा सम्भव नहीं'[३]। क्रॉस ने अपनी पुस्तक 'डेवलपमेंट आव इंगलिश नावेल' में लिखा है कि सामान्य रूप से उपन्यास उस गद्य-आख्यान को कहा जाता है जो यथार्थ जीवन का यथार्थवादी दृष्टि से अध्ययन करे।[४] क्लारा रीव ने उपन्यास को यथार्थ जीवन का तथा उस काल का चित्र माना है, जिसमें वह लिखा गया है। वह कहता है कि उपन्यास की पूर्णता इसी बात में हैं कि वह हमारी परिचित वस्तुओं और दृश्यों का चित्रण इस ढंग से करे कि वह सामान्य हो जाय और कम से कम उपन्यास पढ़ते समय पाठक को यथार्थ का भ्रम

१. 'आधुनिक साहित्य' (नन्ददुलारे वाजपेयी), पृष्ठ १२३।

२. वही, पृष्ठ १२३।

३. 'The novel is not merely fictional prose, it is the prose of man's life, the first art to attempt to take the whole man and give him expression.' (The Novel and the People, pp. 20)

४. Cross, 'The Development of English Novel', p. 1.

होने लगे और वह उनके ही रंग में रँग जाय।[1] लार्ड डेविड सेसिल ने उपन्यास को एक कला कृति माना है।[2] हेनरी जेम्स के विचार से 'एक उपन्यास, अपनी व्यापक परिभाषा के अनुसार, एक व्यक्तिगत तथा सीधी जीवन की छाप है, जो उसके मूल्य का निर्माण करती तथा उसका महत्व निर्धारित करती है। यह महत्व कम या ज्यादा होगा उस छाप की मात्रा और गुण के अनुसार। किन्तु जब तक उपन्यासकार को अनुभव करने और कहने की स्वतन्त्रता न होगी तब तक ऐसी छाप या प्रभाव उत्पन्न न कर सकेगा।'[3] 'ए ट्रीटाइज़ आन दि नावेल' के लेखक राबर्ट लिडेल ने उपन्यास को नया साहित्यांग माना है।[4] अन्य पश्चात्य विद्वानों ने भी इसकी भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषाएँ की हैं।[5]

१. 'The novel is a picture of real life and manner and of times, in which it is written. The novel gives a familiar relation of such things, as pass every day before our eyes, such as may happen to our friends, or to ourselves, and the perfection of it is to present every scene in so easy and natural a manner and to make them appear so probable as to decieve us into persuasion (at least while we are reading) that all is real until we are affected by joy, or distresses of persons in the story as if they were our own.'

('The progress of Romance.')

२. 'A novel is a work of art in so far as it introduces us into a living world, in some respects resembling the world we live in, but with an individuality of its own.'

(—Lord David Cecil-'Hardy the Novelist')

३. 'आधुनिक साहित्य' (प्रतापनारायण टण्डन), उपन्यास कला पर हेनरी जेम्स के विचार' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ३४।

४. 'The Novel as a literary form has still a flavour of newness'

(—Robert Liddell—'A Treatise on the novel', p. 13)

५. (क) 'A novel is a picture, a portrait than the 'likeness'. Form, design, composition, are to be sought in a novel, as in any other work of art, a novel is the better for possesing them.'

(ख) 'A novel is a picture of life, and life is well known to us, let us first of all 'realize' it, and then, using our taste, let us judge whether it is true, vivid, convincing like life, in fact.'

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव-जीवन का, उसके समग्र रूप में चित्रण प्रस्तुत करनेवाला, आधुनिक युग में सबसे सशक्त साहित्य-माध्यम है। मनुष्य के जीवन की झाँकी और उसके चरित्र की विविध परिस्थितियों में प्रतिक्रियात्मक सम्भावनाओं का जितना सफल उद्घाटन इस साहित्यिक माध्यम द्वारा किया जा सकता है, उतना अन्य साहित्यांगों द्वारा नहीं। आधुनिक युग में उपन्यास की लोक-प्रियता और सर्वाधिक महत्व का मुख्य कारण यही है।

उपन्यास के विषय

उपन्यास के विषय का विस्तार मानव-चरित्र से किसी प्रकार कम नहीं है। उसका सम्बन्ध अपने चरित्रों के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभावों के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकास उपन्यास के मुख्य विषय हैं। ये विचार वाल्टर बेसेंट के हैं, जिनके आधार पर प्रेमचन्द जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उपन्यास की लोक-प्रियता और महत्व का कारण उसका विषय-विस्तार ही है। उन्होंने बताया है कि संसार की प्रत्येक वस्तु उपन्यास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य, मानव-जीवन का हर पहलू जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है, लेकिन इसके साथ ही विषय का महत्व और उसकी गहराई भी उपन्यास के सफल होने में बहुत सहायक होती है। यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्र-नायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य-मात्र में व्यापक हैं। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट लगानी चाहिए, जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर वैसा ही प्रभाव हो। सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागरित कर दे जो उसके पात्रों में हों। पाठक भूल जाय कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है—उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाय।[1]

श्री पदुमलाल पुन्नालाल जी ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए

१. 'साहित्य का उद्देश्य' (प्रेमचन्द), पृष्ठ ७० ।

लिखा है—'हिन्दी में साधारणतः जो उपन्यास प्रकाशित होते हैं, उनमें विषय की महत्ता पर विशेष ध्यान दिया गया है। विषय महत्वपूर्ण होने से ग्रंथ भी महत्व-पूर्ण हो, यह कोई बात नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इससे लेखकों की महत्वाकांक्षा सूचित होती है। हिन्दी के उपन्यासों, नाटकों और आख्यायिकाओं तक का विषय-क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि उसमें एक बार निपुण ग्रंथकारों की बुद्धि भी चक्कर खा जाय। आदर्श ऊँचा रखना बुरा नहीं, परन्तु उस आदर्श को मनुष्य-जीवन में दिखलाने के लिए अनुभूति चाहिए।'[१]

उपन्यास का उद्देश्य

प्रायः यही स्वीकार किया जाता है कि उपन्यास में लेखक जीवन का यथार्थ चित्रण उपस्थित करता है और जो उसके अपने अनुभवों पर आधारित होता है।[२] कुछ समय पहले भारतीय विचारकों की यह धारणा थी, कि उपन्यास के माध्यम से पाठक वर्ग को उपदेश दिए जा सकते हैं, तथा समाज में सुधार हो सकता है। परन्तु उपन्यास के उद्देश्य के विषय में पाश्चात्य दृष्टिकोण इससे भिन्न है।[३] पाश्चात्य विचारक यह अनुभव करते हैं कि उपन्यासकार को जीवन का सृजन करना चाहिए।[४] लेकिन उपन्यास के उद्देश्य के विषय में सर्वाधिक प्रचलित धारणा

१. 'साहित्य-परिचय', प्रकाशक—हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, पृष्ठ १०१।

२. 'The novelist's function we have declared to be the conveying to the world in the best chosen language of the most thorough knowledge of human nature, and the happiest delineation of its varieties,.

३. 'It is his business not to teach or to reform, but to convey the world in the best chosen language the most thorough knowledge of human nature, the happiest delineation of its varieties, and the liveliest effusions of wit and humour.'

४. 'The business of the novelist is to create life, and here is life created indeed; the satisfaction of a clean, coherent form is wanting, and it would be well to have it, but that is all, we have a magnificent novel without it.'

जो हमारे साहित्यकारों में रही है, वह यह है कि उपन्यास केवल मनोरंजन का साधन है, यद्यपि अब इस धारणा में भी परिवर्तन हो रहा है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा है—'इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन है; परन्तु मनोविनोद के लिए अनाचार से पूर्ण उपन्यासों की ही जरूरत है, यह कहना अनुचित है। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं, जिन्हें ऐसी ही बातें पसन्द आती हैं, जो समाज की दृष्टि में हेय हैं। पर अधिकांश लोगों का ऐसी बातों से मनोविनोद होता है जो बिल्कुल स्वच्छ रहती हैं। उपन्यासों में जो यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं, वे केवल समाज के अन्धकारमय भाग को ही प्रकाशित करना चाहते हैं। वे अपने ही आदर्श को सर्वोत्तम समझकर जगत् का धर्म-गुरु बनने का दावा करते हैं। वे धर्म-शास्त्र के आचार्य बनकर समाज का पथ निर्दिष्ट कर देना चाहते हैं।'[1]

उपन्यास और नीति

उपन्यास में नीति के नये मानों के आधार पर नयी मान्यताओं की स्थापना की आवश्यक समझी जा रही है। एक दृष्टि से देखा जाय तो तह ज्ञात होगा कि आज के उपन्यासों की मुख्य समस्या समाज में प्रचलित नैतिक मान्यताओं तथा नीति-सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन करके नीति विषयक नये मूल्यों की स्थापना ही है। मानव-चरित्र की विविध सम्भावनाएँ मानवीय जीवन के छोरों का स्पर्श करती हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और पहलू से उनका सीधा सम्बन्ध होता है। नीति का क्षेत्र भी इन्हीं में एक है। कड़ी नैतिक मर्यादा, जो परम्परा के अनुकूल किन्तु समसामयिक सामाजिक परिस्थितियों के प्रतिकूल पड़ती है, मनुष्य के विचार-जगत् में भीषण झकझोर उत्पन्न करती है। वास्तव में इसका मूल कारण मनुष्य की कर्तव्य-भावना के क्षेत्र में अनिश्चयता का होना है। इसीलिए आधुनिक उपन्यासकार उचित-अनुचित के विवेक के लिये नये मानों को आधार बनाता है और इस प्रकार नीति-परम्परा की स्थापनाओं का विरोध करता है। उपन्यासकार को इस क्षेत्र में दृढ़ता कहा आधार उसका मानव और प्रकृति पर अखण्ड विश्वास कहा जा सकता है। वह यथार्थ के प्रत्येक पहलू को सम्पूर्णता से उभारने का प्रयत्न करता है, क्योंकि उसका

१. 'साहित्य-परिचय', पृष्ठ ९४।

निश्चित विश्वास होता है कि कोई भी प्राकृतिक नियम मानव-जीवन के विरोध में अथवा उसके अहित में नहीं है।

नीति की व्याख्या करते हुए डा० गुलाबराय ने लिखा है—'नीति के व्यापक अर्थ में हमारे जीवन को आगे बढ़ाने वाली जितनी चीज हैं, वे सब उसके अन्तर्गत हैं। मालिक-नौकर, अधिकारी-अधिकृत, अवर्ण-सवर्ण, साहूकार और कर्जदार, पूँजीपति और मजदूर, पिता-पुत्र, पति-पत्नी तथा सास-बहू आदि के जितने सम्बन्ध हैं वे सब नीति के ही अन्तर्गत आते हैं और प्रेमचन्द, कौशिक, एवं सुदर्शन आदि के उपन्यासों में इस मानवता-सम्बन्धी नीति का अच्छा उद्घाटन हुआ है।..........नीति का एक संकुचित अर्थ भी है और उसमें अधिकांशत: यौन-सम्बन्ध आते हैं। लोक-मत में नीति से मतलब प्राय: यौन-नीति से होता है। किसी वस्तु को नैतिक या अनैतिक कहने का आधार या तो शास्त्र होता है, या अन्त:करण या लोकमत। आजकल शास्त्र की बात भी लोकमत में हो अभिव्यक्त हुआ करती है। अन्त:करण का सम्बन्ध अधिकांश में लोकमत से रहता है। लोकमत से यदि कोई वस्तु ऊपर आती है तो वह है बौद्धिक विवेचन।'[1]

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ने नीति को सौन्दर्य आदि से सम्बद्ध करके देखा है। उन्होंने लिखा है—'नैतिक मूल्य, यानी शिवत्व के मूल्य और सौन्दर्य के मूल्य, हैं तो अलग-अलग और अलग-अलग विचार माँगते हैं। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में मानना होगा कि ऐसा हो सकता है कि कोई कला-कृति सुन्दर हो और अशिव हो या कम-से-कम शिव न हो। यह मानकर भी मैं पहली बात कैसे मान सका, उसका कारण यही है कि उच्च कोटि का नैतिक बोध और उच्च कोटि का सौन्दर्य-बोध कम-से-कम कृतिकार में प्राय: साथ चलते हैं। क्यों? इसलिए कि दोनों बोध, मूलत: बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है और दोनों के प्रतिमानों या मानदंडों का आधार। विवेकशील मानव की—विशेषकर उस विवेकशील मानव की, जिसमें सृजनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी है—ग्राहकता दोनों को ही पहचानती है।'[2]

१. 'आलोचना', उपन्यास-विशेषांक, पृ० ४३।
२. 'आलोचना', ९, पृ० १३२।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उपन्यास और नीति का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ होने के साथ ही साथ बहुत जटिल भी है। आज परम्परागत नैतिक मान्यताओं और विधियों के प्रति एक सामान्य विरोध भावना व्याप्त है। इसलिए नये मूल्यों की स्थापना हो रही है। वस्तुतः नीति के मान युग के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इस परिवर्तनशीलता की प्रतिक्रिया में उपन्यासकार का दायित्व अपेक्षाकृत अधिक होता है। वह विवेक-पूर्ण दृष्टि से परिस्थितिजन्य समस्याओं का आलोड़न करके नये मूल्यों की खोज का प्रयत्न करता है।

उपन्यास और इतिहास

कहा जाता है कि इतिहास में सब कुछ यथार्थ होते हुए भी वह असत्य है, और कथा-साहित्य में सब कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है।[1] हैनरी जेम्स के अनुसार 'उपन्यास एक प्रकार का इतिहास है। यह केवल एक सामान्य विवरण है, जो इसके साथ न्याय करता है, और जो हम उपन्यास के संबंध में दे सकते हैं। किंतु इतिहास भी जीवन का प्रतिनिधित्व कर सकता है, करने को स्वतंत्र है। उपन्यासकार का काम ज्यादा कठिन इसलिए है कि उसे जीवन में से घटनाओं का चयन करना पड़ता है। उसका कार्य इसलिए अधिक महत्वपूर्ण भी है। कुछ लोग समझते हैं कि उपन्यास की विषय-वस्तु कल्पित होती है; यह गलत है। कुछ लोग समझते हैं कि कला नैतिकता की विरोधिनी है और मात्र विरोध के लिए है, यह भी अंधविश्वास है; कुछ का विचार है कि उपन्यास में केवल अच्छे पात्रों की सृष्टि होनी चाहिए; कुछ चाहते हैं कि अंत सुखद रहना चाहिए, जैसे भोजन के अंत में मीठी चीज। मुख्य वस्तु यह है कि उपन्यास कलात्मक हो।'[2]

१ इतिहास के आधुनिक आदर्श के विषय में कोहेन ने लिखा है—
'The ideal of an imaginative reconstruction of the past which is scientific in its determinations and artistic in its formulation is the ideal to which the greatest of historians have ever aspired.'—(Cohen—'The meaning of Human History.')

२. 'आधुनिक साहित्य' (प्रतापनारायण टण्डन), 'उपन्यास—कला पर हैनरी जेम्स के विचार' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ३४।

प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार डा० रांगेय रांघव ने अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'मुर्दों' का टीला' की भूमिका में इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—'मिश्र और एलाम, सुमेरु और मोहेंजोदड़ो के दार्शनिक तत्वों की झलक देने का मैंने प्रयत्न किया है। उसमें मैंने विशेष ध्यान रखा है कि उस काल के अनुसार ही उस सबका वर्णन किया जाय।..........आजकल हिंदी में ऐसे बहुत-से उपन्यास निकल रहे हैं जिनमें अद्भुत बातें साबित कर दी जाती हैं, ऐसे अनेक उदाहरण हैं। खेद है आपको यहाँ 'दास' दासों की-सी बात करता मिलेगा। उसकी परिस्थिति प्रकट है। वह उस काल के दार्शनिकों की-सी शिक्षित बहस नहीं कर सकता, न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है, न द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक व्याख्या ही। मैं समझता हूँ इतिहास को इतिहास की सफल झलक करके देना ठीक है, न कि अपने आपको पात्र बनाकर किये-कराये पर पानी फेर देना।'[1]

ऐतिहासिक तथ्यों पर उपन्यास लिखते समय कल्पना के प्रवाह में उनकी कहाँ तक उपेक्षा करना उचित है, इस संबंध में श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा है—'सभी भाषाओं में ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास लिखे जाते हैं। ऐतिहासिक नाटकों और उपन्यासों की विशेषता यह है कि उनके पात्र ऐतिहासिक होते हैं, कल्पित नहीं। अब प्रश्न यह है कि ऐसे ग्रंथों के लेखक अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में इतिहास का अनुकरण करते हैं या नहीं। क्या उन्हें अधिकार है कि वे किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को किसी अन्य रूप में प्रदर्शित कर सकें ?'

ऐतिहासिक पात्रों और औपन्यासिक पात्रों में बहुत भेद होता है। बख्शी जी के अनुसार इतिहास में पात्र लेखक की सृष्टि नहीं हैं परन्तु उपन्यास में सभी पात्र लेखक की उपज हैं। इसका फल यह होता है कि इतिहास के एक ही पात्र को हम भिन्न-भिन्न उपन्यासों में भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं। यह सम्भव है कि किसी उपन्यास में कोई पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति से बहुत कुछ मिलता हो, पर दोनों एक कभी नहीं हुए हैं। इसीलिए एक विद्वान ने कहा है कि श्रेष्ठ ऐतिहासिक

१. 'साहित्य परिचय' (प्रकाशक-हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, कार्यालय, बम्बई), पृष्ठ ९२।

उपन्यासों से भी इतिहास का काम नहीं लिया जा सकता। ऐतिहासिक घटनाओं का अनुकरण उनमें भले ही किया जाय, परंतु वे ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं।''[1]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उपन्यास और इतिहास में इस दृष्टि से पूर्ण समानता है कि दोनों में मानवीय चरित्रों और उनकी विविध क्षेत्रीय चेष्टाओं का अंकन होता है। एक उपन्यासकार चाहे इतिहास से अपने पात्रों का चयन करे और चाहे युगीन समाज से, दोनों ही दशाओं में उसे उनको समुचित रूप देने के लिये कल्पना का आश्रय ग्रहण करना होगा। इतिहास से लिये गये पात्रों में ऐतिहासिक तत्व उतने ही यथार्थांश में मिश्रित होता है जितना समाज से लिये गये पात्रों में सामाजिक तत्व। अन्यथा शेष जो भाग दोनों में बचता है, वह कल्पना-जन्य होता है। वास्तव में वही भाग उपन्यास और इतिहास में न केवल पारस्परिक भेद उत्पन्न करता है, वरन् उपन्यास को इतिहास बनने से बचाता भी है।

उपन्यास और मनोविज्ञान

वैज्ञानिक विश्लेषण से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि आधुनिक उपन्यास में मनोविज्ञान और उसके विकसित सिद्धांतों का बहुलता से आरोप हुआ है। आधुनिक युग के विद्वानों ने ऐसे ही उपन्यासों को श्रेष्ठतर भी प्रमाणित किया है। जे. सी. युंग का विचार है कि मानस-शास्त्री की दृष्टि से सबसे अधिक काम के उपन्यास वे हैं जिनमें लेखक अपने पात्रों के मन का विश्लेषण नहीं देता और इस कारण उनमें व्याख्या और विश्लेषण की गुंजाइश रह जाती है। प्रत्यक्षत: मनोवैज्ञानिक विवरणों से रहित रोचक विवरण मानस-शास्त्री के लिए अधिकतम महत्व के होते हैं। ऐसी कथाएँ कुछ अस्फुट निर्विवाद मनोवैज्ञानिक धारणाओं पर आधारित होती हैं और जिस मात्रा में लेखक उनसे अबोध रहता है, उसी मात्रा में वे अपने को एक जानकार की दृष्टि में शुभ तथा अनिश्चित रूप में प्रकट करती हैं; जब कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास में स्वयं लेखक अपने उपादान को घटना-क्रम

१. 'साहित्य-परिचय' (प्रकाशक - हिन्दी - ग्रन्थ - रत्नाकर कार्यालय, बम्बई), पृ० ९४।

के स्तर से ऊपर उठाकर मनोवैज्ञानिक व्याख्या और प्रकाश के स्तर से ऊपर उठाकर मनोवैज्ञानिक व्याख्या और प्रकाश के स्तर पर लें जाने के लिए उसे नया रूपाकार देने का प्रयत्न करता है। किन्तु यह एक ऐसी क्रिया है जो रचना के मनोवैज्ञानिक महत्व को धुँधला या दृष्टि से ओझल कर डालती है। और इन्हीं उपन्यासों को सामान्य पाठक मनोविज्ञान के रहस्यों से अवगत होने के लिये पढ़ता है जबकि मानस-शास्त्री को दूसरी कोटि के उपन्यास चुनौती देते हैं, क्योंकि वह ही उन्हें एक गहरे अर्थ से समन्वित कर सकता है।"[१]

डा० देवराज उपाध्याय ने मनोवैज्ञानिक उपन्यास उसे माना है, जिसमें घटना या अनुभूति के आत्म-निष्ठ रूप की अभिव्यक्ति पर आग्रह पाया जाय।[२] वास्तव में आधुनिक युग में यह अनुभव किया गया है कि केवल सामान्य विवरण और चरित्र-चित्रण ही एक सफल और श्रेष्ठ उपन्यास के लिए आवश्यक नहीं हैं, उसमें किसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि के आरोप का तत्व भी आवश्यक है, जिसकी उपेक्षा प्राचीन कथा-साहित्य में की गयी है।[3] पाठक भी एक कथाकार से इसकी अपेक्षा करते हैं, क्योंकि वह अपेक्षाकृत यह अधिक जानना चाहते हैं कि किसी परिस्थिति में किसी पात्र विशेष की प्रतिक्रिया कैसी होती है आदि। आधुनिक उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता के आरोपण के महत्व का यही कारण है, और इसीलिए वह आधुनिक कथा-साहित्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता भी बन गयी है।[४]

१. 'आलोचना' ७।

२. 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' (डा० देवराज उपाध्याय), पृष्ठ १४।

३. 'But ordinary exposition, description and characterization are not generally sufficient for the purposes of the serious writer of fiction, especially in our day, or indeed at any time since 1850.....Psychology is that element in the narrative art that concerns the psyche, that is, subjective aspect of experience.'

४. 'One principal way in which the author may intrude himself between the reader and the story is by what we call psychology.'

उपन्यास और कहानी

उपन्यास और कहानी में विषय की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। ये सामान्य रूप से कथा-साहित्य की दो भिन्न शैलियाँ हैं। इन दोनों साहित्यांगों के मूल तत्वों में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। पात्र, कथानक, कथोपकथन, देश-काल तथा शैली—ये पाँच तत्व इन दोनों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं, यद्यपि छठे तत्व—उद्देश्य की उपन्यास में प्रधानता होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी प्रथम पाँच तत्वों को कहानी में अनिवार्य बताया है, और छठे की अनिवार्यता तथा प्रधानता उपन्यास में सिद्ध की है।[1] बाबू गुलाबराय ने कहानी को अपने पुराने रूप में उपन्यास की अग्रजा माना है और नये रूप में उसकी अनुजा। उनके विचार से कहानी को एकतथ्यता ही उसका जीवन-रस है और वही उसे उपन्यास से पृथक् करता है।[2] कुछ लोग इन दोनों साहित्यांगों में शैलीगत वैभिन्न्य भी नहीं स्वीकार करते।[3] यों आधुनिक युग में उपन्यास को ही सर्वाधिक महत्व-पूर्ण साहित्यांग माना जाता है। परंतु डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने कहानी की महत्ता उससे अधिक प्रतिपादित की है।[4] वास्तव में, कहानी और उपन्यास का सबसे बड़ा भेद इनके रूप-आकार-पक्ष से संबंध रखता है। उपन्यास का क्षेत्र बहुत व्यापक है, जिसमें मानव-जीवन का समग्रता से चित्रण किया जा सकता है किंतु कहानी की परिधि छोटी होती है और उसका क्षेत्र-विस्तार भी उतना नहीं हो सकता। उपन्यास में मानव-समाज की जितनी गहन व्याख्या सम्भव है, उतनी कहानी में नहीं। जीवन-चित्रण, चरित्र-विवेचन तथा घटना-संचय की दृष्टि से भी उपन्यास का महत्व कहानी से अधिक है, क्योंकि जहाँ उपन्यास में जीवन के विविध पक्षों का गहन और विस्तृत चित्र उपस्थित किया जा सकता है, वहाँ कहानी में अधिक से अधिक उसके किसी एक पक्ष की ही झाँकी प्रस्तुत की जा सकती है; जहाँ

१. 'साहित्य का साथी' (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृ० २९।

२. 'काव्य के रूप' (डा० गुलाबराय), पृ० २१७।

३. 'उपन्यास सिद्धान्त' (श्री श्यामू सन्यासी), पृ० ५।

४. 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास' (डा० लक्ष्मीनारायण लाल), पृ० ३५६।

उपन्यास में अनेक चरित्रों की जटिलताओं, सूक्ष्मताओं तथा अन्य विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया जा सकता है, वहाँ कहानी में एक या दो चरित्रों का ही; और, जहाँ उपन्यास में अनेक बड़ी-बड़ी घटनाओं का संचयन किया जा सकता है, वहाँ कहानी में एक ही प्रधान घटना को प्रस्तुत करना सम्भव है।

उपन्यास और नाटक

उपन्यास की गणना श्रव्य काव्य के अन्तर्गत की जाती है तथा नाटक की दृश्य काव्य के अन्तर्गत। उपन्यास में रूप-आकार सम्बन्धी कोई विशेष या निश्चित प्रतिबन्ध नहीं होता। इसके विपरीत नाटक में रंगमंच की सीमाओं को ध्यान में रखना पड़ता है। यही इन दोनों में एक बड़ा भेद है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि नाटक में जो सजीवता या प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है, वह उपन्यास में नहीं आ सकती।[१] इस कथन की सत्यता में संदेह है। वास्तव में उपन्यास में लेखक को किन्हीं प्रतिबन्धों में नहीं बँधना पड़ता। यही कारण है कि वह स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-सृष्टि कर सकता है। उपन्यासकार अपनी कृति में जहाँ एक ओर स्वयं पात्रों के साथ-साथ विचरण करता और कथा-सूत्र को आगे बढ़ाता है, वहाँ दूसरी ओर पात्रों के चरित्र-विकास की गति को भी स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ने देता है। यह सुविधा नाटककार को नहीं रहती, क्योंकि वह जो कुछ भी कहना चाहता है, उसका एक मात्र माध्यम उसके चरित्र ही होते हैं, जिनकी सत्ता और सीमाओं से अलग कुछ भी कहना-करना कठिन होता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि इन दोनों साहित्यांगों के मूल तत्वों में अधिक भिन्नता न होते हुए भी परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण इनमें बड़ा अन्तर आ जाता है।

१. 'And so at first thought, the novel appears to have all the advantages and the play all the limitations involved in their essential difference of function. But one has only to be present at a play, even a third rate play, to become aware of an advantage this form posseses over its rival which more than makes up for all its limitations. Intellectually the novel has all the advantages; emotionally it is the play.'

ई० एम० फार्स्टर ने नाटक तथा उपन्यास में भेद करते हुए लिखा है—'अरस्तू का कथन है कि पात्र हमें गुण देते हैं, किन्तु व्यवहार में हम आह्लादित या विक्षुब्ध ही होते रहते हैं।' हम यह निर्णय कर चुके हैं कि अरस्तू भूलता है और अब हमें उस विरोध के परिणाम का साक्षात करना चाहिए। अरस्तू कहता है कि समस्त मानवीय सौख्य तथा पीड़ा उस अदृश्य जीवन में समाविष्ट रहती है, जिसे हम व्यतीत करते हैं, जिसका उपन्यासकार (अपने चित्रणों से) स्पर्श करता है, यह हम जानते भी हैं। किसी प्रकार अरस्तू को विषय-साम्य नहीं मिला। उसने कुछ उपन्यास पढ़े अवश्य थे, परंतु अधिक नहीं। वह स्वभावतः ही गौणता से विक्षुब्ध-सा था और वास्तव में वह मानवी मस्तिष्क को एक ऐसी परख-नली समझता था जिसमें डालकर उसकी सारी बातों का पर्यवेक्षण हो सके। और जब उसने उपर्युक्त शब्द कहे होंगे तब उसके दिमाग में नाटक रहा होगा, जिसके विषय में वे निस्संदेह सच भी हैं। नाटक में प्रत्येक मानवीय सौख्य या पीड़ा कार्य-रूप लेती है और उसे लेना चाहिए भी, अन्यथा वह अज्ञात ही रह जायगी। बस, नाटक तथा उपन्यास में यही अन्तर है।'[1] एक विदेशी आलोचक के विचार के अनुसार 'उपन्यास और नाटक में प्रमुख भेद यही है कि उपन्यास पढ़ने के लिए होता है और नाटक रंगमंच पर करने के लिए।'[2]

उपन्यास और यथार्थ चित्रण

एक उपन्यासकार मानव के यथार्थ जीवन के आधार पर ही अपनी कृति का निर्माण करता है। इसलिए यह माना जाता है कि उपन्यास में मानव-जीवन का

१. 'आधुनिक साहित्य' (प्रतापनारायण टण्डन), 'उपन्यास के कथानक पर ई० एम० फार्स्टर के विचार' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ३८।

2. 'The essential differences between the novel and the play grow out of the fact that the novel is to be read and the play is to be presented on the stage. In the novel the action is described, in the play it is performed before our eyes. The limitations of stage presentation enormously reduce the amount of action that can be shown in the play.'

यथार्थ और समग्र चित्रण मिलता है। वास्तव में जीवन के गतिशील होने के कारण उपन्यास को भी ऐसे रूप में उनका चित्रण करना पड़ता है, जो स्वयं गतिमान होने *का आभास दे।'[1] यदि ऐसा नहीं हो पाता, तो स्वभावत: ही वह उपन्यास एक अशक्त* कृति बन कर रह जाता है। उपन्यास में किसी एक निर्धारित बिंदु से कथा प्रारम्भ होती है और क्रमशः विकास की ओर अग्रसर होती रहती है। सत्य और यथार्थ घटनाओं का समावेश उपन्यास को प्राणवान् बनाता है। यों यह भी स्वीकार किया जाता है कि उपन्यास में लेखक कल्पना की सहायता भी ले सकता हैं एवं किसी सीमा तक भावात्मकता का भी समावेश कर सकता है। परंतु इनकी अभिव्यक्ति किन्हीं सीमाओं के भीतर ही होनी चाहिए और उनका आनुपातिक भेद इस प्रकार का होना चाहिए कि उनसे मूल कथा की स्वाभाविकता में बाधा न आये तथा यथार्थ का उभार कम न होने पाये। कुछ लोगों का यह अनुभव है कि 'उपन्यासों में सत्य का प्राय: बहिष्कार किया जाता है। औपन्यासिक घटनाएँ कल्पित होती हैं। परंतु ये प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण नहीं कर जातीं। हिंदी के सामाजिक उपन्यासों में मनुष्य के मनुष्यत्व का विकास प्रदर्शित नहीं किया जाता। उपन्यास-लेखक अपनी इच्छा के अनुकूल ही अपने पात्रों को कठपुतलियों के समान नचाया करते हैं और वे अपने पाठकों से यही आशा करते हैं कि पाठक चुपचाप उनके पात्रों का नृत्य-कौशल देखा करें। इससे उपन्यास में मिथ्या को प्रश्रय मिलता है। हिंदी के उपन्यासों के पात्र सह्य और असह्य सभी प्रकार के कष्ट सह सकते हैं। संसार में सज्जनों पर विधाता की सदैव अनुकूल दृष्टि नहीं रहती। पर इन पात्रों के भाग्य-विधाता उनकी स्थिति को अनुकूल ही कर देते हैं।'[2]

१. राल्फ फाक्स ने समाजवादी यथार्थवाद के सम्बन्ध में लिखा है—

'In my view the socialist tendentious novel completely fulfil its mission in describing real social relationships, in destroying relative illusions concerning them, in upsetting the optimism of the bourgeois world, in sowing doubt as to the enternal nature of the exhisting social order, even though the author did not thereby advance any definite solution and sometimes did not even come down on one side or another.' (—'The Novel and the People')

२. 'साहित्य परिचय' (प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई), पृष्ठ ८६।

हेनरी जेम्स ने उपन्यास में यथार्थ चित्रण पर गौरव देते हुए लिखा है—'यह कहना व्यर्थ है कि सत्यता के विवेक के अभाव में आप एक अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकते। किंतु आपको उस सत्य को अपने जीवन में पाने की कोई विधि बना सकना कठिन है। मानवता विशाल है और सत्य के असंख्य रूप हैं। ......ज्यादा से ज्यादा यह कहा जा सकता है कि किसी उपन्यास में यथार्थ की गंध होती है और किसी में नहीं।..........मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि सत्यता का वातावरण एक उपन्यास का सबसे बड़ा सद्गुण है—वह गुण जिस पर अन्य सभी गुण निर्भर हैं। यदि वह नहीं है, तो सब कुछ होना व्यर्थ है। यदि वह है तो वह उन प्रभावों का ऋणी है जिनके द्वारा लेखक ने जीवन के भ्रम को खड़ा किया। इस सफलता को पाने की प्रणाली उपन्यासकार की कला का प्रारम्भ और अंत है।'[1] एक पाश्चात्य लेखक की धारणा है कि यथार्थवादी उपन्यासकार को जीवन की गंभीर तस्वीर प्रस्तुत करनी चाहिए।'[2]

उपन्यास में युगीन समस्याएँ

उपन्यास आजकल सबसे सशक्त साहित्यिक माध्यम समझा जाता है।[3] उसका उद्देश्य आज मनोरंजन करना नहीं, वरन् युग की गहन समस्याओं को सुलझाना है।[4] कुछ लोगों का यह अनुमान है कि यदि किसी उपन्यास में युग-

१. 'आधुनिक साहित्य' (प्रतापनारायण टण्डन), 'उपन्यास-कला पर हेनरी जेम्स के विचार' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ३५।

२. 'Romance and realism have both made their contributions to the ideal of the well made novel, though neither romancer nor realist is necessarily bound to that ideal.'

३. 'The best form is that which makes the most of its subject—there is no other definition of the meaning of the form in fiction.'

४. लिडेल ने लिखा है—'It may be laid down that to all such questions, if they begin should the answer is No; if they begin may, the answer is Yes., ('Treatise on Novel'—R. Lidell.' p. 58)

जीवन की समस्याओं को उठाया जाता है तो उसका महत्व साहित्यिक दृष्टि से कम हो जाता है। परंतु यह एक भ्रामक मान्यता है। वास्तव में यदि किसी कथा-कृति में युगीन महत्वपूर्ण प्रश्नों को उठाया जाता है, तो एक प्रकार से उसका महत्व कई गुना अधिक हो जाता है। लेकिन इस संबंध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जो समस्या उपन्यासकार अपनी कृति में उठाये, उस पर उसका चिंतन गम्भीर हो और उसका यथार्थ अनुभव हो, जिस पर वह आधारित हो। श्री इलाचंद जोशी के विचार से 'किसी भी श्रेष्ठ कलाकृति में युग की केवल उन्हीं समस्याओं को प्रधानता दी जाती है जो सारे युग की समग्र मानवता की सामूहिक गति से संबंध रखती हों। जैसे युद्ध और स्थायी शांति, जनजीवन में पायी जाने वाली व्यापक आर्थिक विषमता बनाम स्थायी सामूहिक समता आदि-आदि। वैसे राशनिंग व्यवस्था भी आज के युग की एक समस्या है। कोई कलाकार चाहे तो इस समस्या को भी उठा सकता है और अपनी कहानी में अच्छी तरह से उसका निर्वाह भी कर सकता है। पर किसी बड़ी कलाकृति में उसके लिए इस कारण स्थान नहीं हो सकता कि वह आज के जीवन की कोई प्रधान समस्या नहीं, बल्कि किसी एक मूल समस्या की उपशाखा है।''[1]

उपन्यास के दायित्व और क्षेत्र

आधुनिक युग में जब उपन्यास का महत्व अन्य साहित्यांगों की अपेक्षा बहुत बढ़ गया है, साहित्यकार इसके दायित्व की ओर से भी सचेष्ट हैं। उपन्यास में चूँकि मानव-चरित्र की व्याख्या होती है, और विभिन्न परिस्थितियों में उसकी चारित्रिक सम्भावनाओं पर विचार किया जाता है, अतः यह कहा जा सकता है कि मानव-चरित्र का दिग्दर्शन उपन्यास का प्रमुख दायित्व है। कैरी के अनुसार 'संक्षेप में उपन्यास का दायित्व यह है कि वह संसार को स्वयं अपनी विवेचना करने के लिए प्रेरणा दे'। इल्या एहरेनबुर्ग ने लिखा है कि एक उपन्यासकार अपने पात्रों के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण नहीं कर सकता, अतः वह उसका छटा हुआ भाग प्रस्तुत करता है।

१. 'आलोचना' ३, पृ० ५० ।

उपन्यासकार के क्षेत्र और उसकी सीमाओं में विषय में बहुत से मत मिल सकते हैं। कुछ लोगों ने इस समस्या को उसके नैतिक दृष्टिकोण से संबद्ध करके भी देखा है।[1] उपन्यासकार के क्षेत्र के विषय में राल्फ फाक्स के विचार भी महत्वपूर्ण हैं।[2] यों एक उपन्यासकार का क्षेत्र-विस्तार उसके स्वयं के ज्ञान पर भी निर्भर करता है। उसे उन विषयों पर ही लिखना चाहिए, जिनके विषय में वह अनुभवी हो और सशक्तता से लिख सके।[3]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उपन्यासकार का क्षेत्र, उसके विषय के अनुकूल ही विशेष रूप से मानव-जीवन है। चूंकि इसके अंतर्गत जीवन के अनेक पक्ष और रूप आते हैं अतः उपन्यासकार को मानव-चरित्र का सुविस्तृत चित्रण करना चाहिए। वास्तव में मनुष्य का जीवन इतनी विविधताओं से परिपूर्ण है कि प्रत्येक साधारण या असाधारण स्थिति में यह सम्भावना रहती है कि उसकी प्रतिक्रिया का कोई नया रूप होगा। इस दृष्टि से उपन्यासकार उन सब विषयों का विस्तृत वर्णन उपस्थित करता है जिनमें मानवीय जीवन और मानवीय चरित्रों की अधिक से अधिक प्रतिक्रियात्मक सम्भावनाएँ दिखायी देती हैं।

१. 'The artist's first obligation is to his vision rather than to his moral point of view........The artist must stick to his range, whatever is fidgeting his conscience.' (—Lord Devil Cecil.)

२. 'For the novel will always have the advantage of being able to give a complete picture of man, of being able to show that important inner life, as distinct from the purely dramatic man, the acting man, which is beyond the scope of cinema.' (—R. Fox)

३. 'The range of the novelist that is those parts of his experience which he is able to use creatively, is probably a matter over which he possesses little control.'

अध्याय २

उपन्यास के मूल तत्व : उनमें कथानक की प्रधानता तथा विशिष्टता

(१) कथानक

कथानक की परिभाषा

पीछे कहा जा चुका है कि उपन्यास में कथानक-तत्व की प्रधानता के विषय में अधिकांश विद्वान एकमत हैं।[1] विविध विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से कथानक की परिभाषा की है तथा उसके महत्व को स्पष्ट किया है।[2] यहाँ उन सब परिभाषाओं को उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। निष्कर्ष रूप में यही कहना यहाँ पर्याप्त होगा कि कथानक उपन्यास का मूल तत्व है, जिसका महत्व उसके अन्य तत्वों से अधिक है। कथानक ही वह वस्तु होती है, जिस पर उपन्यास का भवन खड़ा होता है। इसीलिए इसे उपन्यास का ढाँचा माना जाता है। उपन्यास के अन्य तत्व अप्रधान उपकरणों की भाँति कार्य करते हैं। इस दृष्टि से इन सब तत्वों में प्रधानत: कथानक के योग से ही उपन्यास की रचना होती है। कथानक को घटनाओं का लेखा भी कहा जा सकता है। इसलिए उसके निर्माण में घटना-विन्यास संबंधी अन्य अनेक बातें आवश्यक होती हैं, जिन पर अब हम क्रमश: विचार करेंगे।

१. 'We shall all agree that the fundamental aspect of novel is its story-telling aspect.'

(—E. M. Forster. 'Aspects of the Novel', p 27)

2. 'It is the aspect of the novelist's work which asks to be read out loud, which appeals not to the eye, like most prose, but to the ear; having indeed this much in common wilk oratory.'

(—Forster)

कथानक के गुण

(क) सम्बद्धता—

बहुधा कथानक की व्याख्या करते समय यह कहा जाता है कि कथानक विविध घटनाओं या कार्य-कलापों के संकलन या संचयन मात्र को कहते हैं।[1] यह धारणा भ्रामक है। किसी भी कथानक की पूर्णता उसके कथाकृति में उपस्थित किये गये रूप पर निर्भर होती है, जिसके निर्माण के लिए उसका सुगठित होना पहली आवश्यक शर्त है। यदि उसमें पारस्परिक सम्बद्धता का अभाव होता है और इसके फलस्वरूप कथा-शृंखला टूटी हुई होती है, तो उसकी प्रभावात्मकता की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। परंतु इस मत से भिन्न भी कुछ धारणाएँ प्रचलित हैं। उनके अनुसार कथा-शृंखला की संबद्धता का अनिवार्य रूप में होना कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है, क्योंकि समस्त मानव-जीवन एक अनिश्चित और अनियोजित गति से प्रवाहमान रहता है, अतः क्यों न किसी कथा को योजनाबद्ध अथवा शृंखलाबद्ध करने के स्थान पर उसे स्वाभाविक रूप से अपनी ही गति के अनुसार बहने दिया जाय और उसे अपने भावी रूप-निर्माण की स्वतंत्रता दी जाय। परंतु यह बात इस प्रश्न के एक ही पहलू को लक्षित करके कही जाती है और इसलिए इसको अधिक मान्यता नहीं दी जा सकती; क्योंकि एक उपन्यासकार का काम केवल कथानक के चुनाव के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। उसका कार्य इससे आगे यह भी रहता है कि वह उसमें सम्बद्धता तथा घटना-क्रम के निर्धारण में विवेक से काम ले।

(ख) मौलिकता—

मौलिकता का गुण उपन्यासकार की प्रतिभा का परिचायक होता है। किसी उपन्यास के कथानक में जितनी मौलिकता होती है, उतना ही उसका महत्व बढ़ जाता है। इसीलिए मौलिकता को कथानक का मुख्य गुण माना जाता है। यदि विषय के अनुसार देखा जाय, तो संसार के सभी उपन्यासों का प्रवृत्तिगत वर्गीकरण करके उन्हें निश्चित विषयों के अंतर्गत रखा जा सकता है।

१. 'साहित्य का साथी' (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ ९० ।

परन्तु एक समर्थ उपन्यासकार की दृष्टि की सूक्ष्मता का परिचय इस बात से मिलता है कि वह जीवन की गहनता से किस सीमा तक परिचित है तथा उसकी मूलभूत समस्याओं और उनसे संबंधित तथ्यों का उसने साक्षात्कार किया है अथवा नहीं; क्योंकि इन्हीं कुछ बातों से इस बात का पता चलता है कि उपन्यासकार ने कभी जीवन के यथार्थ का तीखा अनुभव किया है या नहीं। यदि कोई उपन्यासकार किसी एक अनुभूति की अभिव्यक्ति अधिक विस्तार और सूक्ष्मता से कर सकता है, तो यह उसकी मौलिक दृष्टि का परिचय दे सकने योग्य है, क्योंकि एक उपन्यासकार के दृष्टिकोण में मौलिकता की कितनी सम्भावनाएँ हैं, यह इन्हीं कुछ बातों पर निर्भर करता है।

(ग) निर्माण-कौशल—

कथानक के निर्माण-कौशल से आशय यह है कि उपन्यासकार ने कथानक में विविध घटनाओं का नियोजन किस ढंग से किया है। बात यह है कि किसी कथानक के अंतर्गत एक घटना या कार्य-कलाप का सीधा-सादा वर्णन या चित्रण कर देना एक बात है तथा उसमें कलात्मकता का समावेश करके अपनी निर्माण-कुशलता का परिचय देना दूसरी बात। वास्तव में कलात्मक ढंग से घटनाओं का संयोजन होने से ही कथानक का स्वाभाविक गति से विकास होता है।

(घ) सत्यता—

एक उपन्यासकार यह दिखाने की चेष्टा करता है कि विविध परिस्थितियों में मानव-चरित्र की क्या सम्भावनाएँ हो सकती हैं। इसी का दिग्दर्शन कराने के लिए वह कभी-कभी कल्पना को भी आधार बनाकर उसकी सहायता लेता है। यदि इस उद्देश्य से किन्हीं काल्पनिक तत्वों का समावेश उपन्यास में होता है, तो वह प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है; क्योंकि ऐसे स्थलों पर उसकी कल्पना-सृष्टि के फलस्वरूप सफलता की आशा अधिक रहती है और वह काल्पनिकता वास्तविकता की छाया और सम्भावनाओं का प्रतिरूप बनकर उभरती जान पड़ती है। उपन्यासकार जहाँ-जहाँ कल्पना का सहारा लेता है, वहाँ उसका उद्देश्य यही होता है कि वह पाठक के सामने किसी सम्भाव्य सत्य को अधिक प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत कर सके। इस दृष्टि से किसी उपन्यास की काल्पनिक घटनाएँ उसकी यथार्थ घटनाओं की पूरक होती हैं। दूसरे शब्दों में, कल्पना-सृष्टि में उपन्यासकार का

यही उद्देश्य होता है कि वह पाठकों के सामने यथार्थ जीवन के ऐसे रूप को चित्रित कर सके, जिसमें उन्हें जीवन-रूप की झाँकी दिखायी दे। परन्तु मात्र कल्पना की सहायता से बड़े कथानक का ताना-बाना बुनना कोई अर्थ नहीं रखता। इसी-लिए यह तथ्य होते हुए भी कि कल्पनात्मक उपन्यास अधिक रोचक होते हैं और जन-साधारण का मनोरंजन करने की सामर्थ्य भी अपेक्षाकृत उन्हीं में अधिक होती है, यह स्वीकार किया जाता है कि इस प्रकार की कृतियों का सहित्यिकता तथा कलात्मकता की दृष्टि से कम महत्व होता है।[1]

(ङ) रोचकता—

रोचकता कथानक का ऐसा गुण है, जिसके अभाव की स्थिति में अच्छे से अच्छा उपन्यास पाठकों का मनोरंजन नहीं कर सकता। वास्तव में रोचकता की सृष्टि करना तथा कथानक में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक रोचकता बनाये रखना बहुत समर्थ उपन्यासकारों से लिए ही सम्भव होता है। एक उपन्यास के भीतर भले ही अत्यन्त गूढ़, दार्शनिक तथा नैतिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया गया हो, परंतु यदि उसमें रोचकता का अभाव होगा, तो वह पाठकों के हृदय को न छू सकेगा। जो उपन्यास पाठकों का मनोरञ्जन करने के स्थान पर उनमें ऊब या झुँझलाहट उत्पन्न करेगा, उसे सफल कहना कठिन है। चमत्कार-सृष्टि या असम्भाव्य घटनाओं का सामंजस्य उपन्यासों में इसीलिए होता है कि उनकी सहायता के बिना पाठकों में अन्त तक जिज्ञासा बनी रहना कठिन होता है। कोई भी उपन्यासकार यह नहीं चाहता है कि उसकी कृति अरोचक हो। रोचकता की सृष्टि के लिए उपन्यासकार किसी भी वस्तु का आश्रय लेने को तैयार रहता है। वह नये ढंग से कहानी कहता है, नये प्रकार के पात्रों की सृष्टि करता है, नयी घटनाओं का संचयन

१. हेनरी जेम्स ने सत्यता के गुण पर बल देते हुए लिखा है—'यह कहना व्यर्थ है कि सत्यता के विवेक के अभाव में आप एक अच्छा उपन्यास नहीं लिख सकते किंतु उस सत्य को अपने जीवन में पाने की कोई विधि आपको बता सकना कठिन है।............मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि सत्यता का वातावरण एक उपन्यास का सबसे बड़ा सद्गुण है, जिस पर अन्य सभी गुण निर्भर हैं। यदि वह नहीं है, तो सब कुछ होना व्यर्थ है। यदि वह है तो वह उन प्रभावों का ऋणी है, जिनके द्वारा लेखक ने जीवन के भ्रम को खड़ा किया। इस सफलता को पाने की प्रणाली उपन्यासकार की कला का प्रारंभ और अन्त है।'

करता है तथा अन्य नवीनतर तत्वों को कृति में समावेशित करने को प्रस्तुत रहता है।[1]

कथानक का महत्व व उसकी अन्य विशेषताएँ

कथानक के विषय में पर्याप्त कहा जा चुका है। यहाँ अब केवल उसके महत्व विषयक कुछ अन्य सामान्य विशेषताओं की ओर संकेत करना ही पर्याप्त होगा। संक्षेप में, उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ और बतायी जा सकती हैं—

(क) मानव जीवन की समस्याओं की व्याख्या—

मानव-जीवन के विविध पक्षों से संबंध रखने वाली समस्याओं को कथानक के द्वारा ही समुचित रूप में उपस्थित किया जा सकता है, क्योंकि उससे उपन्यासकार की जीवन-दृष्टि का आभास मिलता है।

(ख) प्रतिनिधित्व का संकेत—

एक उपन्यास के कथानक के द्वारा ही पाठक को इस बात का आभास मिलता है कि वह किस युग अथवा समाज के किस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। उस युग और समाज के उस वर्ग की विशेषताओं के परिचय की दृष्टि से उसका महत्व होता है।

(ग) जीवन की विविध अवस्थाओं का चित्रण—

कथानक का सीधा संबंध पात्रों के चरित्र-चित्रण से होता है। इसीलिए वह उन पात्रों के जीवन की विविध अवस्थाओं के चित्रण का आधार होता है। इस

१. उपन्यास में रोचकता और उत्सुकता के विषय में ई० एम० फार्स्टर ने लिखा है—'औत्सुक्य मानवीय मस्तिष्क-शक्ति में सबसे छोटी एक शक्ति है। दैनिक जीवन में आप देखेंगे कि जब लोग आश्चर्य-चकित होते हैं, तब प्राय: उनकी स्मरण-शक्ति उथली और अन्त में निष्प्रयोजन हो जाती है।........औत्सुक्य स्वयं हमें एक अत्यन्त छोटी पगडंडी तक ले जाता है, वह हमें उपन्यास में किसी दूरस्थ सीमा तक नहीं ले जा सकता—उसकी पहुँच केवल कहानी तक है, यदि इस कथानक को ग्रहण करना चाहें, तो उसमें प्रतिभा तथा स्मरण-शक्ति का भी योग हमें देना चाहिए।'

दृष्टि से उसमें चित्रण की यथार्थता, चित्रण की सूक्ष्मता, चित्रण की गहनता तथा चित्रण की मार्मिकता आदि विशेषताएँ होती हैं।

(घ) जीवन-पक्षों के महत्व का मूल्यांकन—

एक योग्य उपन्यासकार जीवन की किसी भी अवस्था का चित्रण करते समय उसके प्रत्येक पहलू को ध्यान में रखता है और उसकी प्रत्येक सम्भावना पर प्रकाश डालता है। वह उसके महत्वपूर्ण और महत्वहीन, दोनों पक्षों को समान रूप से उभारता है और इस प्रकार से एक विवेक-दृष्टि का परिचय देता है। वह गम्भीर जीवन-पक्षों के विवेचन के साथ ही साथ उथले और सामान्य समझे जाने वाले पक्षों को भी सशक्त रूप में प्रस्तुत करता है।

(ङ) अनुभूतियों की पूर्ण अभिव्यक्ति—

कथानक की सफलता इस बात पर भी निर्भर करती है, कि जो अनुभूतियाँ मुख्यत: उससे सम्बद्ध हैं, उनकी अभिव्यक्ति पूर्णता से हुई है या नहीं; क्योंकि अभिव्यक्ति की पूर्णता उसकी उपेक्षा-भावना के प्रतिकार के रूप में कथा को प्रभावपूर्ण बनाने में सहायक होती है।

कथानक को पाश्चात्य आलोचक ई० एम० फार्स्टर ने इतना अधिक महत्व दिया है कि वह उसे ही उपन्यास मान लेता है। उसने बताया है कि तार्किक-बौद्धिक दृष्टि से हमें कथानक को ही उपन्यास मानना पड़ता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि किसी उपन्यास का महत्व केवल इस बात से नहीं आँका जा सकता कि उसका कथानक कितना विशद या महान है; वास्तव में उसका सशक्त और प्रखर रूप में प्रस्तुत होना ही उसकी महत्ता का द्योतक होता है। उपन्यासकार जीवन के किस क्षेत्र से कथानक का चुनाव करे यह गौण बात है। मुख्य बात यह है कि उसने जीवन के उस पक्ष विशेष को कितनी गहराई से देखा और अनुभव किया है; साथ ही, वह उसकी सम्भावनाओं या रहस्यों से किस सीमा तक और किस रूप में परिचित हो चुका है और उनके यथार्थ का कितना प्रखरता से अनुभव कर चुका है।

कथानक के रूप

कथानक को उपन्यास में कई प्रकार की शैलियों में प्रस्तुत किया जा सकता है। उनमें से प्रमुख शैलियाँ इस प्रकार हैं—

(क) वर्णनात्मक शैली—

कथानक की यही शैली सर्वाधिक प्रचलित है। इसमें उपन्यासकार एक इतिहासकार के समान वर्ण्य विषय का उसकी सीमाओं के अनुसार उद्घाटन करता चलता है। अंत में वह कोई निर्णय देता या किन्हीं मान्यताओं की स्थापना करता है। इस प्रकार के उपन्यासों में उपन्यासकार की सर्वज्ञता प्रकट होती है और वह किसी भी पात्र से संबंधित किसी भी घटना का वर्णन किसी भी रूप में कर सकता है, जो अन्य शैलियों के माध्यम से सम्भव नहीं है।

(ख) आत्मकथात्मक शैली—

दूसरी शैली आत्मकथात्मक होती है। इसमें उपन्यासकार कथा के नायक, नायिका या अन्य किसी भी एक पात्र का स्थान स्वयं ग्रहण करता है और इस प्रकार स्वयं प्रत्येक घटना का वर्णन करता चलता है। यह शैली प्रथम की भाँति सुविधाजनक नहीं है। इसमें उपन्यासकार को सीमाओं में बँधकर रहना पड़ता है; क्योंकि एक पात्र के रूप में वह केवल उन्हीं बातों की जानकारी प्रकट कर सकता है, जिन्हें उसने अपने चरित्र के अनुसार स्वयं देखा या अनुभव किया है। इस दृष्टि से वह सबसे अधिक सफलतापूर्वक केवल अपने स्वयं के चरित्र का ही प्रामाणिक और यथार्थ विवरण प्रस्तुत कर सकता है, अन्य चरित्रों के विषय में उसकी जानकारी भिन्न प्रकार की होगी। डा० श्रीकृष्ण लाल ने इस शैली के विषय में लिखा है—'नायक के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उपन्यास की यह शैली सर्वोत्तम है क्योंकि स्वयं कथा कहने के कारण नायक अपने अन्तस्तल तक की बातों का अत्यन्त प्रभावपूर्ण वर्णन कर सकता है, परंतु इस शैली में एक दोष है कि नायक के अतिरिक्त अन्य चरित्रों का सुन्दर चित्रण नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त कथा के सौंदर्य की भी इस शैली से पर्याप्त क्षति होती है। इसमें वर्णनात्मक शैली के उपन्यासों की भाँति मनोवैज्ञानिक चित्रण तथा प्रकृति के सुन्दर चित्र नहीं मिल सकते। साधारणत: यह

शैली केवल उन्हीं उपन्यासों के लिए उपयुक्त है जहाँ केवल एक ही प्रधान चरित्र हो और अन्य सभी चरित्र बहुत साधारण हों और वे संख्या में कम भी हों।'[1]

(ग) पत्रात्मक शैली—

तीसरी शैली पत्रात्मक शैली होती है। इसमें सम्पूर्ण कथा पत्रों के रूप में कही जाती है। दूसरी शैली की भाँति यह शैली भी पूर्ण रूप से सुविधाजनक नहीं है, क्योंकि इन दोनों की सीमाएँ प्रायः समान ही हैं।

(घ) डायरी शैली—

तीसरी शैली से मिलती-जुलती ही यह शैली भी होती है। इसमें सारी कथा को डायरी के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। यह डायरी केवल एक पात्र की हो सकती है और एक से अधिक पात्रों की भी।

डा० श्यामसुंदर दास ने 'साहित्यालोचन' में लिखा है—'उपन्यासों की कथा कहने के तीन ढंग हैं। पहले में तो उपन्यासकार इतिहासकार का स्थान ग्रहण करके और वर्णनीय कथा से अपने को अलग रखकर अपने वस्तु-विधान का क्रमशः उद्घाटन करता हुआ पढ़नेवालों को अपने साथ लिये हुए अंतिम परिणाम तक पहुँचाकर अपना अभिप्रेत भाव उत्पन्न करता है। दूसरे ढंग में उपन्यासकार नायक का आत्म-चरित्र उसके मुँह से अथवा कभी-कभी किसी उपपात्र या गौण पात्र के मुँह से कहलाता है। तीसरा ढंग वह है, जिसमें प्रायः चिट्ठियों आदि के द्वारा कथा का उद्घाटन किया जाता है। तीसरा ढंग बहुत कम और पहला ढंग बहुत अधिक काम में लाया जाता है। पहले ढंग का अनुसरण करने में ग्रंथकार को अपना कौशल दिखाने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है। दूसरे और तीसरे ढंग का अनुसरण करने में उसे कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इनमें से सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह अपनी समस्त सामग्री का यथोचित उपयोग नहीं कर सकता है।'[2]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इन सब शैलियों में सबसे अधिक सुविधाजनक प्रथम अर्थात् वर्णनात्मक शैली ही है और उसी का प्रचलन भी सबसे

१. 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास' (डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ २८७।
२. 'साहित्यालोचन' (डा० श्यामसुन्दर दास), पृष्ठ १६२।

अधिक है। यों उपर्युक्त सभी शैलियों के सम्मिश्रण से भी नयी शैलियों की सम्भावनाएँ हो सकती हैं।

कथानक के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण—

कथानक के आधार पर उपन्यासों के दो भेद किये जाते हैं—

(क) शिथिल-वस्तु-उपन्यास (नावेल्स आफ लूज़ प्लाट)—

इस कोटि के अंतर्गत जो उपन्यास आते हैं, उनके कथानक में सम्बद्धता का अभाव होता है, और वे सूत्रों में बिखरे हुए होते हैं। इन्हें अँग्रेजी में 'नावेल्स आफ लूज़ प्लाट' कहते हैं। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं की बहुलता होती है। यही कारण है कि उनमें कथानक की एकसूत्रता सुरक्षित नहीं रह पाती। ऐसे उपन्यास स्वभावत: क्षीण प्रतीत होते हैं। वे उन विविध घटनाओं के संकलन मात्र मालूम होते हैं, जिनका उनमें समावेश होता है। स्फुट रूप में ये संकलित प्रतीत होनेवाली घटनाएँ मनोरंजक अवश्य होती हैं, लेकिन क्योंकि उनमें कोई तारतम्य नहीं लक्षित होता, इसलिए वे पाठकों पर कोई संयोजित या संयुक्त प्रभाव डालने में असमर्थ रहती हैं। ऐसे कथानक जहाँ एक ओर लेखक की कलात्मक दुर्बलता का परिचय देते हैं, वहाँ दूसरी ओर एक उपन्यासकार के रूप में उसकी भावी सम्भावनाओं को भी संदिग्ध कर देते हैं।

(ख) संगठित-वस्तु-उपन्यास (नावेल्स आफ आरगेनिक प्लाट)—

प्रथम कोटि के उपन्यासों में प्राय: घटनाओं को जोड़ने वाला चरित्र उस उपन्यास का नायक होता है। उनमें नाटकीय संयोजना का अभाव होता है। परंतु द्वितीय कोटि के उपन्यासों की रचना का आधार उनकी व्यापक योजना होती है, जिस पर उनका सारा ढाँचा निर्मित किया जाता है। इसीलिए इस दूसरे वर्ग के अंतर्गत वे उपन्यास आते हैं, जिनका कथानक सुगठित तथा एकसूत्रात्मक होता है। उनकी सभी घटनाएँ परस्पर संबद्ध होती हैं तथा उनकी क्रमबद्धता कहीं भंग नहीं होने पाती। इस प्रकार के उपन्यासों को 'नावेल्स आफ आरगेनिक प्लाट' कहा जाता है। ऐसे उपन्यासों की घटनाओं का स्वतंत्र महत्व कम हो जाता है। उनकी कलात्मकता उनकी संयुक्तता में ही लक्षित की जा सकती है।

(२) पात्र या चरित्र-चित्रण

कथानक के बाद पात्र को उपन्यास का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। वास्तव में उपन्यास का विषय मनुष्य और उसका जीवन है। इसलिए स्वभावतया ही इसका महत्व कुछ बढ़ जाता है। एक श्रेष्ठ उपन्यासकार यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि मानव-चरित्र की वे कौन-कौन सी विशेषताएँ हैं, जिनके आधार पर किसी मनुष्य की मनुष्यता को देखा-परखा जा सकता है। मनुष्य का व्यक्तित्व उसके चरित्र का सबसे उल्लेखनीय अंग समझा जाता है। वे कौन सी बातें हैं जो किसी मनुष्य के व्यक्तित्व की प्रभावशीलता को घटाती या बढ़ाती हैं? क्यों मनुष्य का बाह्य और आन्तरिक रूप भिन्नता रखता है? एक मनुष्य के क्रिया-कलाप से किस सीमा तक उसके चरित्र का अनुमान लगाया जा सकता है? सामाजिक परिस्थितियाँ कहाँ तक मनुष्य को उसके जीवन में प्रभावित करती हैं? विविध मानवीय गुण या अवगुण कब निर्मित होते, स्थिर रहते या परिवर्तित होते हैं? यही सब दिखाना उपन्यासकार का कार्य होता है और वह विभिन्न प्रकार के पात्रों की सृष्टि करता है, जो अपने चरित्र, सिद्धांत या आदर्श के अनुरूप व्यवहार करते हैं। यदि कोई उपन्यासकार अपनी कृति में सशक्त और प्रभावशाली चरित्रों की सृष्टि नहीं कर पाता, तो वह कदापि सफल नहीं हो सकता। यदि किसी उपन्यास के पात्रों में सजीवता या सशक्तता होती है, तो वे पाठक के हृदय पर भारी प्रभाव डालते हैं और यदि उनमें इन गुणों का अभाव होता है, तो वे प्रभावरहित तो सिद्ध होते हो हैं, पाठक को किसी प्रकार का भी चिंतन करने की प्रेरणा देने में असमर्थ रहते हैं।

यहाँ फिर काल्पनिकता और यथार्थता का प्रश्न उठता है। क्या एक उपन्यासकार को काल्पनिक पात्रों की सृष्टि अपनी कृति में करनी चाहिए, अथवा उसे यथार्थ जीवन से अलग उनका चुनाव करना चाहिए, जो तत्कालीन मानव-समाज का प्रतिनिधित्व करें ?[१] यहाँ भी कुछ वैसा ही निष्कर्ष निकलने की

१. 'The characters in a novel, then, are neither to be 'unexceptionable' nor 'completely depraved', but a mixture of good and bad, like the characters we know in real life, from self-knowledge or from observation'

संभावना है, जैसा कथानक के विषय में निकला था। यदि कथाकार पात्रों की सृष्टि-मात्र कल्पना के आधार पर करेगा तो वे सर्वथा निर्जीव होंगे और पाठक पर किसी भी प्रकार का प्रभाव डालने की क्षमता उनमें नहीं होगी।[१] इसके विपरीत, यदि वे यथार्थ जीवन से लिये गये चरित्र होंगे, तो उनमें सजीवता होगी और वे अपने वर्ग या समाज का प्रतिनिधित्व करने में भी समर्थ होंगे। इस प्रकार के चरित्रों की सफलता और असफलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि उनका अपना व्यक्तित्व अथवा आदर्श भी कुछ है अथवा नहीं। यदि उनमें इन गुणों का अभाव होगा तो वे व्यवहार में कठपुतली की तरह नाचते हुए जान पड़ेंगे। लेकिन यथार्थ जीवन से लिये गये पात्रों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता।[२] उनका चरित्र प्रारम्भ से लेकर अंत तक क्रमशः विकास की ओर अग्रसर होता रहता है और उनके माध्यम से उपन्यासकार अपने जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करने में समर्थ होता है।[३]

ई० एम० फार्स्टर ने लिखा है—'उपन्यास की विशेषता है कि लेखक अपने पात्रों के विषय में बात कर सकता है। उसी प्रकार उनके द्वारा उनकी वार्त्ता के समय हमारे सुनने का आयोजन भी कर सकता है। वह आत्मश्लाघा को छू सकता है और उस स्तर से वह गहराई में जाकर उप-चेतना का संसर्ग पा सकता

१. हैनरी जेम्स ने लिखा है——'Character, in any sense in which we can get at it, is action, and action is plot, and any plot which hangs together, even if it pretends to interest us only in the fashion of a chinese puzzle, plays upon our emotion, our suspense, by means of personal references.'

२. 'The great source of character creation is of course the novelist's own self. Some form of self-projection must always take place, of reincarnation in the fictional character.'

३. 'This is not to say that the novelist often puts people just as they are into his books, a thing which his acquaintance seem to f·ar and hope. For life and art are very different things, and existence in one is very different from existence in the other.'

है। वह उपचेतना के मँडराते अस्तित्व को सीधे व्यापार में ला सकता है (नाटककार भी ऐसा कर सकता है)[१] तथा वह इसे स्वगत-भाषण से सम्बद्ध कर सकता है। वह गोपनीय जीवन पर अधिकार रखता है। 'लेखक ने अपने मूल तत्व को कैसे जाना, वह उस लक्ष्य पर अटल नहीं रहा, वह अपने ध्येय से हट रहा है' आदि प्रश्न बहुत कुछ न्यायालयों की-सी प्रवृत्ति रखते हैं।'[२]

कुछ पात्र यथार्थता के लक्षणों से युक्त होते हुए भी यथार्थ नहीं होते।[३] यों जहाँ तक पात्रों के चरित्र-विकास का प्रश्न है, उपन्यासकार को वर्णन-शैली पर भी वह निर्भर करता है। यदि किसी कथाकार की शैली में कलात्मकता नहीं है और वह अपने पात्रों की वेश-भूषा, स्वभाव, चरित्र तथा विचारों का वर्णन प्रभावशाली ढंग से नहीं कर सकता, तो उनमें पाठकों को प्रभावित करने की शक्ति नहीं होगी, भले ही उनके आदर्श और विचार कितने ही ऊँचे क्यों न हों। इसी प्रकार एक समर्थ उपन्यासकार बिल्कुल निर्जीव पात्रों में भी जान डाल सकता है। परंतु इसके लिए आवश्यक यह है कि उसकी कथा-कृति में कलात्मकता का अभाव न हो।[४]

१. 'In drama, where there is little time for subtlety, for more than a few character to exhibit in consistencies and conflicts and development, it would be even harder than in fiction to get on without 'flat' characters. And in fiction their value is inestimable; almost every successful comic character is 'flat'.'

२. 'Aspects of the Novel' (E. M. Forester)

३. 'Yet for all their likeness to real people, fictional charactors are not real people : they do not have to function in life, but in the novel, which is an art form.'

४. 'The writer does not copy his originals; he takes what he wants from them, a few originals that have caught his attention, a turn of mind that has fired his imagination, and therefrom constructs his character' (W. Somesret Maugham.)

पात्रों का वर्गीकरण

उपन्यास सम्पूर्ण मानव-जाति या समाज का चित्र कहा जाता है। इस दृष्टि से उसके पात्र अवश्य किसी वर्ग के प्रतिनिधि होते हैं। पात्रों का प्रथम भेद इसी वर्गगत भिन्नता के ही आधार पर किया जाता है। 'वर्ग' शब्द का एक विशेष पारिभाषिक अर्थ है। सामान्यत: मनुष्यों के केवल उसी समूह या श्रेणी को 'वर्ग' कहा जाता है, जिसके आर्थिक हितों में कोई भिन्नता न हो। उदाहरण के लिए जमींदार, पूँजीपति और मजदूर वर्गों को लिया जा सकता है। इन तीनों वर्गों में प्रत्येक में जितने भी मनुष्य होंगे, उन सबके अपने-अपने वर्गों के अनुसार समान आर्थिक हित होंगे। इस प्रकार इन आर्थिक हितों में समानता होना ही वर्ग का प्रमुख लक्षण है।[1]

प्रत्येक उपन्यास के पात्र प्राय: विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि रूप में सामने आते हैं और अपने-अपने वर्गों का दृष्टिकोण और विचारधारा प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से इस कोटि के पात्रों का एक भेद और किया जाता है, जिसमें प्राय: ऐसे पात्र होते हैं, जो किन्हीं विशेष वर्गों के तः होते हैं, लेकिन उनमें स्वयं कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जो वर्ग की विशेषताओं पर हावी रहती हैं। अत: वे अपनी चारित्रिक विशेषता के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त किये जाते हैं। इस प्रकार के पात्रों का प्रधान गुण उनका व्यक्तित्व या वैचारिक आदर्श होते हैं। दूसरे शब्दों में इन पात्रों को बौद्धिक भी कहा जा सकता है। इस श्रेणी के पात्रों की एक विशेषता यह भी होती है कि वे समाज के जिस वर्ग का भी प्रतिनिधित्व करते होंगे, पूरे उपन्यास में उन्हीं आदर्शों की रक्षा या विचारों का प्रचार करते दिखायी देंगे और यदि कहीं ऐसा अवसर आयगा कि उन्हें किसी प्रकार का सैद्धांतिक समझौता करने की आवश्यकता इस क्षेत्र में होगी, तो वे यथाशक्ति इससे बचेंगे और अपने चारित्रिक स्तर को बनाये रखने का प्रयत्न करेंगे। इस दृष्टि से उनका चरित्र अपरिवर्तनशील होता है। लेकिन दूसरी कोटि के पात्रों में परिवर्तनशीलता स्वाभाविक रूप में मिलती है। उनके चरित्र और व्यवहार में समय की गति और

१. 'हिन्दी उपन्यास में वर्ग-भावना' (प्रतापनारायण टंडन), पृ० ३६ ।

आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन होता रहता है और वे समय की आवश्यकता के अनुरूप अपने आपको ढालने में समर्थ भी होते हैं। बहुत छोटी-छोटी बातों का प्रभाव भी इनके चरित्र पर इतना गहरा पड़ता है कि उनके चरित्र-विकास की धारा ही बदल जाती है।

ई. एम. फार्स्टर ने पात्रों का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया है। उसने पात्रों के 'फ्लैट' तथा 'राउण्ड' दो भेद किये हैं। 'फ्लैट' वह उन चरित्रों को मानता है, जो मूलतः एक ही विचार या विशेषता के चारों ओर उसी को केन्द्र मानकर घूमते रहते हैं। जैसे ही उनका यह केन्द्र-गत विचार या विशेषता एक से अधिक हो जाती है, तब उन्हें 'राउण्ड' कहा जाता है। इस प्रकार से ये दोनों प्रकार के पात्र सहज ही पहचाने जाने योग्य होते हैं। उन्हें पाठक बहुत सरलता पूर्वक स्मरण रख सकता है। चूँकि परिस्थितियों के परिवर्तन का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिए वे सदा समान विशेषताएँ रखते हैं।

चरित्र-चित्रण की विधियाँ

चरित्र-चित्रण की निम्नलिखित विधियाँ हो सकती हैं—

(क) विश्लेषणात्मक विधि—

यदि उपन्यासकार अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में स्वयं अपनी ओर से लिखता है, तो इसे चरित्र-चित्रण की विश्लेषणात्मक प्रणाली कहते हैं। लेखक पात्रों के चरित्र, विचार, आचार, व्यवहार आदि का स्वयं वर्णन करता है, जिसके कारण पाठक को उनके विषय में जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रणाली में लेखक को अपने पात्रों के चरित्र की पूर्ण व्याख्या करनी पड़ती है और उनकी सम्पूर्ण विशेषताओं को उभारकर प्रकाश में लाना पड़ता है।

(ख) अभिनयात्मक विधि—

चरित्र-चित्रण की दूसरी विधि अभिनयात्मक कहलाती है। इसमें उपन्यासकार स्वयं किसी पात्र के विषय में कुछ नहीं कहता, बल्कि पात्र स्वयं कथोपकथन का आश्रय लेते हैं। यह विधि प्रथम की अपेक्षा अधिक कलात्मक है।

उपन्यासों में चरित्र-चित्रण के लिए उपयुक्त दो ही प्रणालियाँ प्रयुक्त होती हैं; यों वर्गीकरण की दृष्टि से इनके कुछ और भेद हो सकते हैं। उदाहरण के लिए विवरणात्मक विधि, संकेतात्मक विधि, मनोवैज्ञानिक विधि आदि। परंतु ये सब विधियाँ उपयुक्त दो मुख्य प्रणालियों के अंतर्गत ही आती हैं। दूसरे शब्दों में, इन्हें उपयुक्त दो प्रणालियों के ही विविध रूप भी कह सकते हैं, क्योंकि उनमे पूर्णत: भिन्न नहीं हैं।

इस विषय में डॉ० श्यामसुंदर दास ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"चरित्र-चित्रण में प्राय: दो उपायों का अवलम्बन किया जाता है। एक को विश्लेषात्मक या साक्षात् और दूसरे को अभिनयात्मक या परोक्ष कहते हैं। पहले प्रकार का उपन्यास-लेखक अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वयं अपने शब्दों में करता है। वह पात्रों के भावों, विचारों, प्रकृतियों और राग-द्वेषों को समझता, उनकी व्याख्या बताता और प्राय: उन पर अपना विवेचनापूर्ण मत भी प्रकट करता है। दूसरे प्रकार में लेखक आप मानों अलग खड़ा रहता है और स्वयं पात्रों को अपने कथन और व्यापार से तथा उसके संबंध में दूसरे पात्रों की टीका-टिप्पणी तथा सम्मति से अपना चरित्र-चित्रण करने देता है।"[१]

चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ और गुण

(क) अनुकूलता—

यह चरित्र-चित्रण का प्रथम आवश्यक गुण है। इसके अनुसार पात्र को कथानक के अनुकूल होना चाहिए। जिस उपन्यास का कथानक जिस प्रकार का हो, उसी प्रकार के पात्रों का प्रणयन भी उसमें होना चाहिए। यदि उपन्यास के पात्र कथानक के प्रतिकूल होते हैं, तो उसमें विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है; क्योंकि कथानक का झुकाव और विस्तार एक ओर रहता है और उसके पात्रों का दूसरी ओर। यों पात्रों के चारित्रिक विकास की दृष्टि से कथानक को एक दिशा में बढ़ना चाहिए, परंतु वह बढ़ता विपरीत दिशा में है। फलस्वरूप उसमें इन दोनों प्रधान तत्वों का निर्वाह नही हो पाता।

१. 'साहित्यालोचन' (डा० श्यामसुन्दर दास), पृष्ठ १६५।

(ख) स्वाभाविकता—

यह चरित्र-चित्रण का विशिष्ट गुण है, क्योंकि किसी भी कथा-कृति के पात्रों का यही गुण उसके पाठकों पर किसी प्रकार का प्रभाव डाल सकता है और उन्हें अपने विचार-प्रवाह के साथ बहा ले जा सकता है। पाठक किसी पात्र की अनुभूति के प्रति तभी समवेदना रख सकेगा, जब उसकी परिस्थिति उसे विश्वसनीय प्रतीत होगी।

(ग) सप्राणता—

चरित्र-चित्रण का यह गुण उसका संयुक्त गुण है, जो अन्य से सम्बद्ध रहता है। यदि पात्र में अनुकूलता, स्वाभाविकता आदि अन्य गुणों का अभाव नहीं होता, तभी उसमें सप्राणता की आशा भी की जा सकती है, क्योंकि यह पात्र के कुल व्यक्तित्व के आधार पर निर्धारित होता है।

(घ) सहृदयता—

उपन्यास में पात्रों को अधिक से अधिक मानवीय होना चाहिए। उन्हें एक दूसरे के सुख-दुख से प्रभावित होना चाहिए तथा अपने सुख-दुख में दूसरों की सहानुभूति और संवेदना की अपेक्षा रखनी चाहिए।

(ङ) मौलिकता—

मौलिकता पात्रों का ऐसा गुण है, जिसके अभाव में वे अनेक विशेषताओं से युक्त होते हुए भी प्रभावरहित हो सकते हैं। कम से कम, प्रत्येक पात्र के व्यवहार, विचार और आदर्श में मौलिकता का होना अनिवार्य है।

उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ पात्रों के चरित्र-चित्रण में कलात्मकता, द्वन्द्वात्मकता तथा बौद्धिकता आदि विशेषताओं को भी होना चाहिए। इन गुणों के कारण पात्र काल्पनिक नहीं प्रतीत होते और वे अधिक व्यावहारिक होने का भी आभास देते हैं। वास्तव में कलापूर्ण चित्रण ही पात्रों को प्राणवान् बनाता है, जिसके कारण वह पाठकों पर अपन प्रभाव डाल सकने में समर्थ होते हैं।

कथानक और पात्र

उपन्यास के सभी तत्वों में कथानक सर्वप्रमुख है, यह निश्चित होते हुए

भी इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ये तत्व एक प्रकार के अंतर-सम्बंध से परस्पर बद्ध हैं। यों तो इस दृष्टि से प्रत्येक तत्व एक दूसरे पर आश्रित होता है और विकास के लिए एक-दूसरे का आश्रय ग्रहण करता है, परंतु जहाँ तक कथानक का सम्बंध है, इसका निकटतर सम्बंध, मूल रूप से, पात्रों से ही होता है। इसीलिए उपन्यास में इन दोनों तत्वों का सन्तुलन आवश्यक है। पात्र यदि कथानक के अनुकूल नहीं होते तो दोनों में संघर्ष होता है और परिणामतः उनके विकास की गति में स्वाभाविकता का अभाव हो जाता है। इसके विपरीत यदि कथा पात्रों के अनुकूल नहीं होती, तो भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति से बचने के लिए यह आवश्यक है कि इन दोनों को सन्तुलित रूप में विकसित किया जाय, तथा दोनों के बीच अनुकूलता भी स्थिर रहे। यदि ऐसा नहीं होता है, तो कथानक तो अपनी स्वाभाविक गति के अनुसार विकसित होता जाता है, परंतु पात्र नियन्त्रण से बाहर हो जाते हैं। ऐसी दशा में उनमें किसी प्रकार की सप्राणता का लक्षण नहीं मिलता और कथानक की सशक्तता के बावजूद भी उपन्यास असफल हो जाता है। संक्षेप में, कथानक और पात्रों के बीच के सन्तुलन के लिए निम्न बातों पर बल दिया जा सकता है—

विकासगत सन्तुलन—

किसी उपन्यास में पात्रों की सृष्टि कथानक की सीमाओं के अनुरूप ही होनी चाहिए, अन्यथा उसकी सफलता संदेहास्पद हो सकती है; क्योंकि इस पर उपन्यास की सफलता काफी सीमा तक निर्भर करती है। वास्तव में कथानक के विकास और पात्रों के चारित्रिक विकास में एक ऐसा तारतम्य होता है, जिसमें थोड़ा भी असन्तुलन बड़ी बाधा पहुँचा सकता है। यदि उपन्यासकार कथानक के विकास की ओर अधिक ध्यान देता है तो चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कृति अशक्त हो जाती है, और यदि चरित्र-चित्रण की ओर अधिक ध्यान देता है तो उसके कथा-क्रम और कथा-गठन में शिथिलता आ जाती है। इसलिए इन दोनों का विकासगत सन्तुलन बहुत आवश्यक है।

अंतर्विरोध की उपेक्षा—

कथानक और पात्रों के बीच अंतर्विरोध की स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब कथानक की कुछ घटनाएँ किन्हीं विशेष स्थलों पर पात्रों के अपने चारित्रिक गुणों की दृष्टि से समान नहीं होतीं। ऐसी परिस्थिति में वह दो प्रकार से

आगे बढ़ती है। एक ओर तो कथानक अथवा घटनाएँ उन स्थितियों का प्रणयन करती हैं, जो पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को सामने लाएँ, तो दूसरी ओर पात्र स्वयं कथानक को आगे बढ़ाते हैं और विविध घटना-सूत्रों को उपस्थित करते हैं।

इस प्रकार से ये दोनों उपन्यास-तत्व किसी कथा-कृति में जहाँ एक दूसरे से अलग रहकर या एक-दूसरे के प्रतिकूल चलकर उसकी प्रभावात्मकता को कम कर देते हैं, वहाँ दूसरी ओर एक-दूसरे के विकास में सहायक होकर कृति को प्राणवान भी बना सकते हैं।

कथानक व पात्रों के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण

(क) घटना-प्रधान उपन्यास

कथानक व पात्रों के आधार पर उपन्यासों का वर्गीकरण करते हुए उसके दो भेद किये जाते हैं। इनमें से पहला घटना-प्रधान उपन्यास है। यह वर्गीकरण कथा के आधार पर होता है। घटना-प्रधान उपन्यासों में मानव-व्यापारों एवं क्रिया-कलापों की प्रधानता रहती है। स्पष्ट ही इस कोटि के उपन्यासों में पात्रों की ओर कम ध्यान दिया गया होता है। परंतु चूँकि कथानक और पात्रों में कथानक का ही अधिक महत्व है, अतः इस प्रकार के उपन्यासों को भी अधिक महत्व दिया जाता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कथा को अधिक महत्व दिये जाने पर भी इसमें अन्य तत्वों की पूर्ण उपेक्षा नहीं की जाती।[1]

(ख) चरित्र-प्रधान उपन्यास—

चरित्रों के आधार पर जिन उपन्यासों का वर्गीकरण किया जाता हैं, उन्हें चरित्र-प्रधान कहा जाता है। इनमें पात्रों अथवा चरित्रों की प्रधानता रहती है। इस कोटि के अंतर्गत आने वाले उपन्यासों में घटनाओं का महत्व कम और गौण

१. आर. एल. स्टीवेंसन ने घटना-प्रधान उपन्यासों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए लिखा है—'The greatest triumph of the novelist is the power to create so perfect an illusion, to represent situations of interest with so irresistible an appeal to the imagination that the reader shall for the moment identify himself with the characters of the story and seem to experience the adventures in his own person.'

होता है। इस प्रकार के उपन्यासों की प्रभावात्मकता उनके पात्रों में निहित रहती है। वे पात्र पाठकों को अपने विचारों से प्रभावित करने में समर्थ होते हैं।

हेनरी जेम्स ने उपन्यासों के उपर्युक्त वर्गीकरण की आलोचना करते हुए लिखा है—'चरित्र-प्रधान और घटना-प्रधान उपन्यास का भेद पुरानी चीज है—निरर्थक। उपन्यास केवल दो प्रकार के होते हैं—अच्छे उपन्यास, और बुरे उपन्यास; वे जो सजीव हैं और वे जो निर्जीव हैं।'

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपन्यासों का वर्गीकरण उपर्युक्त प्रकार से ही किया है। उन्होंने लिखा है—'उपन्यास के इन छह तत्वों में से कभी-कभी एक या दो तत्व प्रधान हो जाते हैं। उनकी प्रधानता के अनुसार उपन्यासों के भिन्न-भिन्न भेद हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, जिन उपन्यासों में पात्रों की प्रधानता होती है वे चरित्र प्रधान और जिनमें घटना की प्रधानता होती है उन्हें घटना-प्रधान उपन्यास कहते हैं।'

परंतु उपर्युक्त उद्धरणों से यह आशय नहीं समझना चाहिए कि उपन्यासों के इस दृष्टि से केवल दो ही भेद किये जाते हैं। कुछ आलोचकों ने इन दो भेदों के अतिरिक्त उसके और भी भेद किये हैं। उदाहरण के लिए श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने लिखा है—'उपन्यास-वाङ्मय की वृद्धि के साथ ही साथ उपन्यासों के प्रकार में भी असाधारण वृद्धि हुई है। आज दिन तो उपन्यासों के अनेक विभेद किये जाते हैं। इनमें से कुछ तो किसी विशेष तत्व, यथा घटना, चरित्र आदि की प्रधानता के आधार पर किये जाते हैं और कुछ वर्ण्य वस्तु के आधार पर। तत्वों की प्रधानता के आधार पर घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और घटना-चरित्र-प्रधान (नाटकीय) ये तीन मुख्य भेद किये जाते हैं। वर्ण्य वस्तु के विचार से धार्मिक सामाजिक, राजनीतिक, प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, यौन और प्राकृतिक (प्रकृति का अंकन करने वाले) आदि अनेक भेद किये जा सकते हैं। इन सभी प्रकार के उपन्यासों को प्रधान विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए इनके मुख्य चार भेद करना सुविधाजनक होगा, यथा घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, घटना-चरित्र-सापेक्ष या नाटकीय और ऐतिहासिक।'[1]

१. 'हिन्दी उपन्यास' (श्री शिवनारायण श्रीवास्तव), पृष्ठ ३१।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि चूँकि कथानक उपन्यास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है, अतः घटना-प्रधान उपन्यास को चरित्र-प्रधान उपन्यास से श्रेष्ठतर कहा जायगा। परन्तु सभी दृष्टियों से उस उपन्यास को उत्कृष्ट कहा जायगा, जिसमें सभी तत्वों का संयोजन उचित रूप में किया गया हो। वास्तव में उपन्यासों का उपर्युक्त वर्गीकरण उसके रूप-भेद के आधार पर ही किया जाता है।

(३) कथोपकथन और उसके उद्देश्य

कथोपकथन उपन्यास का तीसरा तत्व है। यह कथा का विकास करता तथा पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायक होता है। संक्षेप में, एक उपन्यास में निम्नलिखित उद्देश्यों से कथोपकथन का समावेश होता है—

(क) कथानक का विकास करना—

कथोपकथन के द्वारा उपन्यासकार अपनी कृति में वर्णित घटनाओं या दृश्यों में सजीवता लाता और उनके संगठन से कथानक का विस्तार करता है। अनावश्यक और अनपेक्षित रूप से विस्तृत तथा अरोचक कथोपकथन इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाते। कथोपकथन को प्रत्यक्षतः कथानक के सूत्र से संबंधित होना चाहिए; क्योंकि यदि ऐसा नहीं होगा तो कथानक की पारस्परिक क्रमबद्धता नष्ट हो जायगी और उसकी विविध घटनाओं में किसी प्रकार के सामंजस्य के अभाव में असंगति जान पड़ने लगेगी।

(ख) पात्रों की व्याख्या करना—

उपन्यास में कथोपकथन का सम्बंध कथानक और पात्रों से समान रूप से महत्वपूर्ण होते हुए भी पात्रों से विशेष होता है। पात्रों के, कथोपकथन के माध्यम से, जो विचार प्रकट होते हैं, वे ही पाठक को उनके प्रति नैकट्य का अनुभव करने देते हैं। कथोपकथन के द्वारा उपन्यासकार पाठकों को अपने पात्रों के विषय में विविध जटिल परिस्थितियों तथा अन्तर्द्वन्द्व संबंधी इतना प्रत्यक्ष बोध कराता है, जो अन्य किसी माध्यम से सम्भव नहीं है। कथोपकथन के द्वारा उपन्यासकार अपनी कृति के चरित्रों की व्याख्या करता है और उन्हें विकास की ओर अग्रसर करता है।

(ग) लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करना—

कथोपकथन लेखक के उद्देश्य को प्रकट और स्पष्ट करता है। बहुत से स्थलों पर लेखक अपनी बात को पाठकों के माध्यम से कहलाना चाहता है, वहाँ कथोपकथन ही उसके सहायक होते हैं।

उपर्युक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त उपन्यास में कथोपकथन के प्रयोग से अन्य भी बहुत से उद्देश्यों की पूर्ति होती है। उदाहरण के लिए कथोपकथन की सहायता से उपन्यासकार अपने इच्छित वातावरण की सृष्टि कर सकता है, जिसके लिए वह अन्य किसी माध्यम का आश्रय नहीं लेना चाहता।

कथोपकथन के गुण

कथोपकथन की सफलता तभी सम्भव है, जब वह आवश्यक गुणों से युक्त हो। उपयोगिता की दृष्टि से कथोपकथन के निम्नलिखित गुण बताये जा सकते हैं—

(क) उपयुक्तता—

कथोपकथन का सर्वप्रथम गुण उसकी उपयुक्तता है। यदि एक ओर उपयुक्त कथोपकथन किसी विशेष स्थल पर चमत्कार की सृष्टि कर सकता है तो दूसरी ओर अनुपयुक्त कथोपकथन उसमें दोष उत्पन्न कर सकता है। इसीलिए उपन्यासकार कथोपकथन को चमत्कार-सृष्टि का महत्वपूर्ण माध्यम मानकर उसका उपयोग करता है। कथोपकथन का उपन्यास की घटना, अवसर तथा वातावरण के उपयुक्त होना बहुत आवश्यक है।

(ख) अनुकूलता—

कथोपकथन का उद्देश्य कथानक का विकास तथा पात्रों का चित्रण करना है। इसीलिए उसके उपर्युक्त गुण, उपयुक्तता का संबंध घटना-औचित्य से है। परंतु चूँकि वह पात्रों का चित्रण भी करता है, इसलिए यह आवश्यक है कि वह विविध पात्रों के स्वभाव के अनुकूल हो, अन्यथा उनके चरित्र-विकास की दृष्टि से उसका महत्व नहीं होगा। यदि एक ओर कथोपकथन का पात्रों के स्वभाव से वैषम्य नहीं होना चाहिए तो दूसरी ओर उसे पात्रों के सामाजिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर के अनुकूल भी होना चाहिए।

(ग) सम्बद्धता—

कथोपकथन का एक गुण सम्बद्धता भी है। इसके अनुसार कथोपकथन के माध्यम से उपन्यासकार जिन बातों को कह रहा हो, या कहना चाहता हो, उनमें कथानक तथा पात्रों से किसी न किसी प्रकार का प्रत्यक्ष पारस्परिक संबंध अवश्य होना चाहिए। यों उपन्यास में रोचकता की सृष्टि के लिए स्वतंत्र कथोपकथन का भी स्थान होता है; परंतु विशेष बात यही है कि कथोपकथन का विषय प्रासंगिक नहीं होना चाहिए।

(घ) स्वाभाविकता—

कथोपकथन का समावेश उपन्यास में स्वाभाविक रूप से और आवश्यकता के अनुसार होना चाहिए। ऐसा नहीं प्रतीत होना चाहिए कि कोई कथोपकथन बलपूर्वक उपन्यास में समावेशित किया गया है। कथोपकथन का यह गुण उसमें तभी आ सकता है जब उसका विषय कृत्रिम या गढ़ा हुआ न हो। घटना-स्थल पर सहसा अनेक आवश्यक-अनावश्यक पात्रों का इकट्ठा हो जाना और टालू वार्तालाप उसमें स्वाभाविकता नहीं आने दे सकता।

(ङ) संक्षिप्तता—

कथोपकथन का संक्षिप्त होना उसकी प्रभावात्मकता में वृद्धि करता है। लम्बे कथोपकथन अस्वाभाविक और ऊब पैदा करने वाले होते हैं। छोटे कथोपकथन परिस्थितियों का परिचय देने की दृष्टि से अधिक सफल सिद्ध होते हैं।

(च) उद्देश्यपूर्णता—

उपन्यास में प्रत्येक कथोपकथन सोद्देश्य होना चाहिए। उद्देश्यरहित कथोपकथन फीके और अनावश्यक प्रतीत होते हैं। वास्तव में कथोपकथन को या तो पात्रों के चरित्र का चित्रण करना चाहिए और या कथानक के विकास में सहायक होना चाहिए। इसलिए कथोपकथन को या तो किसी पात्र की किन्हीं विशेष परिस्थितियों में मानसिक प्रतिक्रिया को मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रस्तुत करना चाहिए और या घटना विषयक जटिलताओं का परिचय देना चाहिए।

इनके अतिरिक्त एक और उद्देश्य कथोपकथन की सृष्टि के पीछे हो सकता है। कथोपकथन के द्वारा यह भी दिखाया जा सकता है कि एक उपन्यास के दो विरोधी पात्र किस प्रकार एक दूसरे के मन की थाह लेने का प्रयत्न करते हैं। कथोपकथन का उद्देश्य किसी विशेष स्थल पर किसी महत्वपूर्ण शुभ या अशुभ भावी घटना का पूर्व-संकेत भी हो सकता है।

(४) देश-काल

उपन्यास की विविध घटनाओं, उसके विविध पात्रों, तथा उनके क्रिया-कलापों और विभिन्न परिस्थितियों में उनकी प्रतिक्रियाओं को एक पाठक तब सम्भावित या किसी सीमा तक यथार्थ समझता है, जब वह देखे कि उसकी पृष्ठभूमि किस सीमा तक देश-काल का सही वातावरण और लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। यह तथ्य उपन्यास के कथानक तथा पात्रों दोनों के लिए समान रूप से सीमाएँ निर्धारित करता है, जिनका अतिक्रमण करने से कृति अशक्त बन जाने का भय रहता है। यदि कोई उपन्यासकार देश-काल का बंधन नहीं मानेगा, तो उसकी कृति में किसी भी युग की सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण मिलना सम्भव नहीं होगा। देश-काल के अंतर्गत किसी भी देश या समाज की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियाँ, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति- रिवाज तथा समाज की कुरीतियाँ या विशेषताएँ आदि समझी जाती हैं।

डॉ० गुलाबराय ने लिखा है—'देशकाल के चित्रण में सदा इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कथानक के स्पष्टीकरण का साधन ही रहे, स्वयं साध्य न बन जाय। जहाँ देश-काल का वर्णन अनुपात से बढ़ जाता है वहाँ उससे जी ऊबने लगता है, लोग जल्दी-जल्दी पन्ने पलटकर कथा-सूत्र को ढूँढ़ने लग जाते हैं। देश-काल का वर्णन कथानक को स्पष्टता देने के लिए होना चाहिए न कि उसकी गति में बाधा डालने के लिए। .... देश-काल वातावरण का बाहरी रूप है। वातावरण मानसिक भी हो सकता है। आदमी जिस प्रकार के समाज में रहता है वैसा ही वह काम भी करने लग जाता है। प्राकृतिक चित्रण भी उद्दीपन रूप से पात्रों की मानसिक स्थिति या मूड (Mood) को निश्चित करने में सहायक होते हैं। प्रकृति और पात्रों की मानसिक स्थिति का सामंजस्य पाठक पर अच्छा प्रभाव डालता है और उपन्यास में काव्यत्व भी ले आता है, जैसे किसी के मरते समय दीपक का बुझ जाना, सूर्य का अस्त हो जाना अथवा घड़ी का बंद हो जाना वातावरण में अनुकूलता उत्पन्न कर शब्दों को एक विशेष शक्ति प्रदान कर देता है।'[1]

१. काव्य के रूप (डा० गुलाबराय), पृ० १८७।

देश-काल के भेद

देश-काल को प्रायः वातावरण का वाह्य रूप या प्रकार कहा जाता है। इस दृष्टि से इसके जो भेद किये जाते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

१. सामाजिक
२. प्राकृतिक तथा
३. ऐतिहासिक

प्रथम के अंतर्गत प्रायः सामाजिक दशा का यथार्थ चित्रण किया जाता है। इसमें यह बताया जाता है कि किसी काल विशेष में किसी विशिष्ट समाज में कौन-कौन सी परिस्थितियाँ थीं। सामाजिक जीवन से संबंध रखने वाले सभी वर्णन, वेश-भूषा, भाषा, रीति-रिवाज, सामाजिक वर्ग, शिक्षा, संस्कृति, व्यापार आदि इसके अंतर्गत आते हैं। इस प्रकार के चित्रणों में मुख्य रूप से तीन बातें ध्यान में रखना आवश्यक है—

—पहली यह कि इन विभिन्न वर्णनों में उपन्यासकार अपनी उपेक्षा प्रकट न करे, अर्थात् इनके चित्रण में सूक्ष्मता प्रदर्शित करे। वह जितना सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न होगा, उतनी ही गहनता से उनका विश्लेषण प्रस्तुत करने में सफल होगा।

—दूसरी यह कि समाज की दशा का जो वर्णन किया जाय, वह यथार्थ हो और उसमें अस्वाभाविकता या कृत्रिमता न आने पाये।

—तीसरी यह कि उपर्युक्त दोनों विशेषताओं के साथ ही उसे अपनी वर्णन-शैली में अधिक से अधिक प्रभावात्मकता लाने का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा वे वर्णन नीरस हो जायँगे और उनमें कोई आकर्षण न रहेगा।

द्वितीय अर्थात् प्राकृतिक के अंतर्गत कभी-कभी उपन्यासकार अपनी कथा के पात्रों के सुख-दुख के साथ प्रकृति की समता-विषमता को बड़े नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करता है। इससे घटना की प्रभावात्मकता में वृद्धि होती है और वातावरण की अनुकूलता भी सार्थक होती है। इस प्रकार के चित्रणों के प्रायः निम्नलिखित दो मुख्य उद्देश्य होते हैं—

—पहला, कथानक के प्रवाह में योग देते हुए उसमें अपेक्षाकृत अधिक मार्मिकता समावेशित करना।

—दूसरा, भिन्न-भिन्न पात्रों के चरित्रों की विशेषताओं को अधिक स्पष्टता प्रदान करना।

तृतीय अर्थात् ऐतिहासिक की आवश्यकता प्राय: ऐतिहासिक उपन्यासों में ही होती है। ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल के विषय में अधिक सतर्क रहना पड़ता है। इस दृष्टि से उसमें मुख्य बात यह देखी जाती है कि कहीं काल-दोष न आने पाये तथा साथ ही कोई वर्णन इतिहास-विरुद्ध भी न हो जाय।

देश-काल और स्थानीय रंग

स्थानीय रंग से सामान्यतया 'लोकल कलर' से तात्पर्य समझा जाता है। स्थानीय रंग का महत्व दो कारणों से बढ़ जाता है। एक तो यह कि इसके होने से उपन्यास में प्रभावात्मकता आ जाती है, तथा दूसरे यह कि उसकी कृत्रिमता नष्ट हो जाती है और स्वाभाविकता बढ़ जाती है। ये ही कुछ कारण हैं जिनके लिए उपन्यासों में स्थानीय रंग देना आवश्यक समझा जाता है। स्थानीय रंग ऐतिहासिक, राजनैतिक तथा सामाजिक उपन्यासों में समान रूप से महत्व रखता है।

जो आलोचक उपन्यासों में स्थानीय रंगों की बहुलता का विरोध करते हैं, उनका यह विचार होता है कि उनके कारण वह काफी बोझिल बन जाता है एवं उसका प्रचार अधिक नहीं हो पाता। उनकी यह धारणा होती है कि उसमें प्रस्तुत की गयी स्थानीय विशेषताएँ स्वत: उसकी सीमाएँ निर्धारित कर देती हैं और वह उपन्यास किन्हीं विशेष क्षेत्रीय वर्गों का ही अधिक मनोरंजन कर सकने योग्य होता है। अन्य उपन्यासों की अपेक्षा इसीलिए इसका क्षेत्र संकुचित हो जाता है। वास्तव में प्राकृतिक भिन्नता जहाँ एक ओर मानव-हृदय में नवीनता के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने में सहायक होती है, वहाँ दूसरी ओर उसके समावेश से कोई कृति एक विशेष समाज की वस्तु बनकर रह जाती है और सबको समान रूप से ग्राह्य नहीं हो पाती।

देश-काल और विविध वर्णनों की सीमाएँ

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि देश-काल के संबंध में सबसे बड़ी बात यह है कि वह संतुलित और आनुपातिक हो। यह एक भिन्न बात है कि विविध विषयों से संबंध रखने वाले वर्णन कहाँ तक इसके उपयुक्त होते हैं। परंतु

इस प्रकार के वर्णनों को अनिवार्य रूप में रोचकता से युक्त होना चाहिए क्योंकि ये रोचक होने पर लेखक की सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्नता और मनोरम चित्रण-क्षमता का परिचय पाठकों को देते हैं, परंतु रोचक न होने पर कथा-प्रवाह में बाधक भी सिद्ध हो सकते हैं।

(५) शैली

शैली के गुण

शैली के द्वारा उपन्यासकार अपनी कृति को अधिक आकर्षक और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार जिस ढंग से अपने विचार और भावनाओं को अभिव्यक्ति देता है, उसी को शैली कहते हैं। आधुनिक उपन्यासों की सफलता बहुत कुछ उसकी शैली पर ही निर्भर करती है। शैली के गुण निम्नलिखित हो सकते हैं—

(क) सरलता—

सरलता शैली का सर्वप्रथम गुण है। सदैव सरल शैली ही उपन्यास को सफल बनाती है। शैली की क्लिष्टता उपन्यास का एक दोष है, जो उसे सर्वग्राह्य नहीं बनने देता।

(ख) रोचकता—

यह शैली का दूसरा गुण है। उपन्यास का विषय और कथा कैसी भी आकर्षक क्यों न हो, यदि उसकी शैली में रोचकता न होगी, तो बहुत कम पाठकों में इतना धैर्य होगा कि वे उसका पारायण कर सकें।

(ग) प्रवाहपूर्णता—

यह शैली का तीसरा गुण है। जो शैली प्रवाह से पूर्ण होगी, वही पाठकों को अपने रस में बहा ले जाने में समर्थ होगी। प्रवाहमयता का गुण उसमें सभी तत्वों के उचित संतुलन से आता है।

शैली के प्रकार

सामान्यत: उपन्यासों की नीचे लिखी शैलियाँ होती हैं—

(क) वर्णनात्मक शैली—

यह उपन्यास-लेखन में प्रयुक्त होने वाली प्रमुख शैली है। इसमें उपन्यासकार

तृतीय पुरुष के रूप में कथा को विस्तार देता है। जो कुछ वह लिखना चाहता है, उसे वर्णनात्मक शैली में लिखता है।

वर्णनात्मक शैली के गुण—

(i) उपन्यासकार की सर्वज्ञता—

इसमें उपन्यासकार एक सर्वज्ञ के रूप में सामने आता है। कोई भी विषय उसकी पहुँच के बाहर नहीं होता।

(ii) प्रत्येक पात्र की भावनाओं की अभिव्यक्ति—

इसमें चूँकि उपन्यासकार एक सृष्टा के रूप में आता है, स्वयं कोई पात्र नहीं होता, इसलिए वह उपन्यास के प्रत्येक पात्र की भावनाओं को अभिव्यक्ति दे सकता है। इस शैली का विस्तार-क्षेत्र बहुत अधिक है।

वर्णनात्मक शैली के दोष—

(i) प्रभावहीनता—

वर्णनात्मक शैली उपन्यास की सर्वाधिक प्रचलित शैली है। परंतु इस शैली की सफलता उपन्यास के अन्य तत्वों के सफलतापूर्वक निर्वाह पर निर्भर करती है। साथ ही, सीधे-सादे वर्णनों से पाठक और लेखक के बीच में भावात्मक एकता बहुत कम स्थापित हो पाती है, क्योंकि पाठक केवल एक दर्शक की भाँति सारी कथा को पृष्ठों पर देखता चला जाता है, प्रत्यक्ष रूप में अपने आपको किसी पात्र या लेखक से सम्बद्ध नहीं पाता।

(ii) चमत्कारहीनता—

वर्णनात्मक शैली सामान्यतम उपन्यास-शैली है, अत: इसमें कोई नवीनता या चामत्कारिकता की सृष्टि करना बहुत कठिन होता है। उसमें कोई आकर्षण नहीं मालूम होता, क्योंकि यह पाठकों को सहज रूप से चिर-परिचित प्रतीत होती है।

(ख) आत्मकथात्मकशैली—

जब उपन्यासकार किसी उपन्यास के प्रमुख पात्र या पात्री, अथवा अन्य किसी पात्र या पात्री का स्थान ग्रहण करके प्रथम पुरुष की ओर से कथा का वर्णन करता है, तब उस शैली को आत्मकथात्मक शैली कहा जाता है।

आत्मकथात्मक शैली के गुण—

(i) पाठक से नैकट्य—

इस शैली में चूँकि उपन्यासकार स्वयं एक चरित्र होता है, अतः वह पाठक के समक्ष इस प्रकार से कथा को रखता है कि वह कथाकार से एक प्रकार की निकटता की भावना का अनुभव करने लगता है।

(ii) प्रभावपूर्णता—

यह शैली अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होती है। क्योंकि इसमें उपन्यास का वह पात्र, जो कथा कहता है, पाठक पर प्रत्यक्ष रूप में अपना प्रभाव डालने में समर्थ होता है।

(iii) भावमयता—

यह शैली उपन्यास की अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक भावमय होती है, क्योंकि इसमें पात्रों को इस बात का पूर्ण अवसर मिलता है कि वे अपने भावों में बहें और पाठकों की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न करें। चूँकि इसमें वे पाठक के प्रति प्रत्यक्ष सम्बोधन करते हैं, इसलिए उन्हें इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त होती है।

आत्मकथात्मक शैली के दोष—

(i) सीमा-संकोच—

इस शैली का सबसे बड़ा दोष है इसकी सीमाएँ। वह पात्र जो अपनी कथा कह रहा है, किसी भी दूसरे पात्र के विषय में अधिकारपूर्वक कोई बात नहीं कह सकता। यही नहीं, वह किसी भी ऐसी घटना का वर्णन नहीं कर सकता, जहाँ उसकी उपस्थिति न हो और प्रत्येक स्थल पर उसका प्रवेश स्वभावतः असम्भव होता है।

(ii) अपूर्ण चरित्र-चित्रण—

आत्मकथात्मक शैली में उपन्यासकार एक पात्र के विषय में तो इतनी अधिक बातें कह सकता है कि सम्भव है और कुछ कहने को ही न रह जाय, परंतु अन्य किसी भी पात्र के विषय में उससे अधिक कुछ भी नहीं कह सकता, जितनी पाठक भी जानता है। इसीलिए इसमें कथा कहने वाले पात्र का चरित्र-चित्रण तो बहुत प्रभावशाली होता है, परंतु अन्य पात्रों का चित्रण अपूर्ण रह जाता है।

(ग) पत्रात्मक शैली—

इस शैली में उपन्यासकार सम्पूर्ण कथा को पत्रों के रूप में प्रस्तुत करता है। इस शैली के नीचे लिखे रूप हो सकते हैं—

(i) एक पात्र के पत्र—

इसमें सम्पूर्ण कथा केवल एक पात्र के पत्रों के रूप में प्रस्तुत की जाती है।

(ii) दो पात्रों के पत्र—

इसमें दो पात्रों के पत्रोत्तर के रूप में कथा प्रस्तुत की जाती है।

(iii) दो से अधिक पात्रों के पत्र—

इसमें दो से अधिक पात्रों के पत्रोत्तर के रूप में कथा प्रस्तुत की जाती है। यह पत्रोत्तर एक क्रम मे भी हो सकता है और क्रम-रहित भी।

पत्रात्मक शैली के गुण—

(i) चमत्कार-सृष्टि—

यह शैली अपेक्षाकृत कम प्रचलित है। इसीलिए इसमें चमत्कार-सृष्टि की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं।

(ii) सफल चरित्र-चित्रण—

इस शैली में जितने भी पात्रों के पत्र होंगे, वे अपने हृदय की बात खोलकर कह सकेंगे, जो अन्य शैलियों में सम्भव नहीं है।

(ii) कथात्मक ठोसपन—

इस शैली का एक गुण यह भी है कि इसमें कथा अपने ठोस रूप में उभरकर आती है, और अनावश्यक तथा आडम्बरपूर्ण अंश निकल जाते हैं।

पत्रात्मक शैली के दोष—

(i) घटना-संगठन का अभाव—

इस शैली में चूँकि प्रत्येक पात्र एक प्रकार से आप बीती सुनाने लगता है, अतः उसमें घटनाओं का संगठन-संयोजन भली प्रकार नहीं हो पाता।

(ii) कथा-निर्वाह की सीमाएँ—

इस शैली में कथा का निर्वाह करना बहुत कठिन काम है, क्योंकि बिना पूर्व-निश्चित योजना के इस शैली की सफलता कठिन है।

(घ) डायरी-शैली—

उपन्यास-रचना की चौथी शैली डायरी-शैली है। इस शैली के नीचे लिखे रूप हो सकते हैं—

(i) एक पात्र की डायरी—

इसमें कथा एक पात्र की डायरी के रूप में प्रस्तुत की जाती है।

(ii) दो पात्रों की डायरी—

इसमें कथा दो पात्रों की डायरी के रूप में प्रस्तुत की जाती है।

(iii) दो से अधिक पात्रों की डायरी—

इसमें कथा दो से अधिक पात्रों की डायरी या डायरी के अंशों के रूप में प्रस्तुत की जाती है।

चूँकि डायरी-शैली का पत्रात्मक शैली से बहुत अंशों में साम्य है, अत: इसके गुण और दोष पत्रात्मक शैली की ही भाँति हैं।

(ङ) मिश्रित शैली—

उपन्यास-रचना की पाँचवीं शैली मिश्रित शैली है। इस शैली में वर्णनात्मक-शैली, आत्मकथात्मक शैली, पत्रात्मक शैली तथा डायरी-शैली का मिश्रण रहता है और इनमें से दो या उससे अधिक शैलियों का एक साथ प्रयोग किया जाता है। सीमा-विस्तार की दृष्टि से इसकी सम्भावनाएँ ही सबसे-अधिक हैं।

मिश्रित शैली के गुण—

(i) क्षेत्र-विस्तार—

इस शैली में उपन्यासकार चूँकि अन्य सभी शैलियों का प्रयोग कर सकता है, अत: उसके लिए बहुत छूट रहती है और वह विविध शैलियों की सीमाओं के अनुसार उन्हें प्रयुक्त करता है।

(ii) चामत्कारिकता—

इस शैली में चमत्कार सृष्टि की सम्भावनाएँ अन्य सभी शैलियों की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि यह सदैव नवीनतर शैली हो सकती है।

मिश्रित शैली के दोष—

(i) अप्रौढ़ता—

चूँकि इस शैली में किसी भी शैली की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया जा सकता अत: कृति अप्रौढ़ रह जाती है।

(ii) शैलियों की खिचड़ी—

चूँकि इस शैली में अन्य सभी शैलियों का मिश्रण होता है अतः यह उनकी खिचड़ी-सी मालूम पड़ती है और इसमें कलात्मकता नहीं आ पाती।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि शैली का महत्व इसलिए अधिक है कि इसी के माध्यम से उपन्यासकार अपनी कृति में प्रभावात्मकता उत्पन्न करता है तथा उसे आकर्षक बनाता है। आधुनिक उपन्यासों में शैली की दृष्टि से काफी नवीनता मिलती है। आधुनिक युग में उपन्यास साहित्य के समृद्ध और उन्नत होने का एक कारण यह भी है कि शैली के क्षेत्र में उसने बहुत प्रगति की है।

(६) उद्देश्य

उपन्यास आधुनिक युग में, साहित्य के सभी अंगों में, अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम माना जाता है। इस दृष्टि से उसकी समता अन्य कोई साहित्यांग नहीं कर सकता। वास्तव में उपन्यासकार अपनी कृति में किसी विशिष्ट दृष्टिकोण का सहारा लेता है और उसके आधार पर मानव-जीवन का मूल्यांकन करते हुए अपने जीवन-दर्शन का स्पष्टीकरण करता है। वह मनुष्य के जीवन के विविध पहलुओं को गहराई से देखने-परखने की चेष्टा करता है। इस संबंध में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि उपन्यास में अभिव्यक्त विचारों को उसके दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में रखकर ही समझा जा सकता है। अर्थात् यह समझना भूल हो सकती है कि उसमें जो कुछ भी और जहाँ कहीं भी कहा गया है, वह उस लेखक का अपना विचार या मान्यता है। यही एक कारण है जिसके लिए कभी-कभी यह समझना कठिन हो जाता है कि किसी कृति में लेखक की अपनी मान्यताएँ तथा स्थापनाएँ क्या हैं। बहुधा ऐसा होता है कि कथा के नायक के माध्यम से लेखक अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है तथा अन्य पात्रों द्वारा उन्हीं के खंडन-मंडन का प्रयत्न करता है। निश्चय ही यह बौद्धिक क्षेत्र में एक नयी विचारधारा होती है, यदि लेखक वास्तव में महान् कलाकार है, अन्यथा ये कृतियाँ सामान्य रूप से मनोरंजन की वस्तु समझी जाती हैं और थोड़े ही समय में उनका जीवन समाप्त हो जाता है। इसीलिए अनेक आधुनिक आलोचकों के मत के अनुसार जीवन-दर्शन से रहित उपन्यास, कुल मिलाकर, एक अशक्त कृति कही जायगी।

वास्तव में बात यह है कि जहाँ एक ओर उपन्यास का प्रचार-प्रसार आधुनिक युग में बढ़ गया है, वहाँ उसके उत्तरदायित्व भी कुछ बढ़ गये हैं। यही कारण है कि आज उपन्यास को केवल एक मनोरंजन के साधन के रूप में ही पाठक नहीं ग्रहण और स्वीकार करना चाहते। वे एक प्रखर और स्पष्ट जीवन-दर्शन की माँग करते हैं। कोई भी ऐसा कलाकार, जो गहन दृष्टि सम्पन्न नहीं है, इस माँग की पूर्ति नहीं कर सकता। उपन्यास की इस कसौटी पर खरे-खोटे को आँकना ही इस बात का परिचायक है कि अब सस्ते उपन्यासों का कोई महत्व नहीं होता। यही नहीं, उनका प्रचार थोड़े समय तक भी नहीं रह पाता, तथा बहुत अल्पकाल में ही वे नष्ट हो जाते हैं या साहित्यिक दृष्टि से महत्वहीन हो जाते हैं।

गुलाबराय जी ने उपन्यास के तत्वों पर विचार करते हुए निष्कर्ष रूप में लिखा है—'उपन्यास साहित्य के वर्तमान विकास ने इन तत्वों की परम्परा बहुत अंश में निरर्थक-सी कर दी है। अब न तो कथानक में व्यवस्था और शृंखला का पहला-सा मान रहा है और न चरित्र-चित्रण में संगति और सम्बद्धता का आग्रह है। मनुष्य क्षणिक मनोदशाओं (Moods) का समूह-सा दिखायी देता है और अवचेतना का द्वार खुल जाने से मानसिक जीवन और भी संकुल हो गया है। वह व्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है। यह विधा नितान्त नियमहीन तो नहीं है, किंतु एक गतिशील वस्तु को नियमों में बाँधना कठिन है। पिछले नियमों और तत्वों में बहुत कुछ सार है। विद्यार्थियों को उनका जानना आवश्यक है, किंतु उन सबको पत्थर की लकीर समझ लेना या उनके आंशिक अभाव के कारण किसी कथाकृति को निंद्य ठहरा देना कलाकार के साथ अन्याय होगा। नये कलाकारों को सहृदयता-पूर्वक समझने की आवश्यकता है।'[१]

उपन्यास के उद्देश्य पर विचार करते हुए डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है, 'उपन्यासों में मुख्यत: यही दिखलाया जाता है कि पुरुषों और स्त्रियों के विचार भाव और पारस्परिक सम्बंध कैसे हैं, वे किन-किन कारणों अथवा प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कैसे-कैसे कार्य करते हैं; अपने प्रयत्नों में वे किस प्रकार सफल अथवा विफल होते हैं; और इन सबके फलस्वरूप उनमें कैसे-कैसे मनोविकार आदि उत्पन्न होते

१. 'काव्य के रूप' (डा० गुलाबराय), पृष्ठ १९५।

हैं। उपन्यास लेखक का जीवन के किसी एक अथवा अनेक अंगों के साथ बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है; इसलिए किसी न किसी रूप में यह प्रकट करना उसका कर्तव्य हो जाता है कि जीवन के साधारण और असाधारण सभी व्यापारों का उस पर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा है। कुछ विशेष सिद्धान्तों अथवा विचारों के प्रतिपादन के उद्देश्य से तो बहुत ही कम उपन्यास लिखे जाते हैं, पर सभी उपन्यासों में कुछ न कुछ विशेष विचार अथवा सिद्धांत आप से आप आ जाते हैं।'[1]

हेनरी जेम्स के विचार के अनुसार 'उपन्यास के अस्तित्व का एक मात्र कारण यही है कि वह जीवन का प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न करता है। जब वह इस प्रयत्न को त्याग देता है, उसी प्रयत्न को जिसे हम चित्रकार के टाट (पटुवे का बना हुआ एक मोटा कपड़ा) पर देखते हैं, तब वह एक विलक्षण स्थिति पर आ जाता है। (चित्रकार के) चित्र से यह आशा नहीं की जाती कि वह स्वयं को इतना सामान्य कर देगा कि भुला दिया जाय। और चित्रकार की कला तथा उपन्यासकार की कला में, जहाँ तक मैं समझता हूँ, पूर्ण समानता है। उन (दोनों) की प्रेरणा समान है, उनकी प्रणाली (विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग करने की) समान है एवं उनकी सफलता भी समान है। वे एक-दूसरे से सीख सकते हैं तथा एक-दूसरे की व्यवस्था एवं रक्षा कर सकते हैं। उनके कारण समान हैं तथा एक का सम्मान दूसरे का सम्मान है।'[2]

आधुनिक युग से पूर्व उपन्यास को केवल मनोरंजन का एक साधन समझा जाता था और उसका उद्देश्य केवल जी बहलाना मात्र था। इससे यह भी स्पष्ट है कि जीवन-दर्शन की विवेचना करना उपन्यास का काम नहीं होता था और न ही कोई उससे उसकी आशा करता था। परंतु आज किसी भी श्रेष्ठ उपन्यास के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में उपन्यास से जीवन-दर्शन की आशा तभी की जा सकती है, जब उसके लेखक में विचारशीलता और विवेक का अभाव न हो। लेकिन जीवन-दर्शन होने से यह आशय न समझना चाहिए कि उपन्यास में

१. 'साहित्यालोचन' (डा० श्यामसुन्दर दास), पृष्ठ १७५।

२. 'आधुनिक साहित्य' (प्रतापनारायण टंडन), 'हेनरी जेम्स के उपन्यास-कला पर विचार', शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ ३४।

केवल दार्शनिक सिद्धांतों या जीवन के गूढ़ तत्वों की ही विवेचना होनी चाहिए। यदि कोई उपन्यास इस दृष्टिकोण से लिखा जायगा, तो निस्संदेह वह इन सारी विशेषताओं के बावजूद एक शुष्क और अरोचक कृति होगी। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि इनका समावेश उपन्यास में केवल उसी सीमा तक होना चाहिए, जिस सीमा तक वे उसकी गुरुता की वृद्धि कर सकें, तथा साथ ही उपन्यासकार के जीवन-दर्शन को स्पष्ट करने में सहायक हो सकें।

कथानक के अभाव में उपन्यास की रचना सन्दिग्ध है

किसी उपन्यास की रचना विविध मानव-व्यापारों और घटनाओं के आधार पर की जाती है। इनके अभाव में किसी सप्राण उपन्यास की रचना सन्दिग्ध हो सकती है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने उपन्यास में इसी तत्व की साज-सँवार को आवश्यक बताया है। उन्होंने लिखा है कि कथा में मानव-चरित्र का विकास प्रदर्शित किया जाता है। और चूँकि उसका सफल प्रदर्शन ही मुख्य बात है, अतः इस तत्व का महत्व सर्वोपरि है।[१] डा० भगीरथ मिश्र ने भी कथानक की अनिवार्यता सिद्ध करते हुए लिखा है—'यद्यपि आधुनिक काल में कथानक का महत्व कम समझा जाता है, पर यह उपन्यास का मूल है। उपन्यास में व्याप्त कुतूहल का तत्व कथानक के सहारे ही विकास पाता है। उपन्यास का समग्र रूप कथानक के ढाँचे पर ही विकसित होता है। कथानक का चुनाव और निर्माण उपन्यासकार की प्रमुख विजय है और लेखन के कौशल का संकेत इसमें मिल जाता है। कथानक के समस्त अंगों का सुंदर संगठन, घटनाओं का समुचित विन्यास उपन्यास को सुंदर बनाने के लिए आवश्यक होता है। यह धारणा भ्रान्त है कि उपन्यास में कथानक का कोई महत्व नहीं, या सामान्य कथानक को भी वर्णन-कौशल द्वारा उत्तम बनाया जा सकता है। क्योंकि यदि वर्णन-कौशल के साथ कथानक की उत्कृष्टता भी मिल जाय तो मणि-कांचन योग होगा।'[२] इसी प्रकार श्री श्याम जोशी ने कथानक को उपन्यास का मूल बताते हुए लिखा है, 'उपन्यास का जो अस्थि-पंजर है वह कथानक ही है। यह कथानक ही वह मूल आधार है जिस पर उपन्यास का भव्य भवन खड़ा किया जाता है। अतः जब तक यह आधार पुष्ट न होगा, इस पर खड़ा किया गया भवन भी दृढ़

१. दे० 'साहित्य परिचय', पृष्ठ ६२।

२. 'काव्यशास्त्र' (डा० भगीरथ मिश्र), पृष्ठ ८३।

नहीं बन सकता। यदि यह आधार ही समतल न हुआ और उसके बीच में संधियाँ रह गयीं, तो भवन के खण्ड-खण्ड हो जाने की सम्भावना है।''[1]

कथानक-तत्व की प्रधानता के कारण ही इसके चुनाव को एक महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। क्योंकि सामान्यत: जिस उपन्यास का कथानक जितना सुगठित और ठोस होता है, वह उतना ही महत्वपूर्ण बन जाता है। परंतु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अनिवार्य रूप से यह आवश्यक नहीं है कि यदि किसी उपन्यास का कथानक ठोस है तो वह उपन्यास निश्चय ही श्रेष्ठ और सफल होगा; और यदि किसी उपन्यास का कथानक ठोस नहीं है, तो वह श्रेष्ठ और सफल कृति नहीं हो सकता। वास्तव में किसी उपन्यास की सफलता उसके रचयिता की प्रतिभा और क्षमता पर ही निर्भर है। यदि उसमें योग्यता है तो वह किसी अशक्त कथानक को लेकर भी एक महत्वपूर्ण कृति की सृष्टि कर सकता है और यदि उसमें प्रतिभा का अभाव है तो वह अच्छे से अच्छे कथानक का भी भली भाँति उपयोग कर सकने में असमर्थ रहेगा। परंतु प्रत्येक स्थिति में कथानक की अनिवार्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपन्यास के तत्वों में कथानक की प्रधानता के कारण

सामान्य रूप से उपन्यास के छै मुख्य तत्व माने जाते हैं— (१) कथावस्तु, (२) पात्र या चरित्र-चित्रण, (३) कथोपकथन, (४) देश-काल, (५) शैली तथा (६) उद्देश्य। परंतु कुछ विद्वान इन छै तत्वों से अलग एक सातवाँ तत्व 'रस' अथवा 'भाव' भी मानते हैं।[2] कोई उपन्यासकार इन विभिन्न तत्वों को दृष्टि में रखकर ही अपनी कृति को अधिक प्रभावशाली बना सकता है; किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यदि इनमें से किसी तत्व पर अधिक और किसी पर कम बल

१. 'उपन्यास सिद्धांत' (श्री श्याम जोशी), पृष्ठ ९१।

२. डाक्टर श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन', डाक्टर गुलाबराय ने 'काव्य के रूप' तथा डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य का साथी' नामक अपनी पुस्तकों में उपन्यास के इन्हीं तत्वों को मुख्यता दी है। यों कुछ लोग—उदाहरण के लिए 'उपन्यास-सिद्धांत' नामक पुस्तक के लेखक श्री श्याम जोशी—इनसे अलग एक सातवाँ तत्व 'काव्यत्व' भी मानते हैं। परन्तु प्रमुखता सभी ने उपर्युक्त छै तत्वों को ही दी है।

दिया गया हो, तो उपन्यास-लेखक अपनी कृति को सशक्त नहीं बना सकता। वास्तव में कोई उपन्यासकार अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार इनमें से प्रत्येक पर अथवा केवल कुछ की ओर विशेष ध्यान देकर भी अपनी कृति को महत्वपूर्ण बना सकता है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आधुनिक युग के पूर्व तक प्रायः सभी आलोचक एकमत होकर उपन्यास के कथानक-तत्व को ही प्रधान मानते थे। आज भी इसे उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कथा-साहित्य में इस तत्व की अनिवार्यता बताते हुए लिखा है—'...... उपन्यास या कहानी, और कुछ हो या न हो, एक कहानी या कथा जरूर है। कहानी या कथा में जो बातें आवश्यक हैं, वे उनमें अवश्य होनी चाहिए। कोई उपन्यास (या छोटी कहानी) सफल है या नहीं, इस बात की प्रथम कसौटी यह है कि कहानी कहने वाले ने कहानी ठीक-ठीक सुनायी है या नहीं—अनावश्यक बातों को तूल तो नहीं दिया है, जहाँ-जहाँ कहानी अधिक मर्मस्पर्शी हो सकती थी वहाँ-वहाँ उसने उसे उचित रीति से सम्हाला है या नहीं, छोटी-छोटी बातों में ही उलझकर तो नहीं रह गया, प्रसंगवश आयी हुई घटना का इतना अधिक वर्णन तो नहीं करने लगा जिससे पाठक का जी ही ऊब जाय, और सौ बात की एक बात यह कि वह शुरू से अंत तक सुनने वाले की उत्सुकता जाग्रत रखने में नाकामयाब तो नहीं रहा। कहानीपन इस साहित्य की प्रथम शर्त है।'[1]

वास्तव में उपन्यास के तत्वों में कथानक की प्रधानता का कारण यही है कि इसके अभाव में न केवल उपन्यास की रचना नहीं हो सकती, बल्कि उपन्यास एक कथा-कृति ही नहीं बन सकता। उपन्यास के जो दायित्व हैं, उनका निर्वाह भी आधार रूप से इसी तत्व पर निर्भर होता है। विशेष रूप से आजकल उपन्यास के जिस दायित्व पर बल दिया जाता है, वह है मानव-जीवन की व्याख्या तथा मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित दर्शन। स्पष्ट है कि इसका निर्वाह तब तक सम्भव नहीं है, जब तक एक विस्तृत कथानक की पृष्ठभूमि न हो। यही कारण है कि कथानक को उपन्यास के अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है।

१. 'साहित्य का साथी' (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ ८२।

अध्याय १

हिन्दी उपन्यास के प्रेरणा-स्रोत तथा कथा-शिल्प के आदि रूप

प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य

प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य के अंतर्गत जो-जो कथाएँ आती हैं, वे प्राय: निम्नलिखित युगों की हैं और इन्हीं के साहित्य पर आधारित हैं—

(क) वैदिक कथाएँ
(ख) संस्कृत कथाएँ
(ग) पालि कथाएँ
(घ) प्राकृत कथाएँ
(ङ) अपभ्रंश कथाएँ

ऋग्वेद में जो कथाएँ मिली बतायी जाती हैं, वे कथाएँ न होकर कथाओं के बीज हैं। वास्तव में यह मंत्रों का संकलन है, जिसमें कथोपकथन का होना ही कथा का मूल कहा जा सकता है। इन्हें संवाद-सूत्र भी कहा जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि कथा-साहित्य का मूल उद्गम-स्रोत ये ही सूत्र हैं।

प्राचीन साहित्य में अनेक उपदेशात्मक आख्यानों के मूल भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'अपाला' आदि की कथा का नाम लिया जा सकता है। लेकिन यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि जो कथाएँ अपने बीज रूप में ऋग्वेद में मिलती हैं, वे ही परवर्ती साहित्य में किंचित् विस्तार से उपलब्ध होती हैं। 'निरुक्त' में इन कथाओं के मूल आधार को बताने का प्रयत्न किया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऋग्वेद को ही आधुनिक कथा-साहित्य का उद्गम-स्थल माना जाता है। इस संबंध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह ध्यान में रखने की है कि प्राय: सभी परवर्ती आख्यान ऋग्वेद में बीज रूप में उपलब्ध हैं। इनका विस्तार से वर्णन 'उपनिषद्', 'निरुक्त', 'बृहद्देवता', 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' तथा पुराण आदि में मिलता है। अपाला, हरिश्चंद्र, उर्वशी-पुरूरवा आदि की कथाएँ इसी कोटि में आती हैं।

उपनिषदों का कथा-साहित्य

उपनिषदों में जिन कथाओं के संकेत मिलते हैं, वे प्रायः धार्मिक हैं। इन कथाओं की सर्वप्रथम उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनमें उपदेशात्मकता अधिक मिलती है। ये कथाएँ बहुत मनोरंजक हैं, तथा विविध प्रश्नों और शंकाओं के उत्तर तथा समाधान के रूप में स्थान-स्थान पर समावेशित हुई हैं। इन कथाओं में 'देवताओं की शक्ति-परीक्षा',[१] 'नचिकेता का साहस'[२] ,'सत्यकाम और गो-सेवा'[३], 'याज्ञवल्क्य और गार्गी'[४], 'श्वेतकेतु और उद्दालक'[५], 'अश्विनी कुमार और गुरु दध्यंग'[६], 'सुकेशा'[७], तथा 'महाशाल्य शौनक और अंगिरा'[८] आदि कथाओं के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पुराणों का कथा-साहित्य

ऊपर कहा गया है कि वेदों तथा उपनिषदों में जो कथा-साहित्य के बीज-रूप मिलते हैं, वे आधुनिक कथा-साहित्य का मूल स्रोत माने जाते हैं। परन्तु इस कथन से यह आशय न समझना चाहिए कि वे किन्हीं युगीन विकसित कथा-तत्वों का परिचय दे सकने में समर्थ हैं। वास्तव में वेद या उपनिषद् कथा-साहित्य के अंतर्गत जिन कथाओं का उल्लेख किया जाता है, वे प्रायः मूल रूप में ही ग्रहण की जानी चाहिए। वे उस भावी कथा-साहित्य का मूल आधार हैं, जो उनकी प्रेरणा से आगे चलकर सर्जित हुआ। परवर्ती काल में उन्हीं के आधार पर अनेक पौराणिक कथाओं की भी सृष्टि हुई। इन्हीं कथाओं के वृहत् संकलनों के आधार पर ही 'रामायण' तथा 'महाभारत' की भी रचना हुई। इन महाकाव्यों में जो

१. 'केनोपनिषद्'।
२. 'कठोपनिषद्'।
३. 'छान्दोग्य उपनिषद्'।
४. वही।
५. 'वृहदारण्यक'।
६. 'तैत्तिरीय'।
७. 'प्रश्नोपनिषद्।
८. 'मुण्डकोपनिषद्'।

कथाएँ आयी हैं, उनमें से बहुत-सी अपने प्रारम्भिक रूप में पहले से ही उपलब्ध थीं। परंतु कल्पना के आधार पर उन्हें अधिक विस्तार दिया गया तथा इन ग्रंथों में उनको विस्तृत रूप में संगृहीत किया गया।

इन कथाओं के सामान्य रूप से दो भेद किये जा सकते हैं—

(क) मूल कथाएँ।

(ख) प्रासंगिक कथाएँ।

इनमें से अधिकांश मूल-कथाएँ इनके आधार-ग्रंथों में मिलती हैं। परंतु प्रासंगिक कथाओं के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। इनमें कल्पना का पर्याप्त सम्मिश्रण है। ये प्रासंगिक कथाएँ इन ग्रंथों में दो उद्देश्यों से समाविष्ट हुई हैं। पहला उद्देश्य है कथा में चमत्कार सृष्टि करना तथा दूसरा उद्देश्य है कथा की पुष्टि।

पुराणों के विषय तथा काल-क्रम

पुराणों का भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है। हिंदू-धर्म का मूल आधार भी इन्हीं पुराणों को माना जाता है। पुराण को 'पुराणमाख्यानम्' अर्थात् पुराना आख्यान कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि पुराणों की अत्यधिक प्राचीनता के कारण ही उन्हें यह संज्ञा दी गयी है। प्राचीन आख्यानों की प्रधानता ही पुराणों में रही भी है। इस दृष्टि से पुराणों का महत्व निर्विवाद है।

महापुराणों[१] में पुराण का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्॥[२]

सामान्य रूप से पुराण-साहित्य को लगभग पाँच सौ ई० पू० का माना जाता है। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि—

१. मत्स्य, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड आदि महापुराण।

२. अर्थात् सृष्टि, सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, सृष्टि वंशावली, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित—ये ही पाँच पुराणों के विषय हैं।

—पुराणों को रचना शंकराचार्य कुमारिल भट्ट तथा बाण भट्ट आदि से पूर्व हो चुकी थी।

—पुराणों की रचना के विषय में गुप्तकाल के बाद की रचना का जो विचार है, वह निराधार है।

—पुराणों का अधिकांश महाभारत से भी प्राचीनतर है।

इस प्रकार यह स्वीकार किया जाता है कि पुराण वैदिक काल में मौजूद थे। वे कम से कम ६०० ई० पू० रचे गये थे। यों बीच-बीच में उनमें और भी संवर्द्धन किये जाते रहे और उनका वर्तमान स्वरूप गुप्तकाल तक निर्धारित हो गया था।

पुराणों का महत्व

पुराणों का स्थान अनेक दृष्टियों से भारतीय साहित्य में विशिष्ट है। श्री बलदेव उपाध्याय के अनुसार 'धार्मिक दृष्टि से पुराण वेदविहित धर्म का सरल सुबोध भाषा में वर्णन करता है। जब वेदों की भाषा सर्वसाधारण के समझने लायक नहीं रह गयी तब उनके तत्वों को जनता तक पहुँचाने के लिये पुराण बनाये गये। पुराणों का सामाजिक महत्व भी कम नहीं है। उस समय के भारतीय समाज का स्वरूप हमें पुराण के पृष्ठों में ही उपलब्ध होता है। पुराणों में प्राचीन इतिहास प्रामाणिक रूप से भरा हुआ है, ऐसी धारणा तो अब अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों की भी होने लगी है। पुराण में दिये गये इतिहास की पुष्टि शिलालेखों से, मुद्राओं से और विदेशियों के यात्रा-विवरणों से पर्याप्त मात्रा में होने लगी है। अतः विद्वान ऐतिहासिकों का कथन है कि यह पूरी सामग्री प्रामाणिक तथा उपादेय है।'[1]

रामायण

महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रणीत 'रायायण'[2] को आदि काव्य माना जाता है।

१. दे. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (श्री बलदेव उपाध्याय), पृष्ठ ५६।

२. 'रामायण' के संबंध में त्रिविक्रम भट्ट ने लिखा है—

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा॥

ऐसा कहा जाता है कि किसी व्याध के द्वारा घायल पड़े क्रौञ्च के पास क्रौञ्ची को करुण विलाप करते देखकर उनके मुँह से स्वत: यह श्लोक निकल गया—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा: ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी: काममोहितम् ॥'[1]

कहा जाता है कि स्वयं ब्रह्मा ने यह श्लोक सुनकर उनमे 'रामायण' की रचना करने को कहा था और उन्हीं की प्रेरणा से इसकी रचना हुई। 'रामायण' एक वृहत् ग्रंथ है, जिसमें चौबीस हजार श्लोक हैं। आजकल इसके कई संस्करण उपलब्ध हैं। इनकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है।

'रामायण' का रचना-काल भी विवाद का विषय है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता है कि 'रामायण' की रचना तृतीय शताब्दी ई० पू० के लगभग हुई होगी। 'रामायण' के गौरव और महत्व के विषय में श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—'वाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वी तल को विदीर्ण कर उगने वाले उस विराट् वट-वृक्ष के समान है, जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाये हुए खड़ा है। महाकाव्य प्रधानतया वीर-रस प्रधान हुआ करते हैं, जिनमें युद्ध का घोष, विजय-दुन्दुभि का गर्जन तथा सैनिकों का तर्जन मानवों के हृदय में उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न किया करते हैं, परन्तु रामायण का माहात्म्य वीररस के प्रदर्शन में नहीं है। किसी देव-चरित्र के वर्णन में भी रामायण का गौरव नहीं है; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने जब आदर्श गुणों से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछा, तब नारद जी ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बतलाया—"तैर्युक्त: श्रूयतां नर:।' यह नर-चरित्र का ही कीर्तन है। भारतीय साहित्य-जीवन का विस्तृत चित्रण रामायण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत हो रहा है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी—आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदि कवि की शब्द-तूलिका ने खींचा है वे सब गृह धर्म के पट पर ही चित्रित किये गये हैं।'[2]

१. अर्थात् 'हे निषाद, तुमने काम से मोहित इस पक्षी के प्राण लिये हैं, अत: तुम्हें सदा के लिए प्रतिष्ठा न प्राप्त हो।'

२ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (श्री बलदेव उपाध्याय), पृष्ठ ७७।

महाभारत

'महाभारत' का महत्व भारतीय ग्रन्थों में इतना अधिक है कि इसे पाँचवा वेद तक कहा जाता है। 'महाभारत' की अनेक कथाओं-उपकथाओं के आधार पर ही परवर्ती साहित्यकारों ने अनेक महत्वपूर्ण कृतियों की रचना की।[१] स्वयं व्यास जी ने लिखा है—

'धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥[२]

'महाभारत' के विविध अंशों को अलग से स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में भी प्रकाशित किया गया, जिन्हें बहुत प्रसिद्ध मिली। इस महान् ग्रंथ की रचना के विषय में व्यास जी ने लिखा है—

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम्॥[३]

'महाभारत' के रचना-काल के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। उपलब्ध प्रमाण के आधार पर यह कहा जाता है कि इसकी रचना ई. पू. ७०० के लगभग हुई होगी। 'महाभारत' में अठारह पर्व हैं।[४] इन्हीं पर्वों में विविध प्रसंग व कथाएँ आयी हैं। इसमें कुछ ऐसी भी कथाएँ हैं, जिनका मूल कथा से परोक्ष सम्बन्ध है। ऐसी कथाओं में दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा, मत्स्यावतार की कथा, राम की कथा, राजा शिवि की कथा, सावित्री-सत्यवान की कथा तथा राजा नल आदि की कथाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

१. अर्थात् जो कुछ इस ग्रन्थ में है, वह अन्यत्र भी है, किन्तु इसमें जो नहीं है, वह कहीं नहीं है।

२. 'महाभारत'—आदि पर्व।

३. 'इतिहासोत्तमादस्मा जायन्ते कवि-बुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥
× × ×
इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदय प्रेप्सुभिमृत्यैराभिजात इवेश्वरः॥

४. आदि, सभा, वन, विराट्, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शान्ति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रमवासी, मौसल, महाप्रस्थानिक तथा स्वर्गारोहण।

महाभारत का मानवता के लिए संदेश निम्नलिखित श्लोक में देखा जा सकता है—

ऊर्द्धव बाहुर्विरौम्येष, न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते॥

महाभारत की शिक्षा को स्पष्ट करते हुए श्री बलदेव उपाध्याय ने कहा है 'कि भारतीय संस्कृति आर्जव-ऋजुभाव-स्पष्ट कथन तथा सीधे आचरण को ही मानव जीवन में नितान्त महत्व देती है। वह जिम्ह मार्ग—टेढ़ा रास्ता—मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् को मृत्यु का रूप बतलाती है तथा प्राणियों को उसके मानने से सदा दूर भागने का उपदेश देती है—

सर्वं निह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मण: पदम्।
एतावान ज्ञान विषय: किं प्रलाप: करिष्यति॥

(आश्व० ११।४)

काल के चक्र से कोई बच नहीं सकता। पाण्डवों की विषम तथा समृद्ध दशाओं के आलोचक की दृष्टि में काल की महिमा अपरिमेय है। काल ही कभी बलवान् बनता है और कभी दुर्बल। वही जगत् को अपनी इच्छा से ग्रसता है। इसी चक्र के भीतर यह समग्र विश्व अपनी सत्ता धारण किये हुए है। यह देव-निर्मित मार्ग है जिसे लाख चेष्टा करने पर भी कोई पलट नहीं सकता। मानव-जीवन का श्रेयस्कर मार्ग है धर्म का आश्रय लेकर आत्म-विजय करना।'[1]

रामायण और महाभारत की प्राचीनता

'रामायण' और 'महाभारत' की प्राचीनता के विषय में प्राय: दो प्रकार के मतों का प्रचार अधिक है। इनमें से विद्वानों का प्रथम वर्ग यह कहता है कि 'रामायण' और 'महाभारत' इतने प्राचीन ग्रन्थ हैं कि यदि उनमें परवर्ती युग का कोई विवरण या उल्लेख मिलता है, तो उसे प्रक्षिप्त ही मानना चाहिए। विद्वानों के दूसरे वर्ग का यह अनुमान है कि 'रामायण' और 'महाभारत' के थोड़े अंशों को प्राचीन भी

१. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (श्री बलदेव उपाध्याय), पृष्ठ ९७-९८।

कहा जा सकता है। परन्तु जब इनका सम्पादन किया गया होगा, तब इनमें और भी अनेक बातें समाविष्ट कर दी गयी होंगी।

श्रीमद्भागवत : विषय और महत्व

श्रीमद्भागवत में ग्रन्थ के विषय और उद्देश्य को बताते हुए लिखा गया है—

कथा इमास्ते कथिता महीपसाँ
वितायं लोकेषु यशः परेयुषाम।
विज्ञान-वैराग्य-विवक्षया विभो
वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥
—भाग० १२।३।१४

प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर भण्डारकर का अनुमान है कि अधिक से अधिक इसका रचना-काल नवीं शताब्दी का है।[1] इसका महत्व कहते हुए विद्वानों ने लिखा है कि श्रीमद्भागवत् पाण्डित्य की कसौटी है। उसे सभी श्रुतियों का सार, महा-भारत का तात्पर्य निर्णायक और ब्रह्मसूत्रों का भाष्य माना जाता है। परवर्ती-कृष्ण-काव्य की रचना की मूल प्रेरणा कवियों को श्रीमद्भागवत से ही मिली।

जातक-कथाएँ

बुद्ध-वचन का जिन नौ भागों में वर्गीकरण किया गया है, उनमें से जातक भी एक है। जातक का महत्व इन सबसे अधिक है—प्रसिद्धि की दृष्टि से भी तथा प्राचीनता की दृष्टि से भी।

'जातक' का अर्थ

श्री भदन्तआनन्द कौसल्यायन ने 'जातक' शब्द का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है—'जातक' शब्द का अर्थ है जन्म-सम्बन्धी। विकासवाद के अनुसार एक फूल को विकसित होने के लिए, उस पुष्प की जाति विशेष के अस्तित्व में आने में लाखों वर्ष लग जाते हैं। तब क्या कोई भी प्राणी साठ या सत्तर, अधिक से अधिक

१. 'Vaishnavisn' (Dr. Bhandarkar).

सौ वर्ष के जीवन से बुद्ध बन सकता है ? उसे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक जन्म धारण करने ही होंगे। गौतम बुद्ध को भी धारण करने पड़े। बुद्ध होने से पूर्व अपने सब पिछले जन्मों तथा अंतिम जन्म में उनकी संज्ञा बोधिसत्व रही। बोधि का अर्थ बुद्धत्व और सत्व का अर्थ प्राणी—बुद्धत्व के लिए प्रयत्नशील प्राणी।'[1]

जातक-साहित्य का रचना-काल

जातक-साहित्य की रचना का काल पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से लेकर पहली शताब्दी ई० पू० तक माना जाता है। जातक-कथाओं से तात्पर्य जन्म-विषयक कथाओं से समझा जाता है। इन कथाओं में उन जन्मों का विवरण है, जो गौतम बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व ग्रहण करने पड़े। इन जन्मों की संख्या पाँच सौ सैंतालिस मानी जाती है। ये कथाएँ बौद्धों के धार्मिक साहित्य के अंतर्गत आती हैं।

जातक-कथाओं का पूर्ववर्ती कथा-साहित्य से मुख्य अंतर

जातक-कथाओं से पूर्व का जो कथा-साहित्य उपलब्ध है, वह प्रायः संकेत, संवाद या किसी संदर्भ में प्रासंगिक रूप में आया है। साथ ही, पौराणिक कथा-साहित्य के अतिरिक्त उसमें कोई विशेष क्रम-बद्धता या कलात्मक पूर्णता भी नहीं मिलती है। परंतु जातक-कथा-साहित्य में, इस दृष्टि से, पूर्ववर्ती कथा-साहित्य से पर्याप्त अंतर मिलता है। इसमें समस्त कथाओं में एक प्रकार की पारस्परिक क्रम-बद्धता-सी मिलती है, जिससे कथाओं का सूत्र बँधा रहता है। यों यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इन कथाओं का स्रोत भी—अन्य सम्पूर्ण कथा-साहित्य की ही भाँति—ऋग्वेद आदि हैं।

जातक-कथाओं के विषय

श्री भदन्तआनंद कौसल्यायन के शब्दों में—'जातक में केवल भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मों से संबंध रखने वाली गाथाएँ भर हैं। जातक अट्ठकथा में अट्ठकथा सहित असल जातक कथाएँ आरम्भ होने से पहले निदान कथा नाम का एक लम्बा उपोद्घात है। इस निदान-कथा में सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के जीवन-चरित्र के साथ

1. 'जातक' प्रथम खण्ड (संपादक श्री भदन्तआनन्द कौसल्यायन), पृष्ठ १२।

उनके पूर्व के २७ बुद्धों का भी जीवन-चरित्र है। यह सारा का सारा बुद्ध वंस से लिया प्रतीत होता है।.......जातक की अट्ठ कथा तीन भागों में विभक्त है—(१) दूरे निदान, (२) अविदूरे निदान, (३) सन्तिके निदान।.......बोधिसत्व ने जब सुमेध तपस्वी का जन्म ग्रहण कर भगवान् दीपङ्कर के चरणों में जीवन समर्पित किया, उस समय से लेकर वेस्सन्तर का शरीर छोड़ तुषित स्वर्ग लोक में उत्पन्न होने तक की कथा दूरे-निदान कही जाती है। तुषित-लोक से च्युत होकर महामाया देवी के गर्भ से उत्पन्न हो.......बोध गया में बुद्धत्व प्राप्त करने तक की कथा अविदूरे-निदान कही जाती है। जहाँ-जहाँ भगवान बुद्ध ने विहार करते समय कोई जातक कही, उन स्थानों का जो उल्लेख है, वह संतिके-निदान है।"[1]

जातक-कथाओं में से 'खरादिय जातक' नामक एक कथा उदाहरण के लिए यहाँ दी जा रही है—

"अट्ठ खुरे खरादिये" यह गाथा, बुद्ध ने जेत वन में विहार करते समय, एक कटु भाषी भिक्षु के सम्बन्ध में कही।

क. वर्तमान कथा

वह कटुभाषी भिक्षु (किसी का) उपदेश न ग्रहण करता था। बुद्ध ने उससे पूछा—'भिक्षु! क्या तू सचमुच कटुभाषी (है), (किसी का) उपदेश नहीं ग्रहण करता?'

"भगवान्! यह (बात) सच है।"

बुद्ध ने, "पहले भी तू ने कटुभाषिता के कारण, पण्डितों का उपदेश नहीं ग्रहण किया; और पाश से बँधकर, अपने प्राणों का नाश किया" कह अतीत कथा सुनाई।

ख. अतीत कथा

"पूर्व समय में, वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय, बोधिसत्व मृग की योनि में पैदा हो, मृग-गण के साथ जंगल में रहते थे। (एक दिन) उनकी बहन ने उन्हें हरिण-पुत्र दिखाकर कहा—"भाई! यह तुम्हारा भांजा है।

१. 'जातक' प्रथम खण्ड (संपादक श्री भदंतआनंद कौसल्यायन), पृष्ठ १६-१७।

इसे मृग-माया सिखाओ।" यह कह (उसे मृग-पुत्र) सौंपा। उसने भांजे को कहा—अमुक समय पर आकर सीखना। वह कहे हुए समय पर न आया। जैसे एक दिन, उसी प्रकार सात दिनों तक, सात उपदेशों (=आज्ञाओं) का उल्लंघन कर, वह मृग-माया बिना सीखे ही चरता हुआ पाश में बँध गया। माता ने भाई से आकर पूछा—क्यों भाई! तू ने भांजे को मृग-माया सिखा दी थी?" बोधिसत्व ने, "उस बात न मानने वाले का सोच मत कर, तेरे पुत्र ने मृग माया नहीं सीखी" कह; अब भी उसे सिखाने का अनिच्छुक ही हो, यह गाथा कही—

अट्ठखुरं खरादिये! मिगं बङ्कातिवङ्किनं।
सत्तहि कलाहति ककन्तं न ते ओ वदिन्तुस्सहे॥

[हे खरादिये! वङ्कातिवङ्क, सात कलाओं (= उपदेशों) का उल्लंघन करने वाले, उस मृग को मेरी उपदेश देने की रुचि (=प्रेरणा) नहीं।]

सो शिकारी, उस पाश में बँधे हुए कटुभाषी मृग को मारकर, मांस लेकर चला गया।

बुद्ध ने भी, "भिक्षु! तू केवल अब ही कटुभाषी नहीं है, पहले भी कटु-भाषी ही रहा।"—यह धर्म-देशना लाकर, मेल मिला, जातक का सारांश निकाल दिखाया।

उस समय का भांजा मृग (अब का) कटुभाषी भिक्षु था। बहन (अब की) उत्पल-वर्णा (भिक्षुकी) थी। लेकिन उपदेश देने वाला मृग तो मैं ही था।"[1]

जातक-कथाओं का प्रसार-विस्तार और परवर्ती कथा-साहित्य पर प्रभाव

गौतम बुद्ध के पूर्व जीवन-विवरण के आधार पर लिखी गयी इन जातक कथाओं का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। ये कथाएँ इतनी रोचक और मर्म-स्पर्शी हैं कि परवर्ती कथा-साहित्य पर जितना प्रभाव इनका पड़ा, उतना किसी साहित्य का नहीं। इस दृष्टि से इनका महत्व कितना अधिक है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

अनुमान लगाया जाता है कि जब हूण लोग पूर्व यूरोप में गये तो अपने

१. दे. 'जातक', प्रथम खण्ड (संपादक श्री भदंत आनंद कौसल्यायन), पृष्ठ २०७-८-९।

साथ कुछ जातक-कथाएँ भी ले गये। यह अनुमान इसलिए लगाया जाता है क्योंकि सलाब लोगों में ऐसी बहुत सी कथाएँ प्रचलित हैं, जिनका मूल जातक-कथाओं में ही माना जाता है। इस दृष्टि से जातक-साहित्य संसार में अद्वितीय है।

'अरबी के 'कलैला दमना' की तरह यह ग्रन्थ लोगों को बहुत प्रिय हुआ और इसका प्रचार भी बहुत हुआ। अनेक यूरोपिय भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया। यह ग्रंथ लातीनी, फ्रेंच, इटालियन, स्पैनिश, जर्मन, अँग्रेजी, स्वेडिश और डच में प्राप्य है। १२०४ में आइसलैण्ड को भाषा में भी इनका अनुवाद हुआ; और फिलिपाइन द्वीप में जो स्पने-बोली बोली जाती है, उस तक में यह प्रकाशित हो चुका है।........कितने आश्चर्य की बात प्रतीत होने पर भी यह सत्य है कि सन्त जोसफत के रूप में भगवान् बुद्ध आज सारे रोमन कैथोलिक ईसाइयों द्वारा स्वीकृत हैं, आदृत हैं और पूजे जा रहे हैं।........इन जातक-कथाओं के प्रसार और प्रभाव की कथा अनंत प्रतीत होती है। एक इटालियन विद्वान ने सिद्ध किया है किताब उल् सिन्दबाद की अनेक कथाओं का और अलिफ लैला (Arabian Knights) की अनेक कथाओं का भी मूल-स्थान जातक-कथाएँ ही हैं।''[1]

बृहत्कथा

विद्वानों ने 'वृहत्कथा' का प्राचीन संस्कृत कथा-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान बताया है।[2] इसका रचना-काल ई० पू० छठवीं शताब्दी माना गया है। सर्वप्रथम इसकी रचना ई० पू० पहली शताब्दी में गुणाढ्य नाम के किसी विद्वान ने पैशाची भाषा में की थी। यह ग्रंथ अप्राप्य है। श्री भदन्तआनंद कौसल्यायन ने 'वृहत्कथा'

१. 'जातक', प्रथम खण्ड, पृ. ३०।

२ वाणभट्ट, दण्डी तथा सुबन्धु ने 'वृहत्कथा' की प्रशंसा क्रमशः इस प्रकार की है—

(क) समुद्दीपितकन्दर्पा कृत गौरी प्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय वृहत्कथा ॥

(ख) भूतभाषामयीं प्राहुरद् भुतार्थां वृहत्कथाम्।

(ग) वृहत्थालम्बैरिव सालभंजिकानिवहैः।

का आदि-स्रोत जातक-कथा-साहित्य को ही माना है।[1] उनका अनुमान है कि 'ईसा की प्रथम शताब्दी में आन्ध्र राजाओं के समय गुणाढ्य नाम के किसी पण्डित ने पैशाची भाषा[2] में 'वृहत्कथा' नाम का एक ग्रंथ लिखा था। ···· ···· यह गुणाढ्य कौन थे, कहना कठिन है। इनकी 'वृहत्कथा' एकदम अप्राप्य है। अब तक किसी के देखने में नहीं आयी। इससे नहीं कहा जा सकता कि वह 'वृहत्कथा' कितनी वृहत् थी और उसमें क्या-क्या था। बाण के 'हर्षचरित' में, दण्डी के 'काव्यादर्श' में, क्षेमेन्द्र की 'वृहत्कथा मञ्जरी' में और सोमदेव के 'कथा-सरित्सागर' में उसका प्रमाण है। सोमदेव ने, जो कि एक बौद्ध था, अपना 'कथा-सरित्सागर' 'वृहत्कथा' से ही सामग्री लेकर लिखा और सोमदेव के कथा-सरित्सागर' में अनेक जातक-कथाएँ विद्यमान हैं। इससे अनुमान होता है कि 'वृहत्कथा' का आदि स्रोत जातक-कथाएँ ही रही होंगी।'[3]

शुक सप्तति

'शुक सप्तति' रोचक कथाओं का संग्रह है, जिसमें एक शुक अपने स्वामी के विदेश यात्रा पर प्रस्थान करने के पश्चात् अपनी स्वामिनी का मन मनोरंजक कथाओं से बहलाता है, जो पति की अनुपस्थिति में अन्य पुरुषों के प्रति आकृष्ट होने लगी थी। इसका रचना-काल बारहवीं शताब्दी का है।

पंचतंत्र

'पंचतंत्र' की गणना भारत के प्राचीन लोक-कथा-साहित्य के अंतर्गत की जाती है। ये कथाएँ पण्डित विष्णु शर्मा द्वारा लिखी गयी थीं। इनका संकलन पाँच भागों में किया जाने के कारण ही इनके संग्रह को 'पंचतंत्र' कहा जाता है। ये कथाएँ चूँकि एक विशिष्ट उद्देश्य से लिखी गयी थीं अतः प्राचीन भारतीय नीति शास्त्र के सैद्धांतिक

१. 'जातक' (सम्पादक, श्री भदन्तआनन्द कौसल्यायन) प्रथम खण्ड, पृष्ठ २७।

२. 'भारतभूमि और उसके निवासी' नामक ग्रन्थ के रचयिता का अनुमान है कि पैशाची भाषा या तो दरदी की पूर्वज भाषा थी या उज्जैन के निकट की कोई बोली। देखिए, उक्त ग्रंथ, पृष्ठ २०६।

३. 'जातक' पृष्ठ २७।

परिचय की दृष्टि से भी इनका महत्व है। संसार की प्राय: सभी प्रमुख भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। प्रसिद्ध यूरोपीय विद्वानों—सर विलियम जोंस[1] तथा प्रोफेसर मूरले[2] ने इनकी प्रशंसा करते हुए इनके महत्व को स्वीकार किया है। इन कथाओं का मूल स्रोत जातक-कथा-साहित्य है। इन दोनों में मुख्य भेद यही है कि जातक-कथाएँ जन-साधारण के लिए लिखी गयीं थी और 'पंचतंत्र' की कथाएँ इस उद्देश्य से नहीं। इसकी रचना केवल राजकुमारों को शिक्षा देने के उद्देश्य से की गयी थी। 'पंचतंत्र' के आमुख में कहा गया है—'दक्षिण देश के एक प्रांत में महिला रोप्य नाम का नगर था। वहाँ एक महादानी, प्रतापी राजा अमरशक्ति रहता था। उसके अनंत धन था; रत्नों की अपार राशि थी; किंतु उसके पुत्र बिल्कुल जड़ बुद्धि थे। तीनों पुत्रों—बहुशक्ति, उपशक्ति, अनंतशक्ति—के होते हुए भी वह सुखी न था। तीनों अविनीत, उच्छृङ्खल और मूर्ख थे।

'राजा ने अपने मन्त्रियों को बुलाकर पुत्रों की शिक्षा के सम्बंध में अपनी चिंता प्रकट की। राजा के राज्य में उस समय ५०० वृत्ति-भोगी शिक्षक थे। उनमें से एक भी ऐसा नहीं था जो राज-पुत्रों को उचित शिक्षा दे सकता। अंत में राजा की चिंता को दूर करने के लिए सुमति नाम के मंत्री ने सकल शास्त्र-पारंगत आचार्य विष्णु शर्मा को बुलाकर राज-पुत्रों का शिक्षक नियुक्त करने की सलाह दी।

'राजा ने विष्णु शर्मा को बुलाकर कहा कि यदि आप इन पुत्रों को शीघ्र ही राजनीतिज्ञ बना देंगे तो मैं आपको १०० गाँव इनाम में दूँगा। विष्णु शर्मा ने हँसकर उत्तर दिया—'महाराज! मैं अपनी विद्या को बेचता नहीं हूँ। इनाम की मुझे इच्छा

१. 'Their (the Hindoo's) Niti-Shastra, or system of Ethics, is yet preserved, and the fables of Vishnusharma, are the most beautiful, if not the most ancient collection of apologues in the world.'

2. 'It comes to us from a far place and times as a manual of worldly wisdom, inspired throughout by the religion of its place and time........every fable of Panchtantra can still be applied to human character, thousand years ago, when parted from local accidents of form, mightfind its time for being quoted now in church or at home.'

नहीं है। आपने आदर से बुलाकर आदेश दिया है, इसलिए छः महीने में ही मैं आपके पुत्रों को राजनीतिज्ञ बना दूँगा। यदि मैं इसमें सफल न हुआ तो अपना नाम बदल डालूँगा।'

'आचार्य का आश्वासन पाकर राजा ने अपने पुत्रों का शिक्षण-भार उन पर डाल दिया और निश्चिन्त हो गया। विष्णु शर्मा ने उनकी शिक्षा के लिए अनेक कथाएँ बनाई। उन कथाओं द्वारा ही उन्हें राजनीति और व्यवहार-नीति की शिक्षा दी। .... राजपुत्र इन कथाओं को सुनकर छः महीने में ही पूरे राजनीतिज्ञ बन गये।'[1]

हितोपदेश

'पंचतंत्र' की ही भाँति 'हितोपदेश' की गणना भी प्राचीन भारतीय लोक-साहित्य के अंतर्गत की जाती है। इसके लेखक नारायण पण्डित थे। विश्व-साहित्य में पशु-पक्षियों विषयक कथाओं का प्रारम्भ 'हितोपदेश' के द्वारा ही हुआ। 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' की रचना का मूल उद्देश्य एक ही था—अर्थात् राजकुमारों को राजनीति और व्यवहार-नीति की शिक्षा देना।[2] 'हितोपदेश' के द्वितीय खण्ड में से एक लघु कथा उदाहरण के लिए यहाँ दी जा रही है—

युक्ति से काम लो—

उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते।

संकट उत्पन्न होने पर भी जिसकी बुद्धि विचलित नहीं होती, वह कार्य में सफल हो जाता है।

किसी वृक्ष पर एक कौआ सपत्नीक रहता था। वह बहुत पुराना वृक्ष था। उसके खोखले में एक सर्प भी रहने लगा। एक बार कौए के बच्चों को साँप ने खा लिया। कौए और उसकी पत्नी को इस घटना से बहुत दुःख हुआ। पर वे सर्प का का कुछ बिगाड़ न सके, क्योंकि वह उनसे अधिक बलवान् था।

कुछ समय बाद कौए की पत्नी फिर से गर्भवती हुई और कौए से बोली:

१. 'पंचतंत्र'—संपादक, श्री सत्यकाम विद्यालंकार।

२. 'हितोपदेश', (भाषान्तरकार—श्री आनन्द), भूमिका।

स्वामी, अब हमें शीघ्र ही यह वृक्ष छोड़ देना चाहिए। क्योंकि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्रों के जन्म लेते ही यह दुष्ट उन्हें अवश्य खा जायेगा। मुझे तो अभी से उनकी रक्षा की चिंता सता रही है। शास्त्रों में कहा भी है—

ससर्पे च गृहे वासः मृत्युरेव न संशयः।

सर्प वाले गृह में रहना मृत्यु का आह्वान करने के बराबर है।

कौआ : तुम भय मत करो। अभी तक तो मैं उसके अपराधों को क्षमा करता आया हूँ, पर इस बार मैं कभी भी क्षमा नहीं करने का।

काकी हँसते हुए बोली : उससे आप लड़ेंगे ? आपको नहीं मालूम सर्प कितना बलवान् होता है।

कौआ : ऐसी शंका करना व्यर्थ है। बुद्धि-बल से बड़े-से-बड़े शत्रु पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। यदि तुम्हें विश्वास न हो तो सुनो मैं तुम्हें सिंह और खरगोश की कहानी सुनाता हूँ।

काकी : सुनाइए।[1]

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि खड़ी बोली हिंदी गद्य के विकास के साथ ही उपन्यास-साहित्य का भी विकास हुआ। हिन्दी साहित्य के इतिहास की प्रारम्भिक शताब्दियों में गद्य का अभाव होने के कारण और केवल पद्य का ही प्रचलन होने के कारण कथा-साहित्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। उन्नीसवीं शताब्दी में, जब गद्य का अधिकाधिक प्रचार होने लगा, तब उपन्यास के विकास के लक्षण दिखायी देने लगे। इसका कारण यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ने लगा था और इस शताब्दी के अंत तक वह बहुत ही व्यापक रूप धारण कर चुका था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस काल में भारतवर्ष में विदेशी साहित्य-धाराओं की लहरें फैलीं और उन्होंने यहाँ के साहित्य को उसी अनुपात में प्रभावित किया। यों तो यह प्रभाव किसी एक साहित्यांग तक सीमित नहीं रहा, लेकिन उसके प्रभाव के फल-स्वरूप जो सबसे बड़ी बात हुई, वह यह कि पाश्चात्य साहित्य के उपन्यास तथा

१ दे० 'हितोपदेश' (भाषान्तरकार—श्री आनन्द), पृष्ठ, ७०-७१।

नाटक आदि के प्रभाव के फलस्वरूप हिंदी में भी इनका आविर्भाव हुआ औ इन्होंने आश्चर्यजनक गति से उन्नति की। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो नाट का आविर्भाव आधुनिक उपन्यास से पहले हुआ। परन्तु स विषय में यह बा ध्यान में रखने की है कि इन दोनों साहित्यांगों ने प्रारम्भ में कुछ समय तक समा रूप से प्रगति की, परंतु बाद में उपन्यास की प्रतिद्वंद्विता में नाटक की लोकप्रियत घट गयी और धीरे-धीरे उस क्षेत्र में उत्साह की कमी का अनुभव किया जाने लगा

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक पच्चीस वर्षों में जो कथा-साहित्य विषय पुस्तकें मिलती हैं, उनमें 'रानी केतकी की कहानी' (सैय्यद इंशा अल्ला खाँ), 'सिंहास बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी' 'माधवानल कामकन्दला', 'शकुन्तला' और 'प्रेमसाग (लल्लू लाल), नासिकेतोपाख्यान (सदल मिश्र) तथा गोरा-बादल की कथ (जटमल) आदि उल्लेखनीय हैं। यहाँ हम इन्हीं रचनाओं पर विचार करते हु उनमें कथा-शिल्प के रूपों का अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे।

(उदयभान चरित या) रानी केतकी की कहानी

हिंदी उपन्यास के विकास के इस युग में 'रानी केतकी की कहानी' का महत सर्वाधिक है। इसके लेखक सैयद इंशा अल्ला खाँ थे। खड़ी बोली के गद्य-साहित्य इतिहास में इंशाअल्ला खाँ का महत्वपूर्ण स्थान है। वह अरबी-फारसी के पण्डित थे उन्होंने इन्हीं की विविध शैलियों को मिश्रित कर उसी के आधार पर इस कहा की रचना की थी। इस कहानी में रचना-काल नहीं लिखा गया है। यह अनुमा लगाया जाता है कि इसकी रचना सन् १८०० और १८०५ के बीच में हु होगी।[1]

१ निम्नलिखित ग्रन्थों में इसका रचना-काल इस प्रकार माना गया है—
(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिंदी साहित्य का इतिहास'—संवत् १८५५-६०
(ख) डा लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत 'आधुनिक हिंदी साहित्य'—सन् १८००-१८०३
(ग) डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका'—सन् १८००-१८०
(घ) डा. लक्ष्मीनारायण लाल कृत 'हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास'—सन् १८००-१८१०।
(ङ) श्री शिवनारायण श्रीवास्तव कृत हिन्दी उपन्यास' संवत् १८५६-६५।

इस कहानी की रचना खाँ साहब ने लखनऊ में की थी। उनके पूर्वज समरकंद के निवासी थे। बाद में ये लोग दिल्ली में आकर रहने लगे थे, जहाँ शाही दरबार में उन्हें धन और सम्मान दोनों मिले। उनके पिता शाही हकीम थे और उनका नाम माशा उल्लाह खाँ था। किन्हीं कारणों से उन्हें बाद में दिल्ली छोड़ कर मुर्शिदाबाद आना पड़ा, जहाँ इंशा अल्ला खाँ का जन्म हुआ। इंशा अल्ला खाँ बचपन से ही साहित्य में रुचि रखते थे और प्रतिभावान् भी थे। बाद में वह फिर शाह आलम के दरबार में दिल्ली चले आये। उनमें तथा बादशाह में फिर घनिष्ठता हो गयी। वह दरबार में बादशाह को कविता के अतिरिक्त छोटी-छोटी मनोरंजक कहानियाँ भी सुनाया करते थे। परंतु आर्थिक दृष्टि से वहाँ इंशा अल्ला खाँ को बहुत असुविधा थी। अत: वह दिल्ली छोड़कर लखनऊ में नवाब आसफुद्दौला के दरबार में आ गये। यहाँ दरबार में उन्हें धन भी मिला और सम्मान भी। परन्तु एक बार किसी बात पर असंतुष्ट होकर उन्होंने दरबार छोड़ दिया। अपने लखनऊ-प्रवास में ही उन्होंने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी थी। इस कहानी को लिखने के पीछे उनका उद्देश्य था कि एक ऐसी कहानी लिखी जाय जिसमें हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट न मिले तथा हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।[१]—'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।......अपने मिलने वालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने धुराने, डाँग, बूढ़े घाघ यह खटराग लाये......और लगे कहने, यह बात होते दिखायी नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो। यह नहीं होने का।'

इस कहानी का संक्षेप इस प्रकार है—राजा सूरजभान और रानी लक्ष्मीवास के एक पुत्र था, कुँवर उदयभान। वह धीरे-धीरे युवावस्था को प्राप्त हो रहा था। एक दिन उसने एक हरिणी देखी और उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ा दिया। उसका

१. यह वह कहानी है कि जिसमें हिन्दी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट॥

पीछा करते-करते वह एक ऐसे बगीचे में जा पहुँचा जहाँ चालीस-पचास युवती स्त्रियाँ झूला झूल रही थीं। वहीं पर रानी केतकी को देखकर वह उसके प्रति आकर्षित हो गया। रात में जब वह वहीं सो गया तो रानी केतकी अपनी सहेली मदनबान को लेकर वहाँ आयी। वहीं पर वार्तालाप होने पर उदयभान को यह ज्ञात हुआ कि वह राजा जगत प्रकाश की पुत्री है और उसकी माता का नाम रानी कामलता है। वहीं दोनों ने अपना गठ-बंधन कर लिया और अपनी अँगूठियाँ भी परिवर्तित कर लीं। रात्रि के पिछले पहर रानी केतकी अपनी सहेलियों के साथ वापस चली गयी और उदयभान भी अपने घर वापस आ गया। घर आने पर वह बहुत उदास रहने लगा। यह सूचना जब उसके माता-पिता तक पहुँची, तो उन्होंने इसका कारण जानना चाहा और उसने सब हाल लिखकर उन्हें सूचित कर दिया। उन्होंने पुत्र को आश्वासन दिया कि तुम चिंता मत करो, हम तुम्हारा विवाह रानी केतकी से ही करा देंगे। यदि किसी ने इसमें असहमति प्रकट की, तो हम बलपूर्वक उसे ले आयेंगे।

जब रानी केतकी के पिता के पास विवाह का संदेश पहुँचा तो उन्होंने अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप उन पर आक्रमण कर दिया गया। घोर युद्ध होने लगा। रानी केतकी यह देखकर बहुत रोयी। कुँवर उदयभान ने उसे संदेशा भिजवाया कि इधर इन दोनों राजाओं को लड़ने दो, उधर हम तुम दोनों भाग चलें। रानी केतकी ने इस पत्र का उत्तर उसे भेज दिया। इधर राजा जगत प्रकाश ने अपने ऊपर आयी महान् विपत्ति को देखकर अपने गुरु को याद किया। गुरु आये और उन्होंने राजा की प्रार्थना सुनकर राजा सूरजभान, रानी लक्ष्मीवास और कुँवर उदयभान को हरिण-हरिणी बनाकर जंगल में छोड़ दिया। गुरुदेव ने राजा जगतप्रकाश को बाघम्बर और भभूत दी और बताया कि इसका एक बाल फूँक देने पर मैं तुरन्त आ जाऊँगा और भभूत आँख में लगाने से तुम अदृश्य हो जाओगे। रानी केतकी ने एक दिन बहाना बताकर अपनी माता से भभूत ले लिया और अदृश्य होकर उदयभान को खोजने चल दी। राजा जगतप्रकाश ने पुत्री को गायब पा फिर गुरु को याद किया। उन्होंने राजा सूरजभान, उसकी रानी तथा उसके कुँवर को फिर से मनुष्य बना दिया और फिर रानी केतकी का विवाह कुँवर उदयभान के साथ धूम-धाम के साथ कर दिया गया।

लल्लू लाल जी और उनकी कृतियाँ

लल्लू लाल जी (संवत् १८२०-१८८२) गुजराती ब्राह्मण थे और आगरे में निवास करते थे। यह संस्कृत और उर्दू भाषाएँ जानते थे। संवत् १८३० में इन्होंने 'प्रेमसागर'[1] की रचना की थी। इनकी भाषा में उर्दू, अरबी, फारसी तथा तुरकी के शब्द भी मिलते हैं, यद्यपि उन्होंने ऐसे शब्दों का अधिकाधिक बहिष्कार करने का प्रयत्न किया है।

आधुनिक युग के प्रारम्भिक वर्षों में जिन कथाकारों का नाम आता है, उनमें लल्लू लाल जी की निम्नलिखित कृतियों का भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व है—

(१) सिंहासन बत्तीसी[2]

(२) बैताल पच्चीसी[3]

(३) माधवानल कामकन्दला[4]

(४) शकुन्तला[5]

(५) प्रेमसागर

उपर्युक्त कृतियों में, जैसा कि उनके शीर्षकों से स्पष्ट है 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बैताल पच्चीसी' कहानियों के संकलन हैं और ये प्राचीन कहानी-परम्परा से प्रभावित हैं। स्रोत की दृष्टि से इन्हें संस्कृत के 'वेतालपंचविंशति' तथा 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' का रूपान्तर कहा जा सकता है। 'प्रेमसागर' की कथा श्रीमद्भागवत पर आधारित कही जाती है। कुछ विद्वानों[6] ने उनकी 'माधव विलास' नामक कथा-कृति का भी उल्लेख किया है।

सिंहासन बत्तीसी (सन् १८०१)—

यह रचना देवनागरी लिपि में सन् १८०१ में अनुवादित हुई। इसका प्रणयन

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ ४२१।

२. वही।

३. वही।

४. वही।

५. वही।

६. 'माधवविलास' और 'सभाविलास' नामक व्रजभाषा पद्य के संग्रह ग्रंथ भी इन्होंने प्रकाशित किये थे—'आचार्य शुक्ल (हिन्दी साहित्य का इतिहास), पृष्ठ ४२१।

सबसे पहले संस्कृत भाषा में हुआ था। फिर यह ब्रज भाषा में अनुवादित की गयी और अन्त में लल्लू लाल जी के द्वारा इसका अनुवाद देवनागरी लिपि में किया गया।[1]

इस पुस्तक में बत्तीस कथाएँ संगृहीत हैं। ये कथाएँ राजा विक्रमादित्य के सिंहासन में जटित बत्तीस पुतलियाँ अलग-अलग सुनाती हैं। वह सिंहासन देवराज इन्द्र द्वारा राजा विक्रमादित्य को प्रदान किया गया था। जब राजा विक्रमादित्य की मृत्यु हो गयी, तब वह सिंहासन स्वतः पृथ्वी में समा गया था। उस सिंहासन में बत्तीस पुतलियाँ जड़ी हुई थीं। जब राजा भोज को वह सिंहासन प्राप्त हुआ तो उन्होंने उस पर आसन जमाना चाहा। इस पर उन बत्तीस पुतलियों ने बारी-बारी से उन्हें राजा विक्रमादित्य से सम्बन्धित अनेक कथाएँ सुनायीं और उनके सिंहासन पर बैठने का निषेध किया।

बताल पच्चीसी (सन् १८०१)—

इस रचना का अनुवाद लल्लूलाल जी द्वारा सन् १८०१ में हुआ। परन्तु उनके पहले इसका अनुवाद संस्कृत से ब्रजभाषा में किया जा चुका था।[2]

जैसा कि इसके शीर्षक से स्पष्ट है, इसमें एक बैताल द्वारा सुनायी गयी पच्चीस कथाएँ संगृहीत हैं। चौबीस कथाएँ समस्याओं को जन्म देने वाली हैं, परंतु पच्चीसवीं कथा से एक भेद खोला जाता है, और पुस्तक की समाप्ति हो जाती है। कथा का सिलसिला इस प्रकार से आरम्भ होता है कि एक बार एक पाखण्डी राजा विक्रमादित्य को धोखा देने के उद्देश्य से एक चाल खेलता है। वह उनसे कहता है आप अमुक पेड़ पर लटके हुए शव को मेरे पास लाइए, आपका कल्याण होगा। राजा जाकर शव को उतार लेते हैं, परन्तु जब वह उसे लेकर चलने लगते हैं, तो रास्ते में उस शव के अन्दर बैठा हुआ बैताल उनसे कहता है कि आप मार्ग भर मौन ग्रहण किये रहें, अन्यथा मैं फिर पेड़ पर चला जाऊँगा। राजा विक्रमादित्य उसकी बात स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार चौबीस बार होता है कि वह मार्ग में उन्हें कोई कथा सुनाता और कथा के अन्त में उनके सामने कोई प्रश्न समस्या के रूप में

१. गार्सा द तासी का मत उपर्युक्त ही है।
२. गार्सा द तासी।

रख देता। राजा जवाब देते और वह फिर जाकर पेड़ से लटक जाता। परन्तु पच्चीसवीं बार इस प्रकार की कोई बात नहीं होती, बल्कि वह बैताल उस पाखंडी का भेद उन पर स्पष्ट कर देता है।

प्रेमसागर—

'प्रेमसागर' की रचना के विषय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है—'संवत् १८६० में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक जान गिल क्राइस्ट के आदेश से इन्होंने खड़ी बोली गद्य में 'प्रेमसागर' लिखा, जिसमें भागवत दशम स्कंध की कथा वर्णन की गयी है।'[1] कुछ लोगों का अनुमान है कि 'प्रेमसागर' भागवत के दशम स्कन्ध का अक्षरश: अनुवाद है। वास्तव में यह धारणा मिथ्या है। इसमें उस अध्याय की कथा को ही वर्णित किया गया है, परंतु अनूदित नहीं। इसमें उसकी समस्त कथाएँ आ गयी हैं, जो शुकदेव ने राजा परीक्षित को सुनायी थीं।

'प्रेमसागर' की भाषा पर विचार करते हुए, आचार्य शुक्ल ने लिखा है—'.... .... लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की-सी व्रज-रंजित खड़ी बोली है। 'संमुख जाय', 'सिर नाय', 'सोई', 'भई', 'कीजै', 'निरख', 'लीजौ' ऐसे शब्द बराबर प्रयुक्त हुए हैं। अकबर के समय में गङ्ग कवि ने जैसी खड़ी बोली लिखी थी, वैसी ही खड़ी बोली लल्लूलाल ने भी लिखी। दोनों की भाषाओं में अंतर इतना ही है कि गङ्ग ने इधर-उधर फारसी-अरबी के प्रचलित शब्द भी रखे हैं पर लल्लूलाल जी ने ऐसे शब्द बचाये हैं। भाषा की सजावट भी 'प्रेमसागर' में पूरी है। विरामों पर तुकबन्दी के अतिरिक्त वर्णनों में वाक्य भी बड़े-बड़े आये हैं और अनुप्रास भी यत्र-तत्र हैं। मुहावरों का प्रयोग कम है। सारांश यह कि लल्लूलाल जी का काव्याभास गद्य भक्तों की कथा-वार्त्ता के काम का ही अधिकतर है; न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न सम्बद्ध विचार-धारा के योग्य।'[2]

'प्रेमसागर' लल्लूलाल जी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध रचना है। इसकी रचना उद्देश्य और विषय आदि के सम्बंध में भूमिका के रूप में लिखा गया है—'.... .... ऐक समैं व्यासदेव कृत श्रीमत भागवत के दशम स्कन्ध की कथा

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ४१९।
२. वही, पृष्ठ ४२०।

को चतुरभुज मिश्र ने दोहे चौपाई में ब्रजभाषा किया सो पाठशाला के लिये श्री महाराजाधिराज सकलगुन निधान पुन्यवान महाजानमार को इस वलिजली गवरनर जनरल प्रतापी के राज में औ श्रीयुत गुन गाहक गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से—संवत् १८६० में श्री लल्लूलाल जी कवि ने विसका सार ले—यामिनी भाषा छोड़—दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह नाम प्रेमसागर धरा।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'प्रेमसागर' पूर्णत: 'श्रीमद्भागवत' पर आधारित है और कम से कम उसकी कथावस्तु और विषय आदि में कोई नवीनता नहीं है।[2] वास्तव में इस ग्रंथ की महत्ता केवल भाषा की दृष्टि से ही है और इसी कारण से इसका महत्व भी ऐतिहासिक है।

माधो-विलास[3]

इसकी रचना लल्लूलाल जी ने सन् १८११ में की थी। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने अपनी इच्छा से की थी, अन्य प्रणीत ग्रन्थों की भाँति फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों की इच्छानुसार नहीं। इसीलिए इस ग्रन्थ की चर्चा बहुत से ग्रन्थों में नहीं मिलती। यों गार्सा द तासी,[4] ग्रियर्सन,[5] शिवसिंह सेंगर[6] तथा मिश्र बंधुओं[7] ने इसका उल्लेख किया है।

१. 'प्रेमसागर', संस्करण १८०३, भूमिका, पृष्ठ २।

२. डाक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है—'खड़ी बोली हिन्दी गद्य साहित्य के विषय-विस्तार की दृष्टि से ही उसमें नवीनता का अभाव नहीं है, वरन् रोचकता की दृष्टि से भी उसका अच्छा स्वागत हुआ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ईस्ट इंडिया कंपनी के अत्यंत प्रतिभाशाली कर्मचारी मेजर स्लीमैन के मतानुसार 'Prem Sagar' is perhaps the most wearisome book in the world.' इसी प्रकार १८४६ के 'कलकत्ता रिव्यू' में एक समीक्षक का उसके बारे में कहना है, '...........the subject matter is a wearisome and endless repitition of the amours of Krishna....'

३. 'माधव विलास'।

४. गार्सा द तासी ने इसका उल्लेख 'इस्त्वार द ला लितरेच्योर हिंदुई ऐ ऐंदुस्तानी' में किया है।

५. ग्रियर्सन ने भी 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' में इसका उल्लेख किया है।

६. 'शिवसिंह सरोज'।

७. 'मिश्रबन्धु विनोद'।

लल्लूलाल जी ने इसकी रचना-भाषा आदि के विषय में लिखा है—' ....
श्री गुरुदेव के चरण कमल कौ ध्यान धर क्रिया योग सार ग्रंथ तें माधव सुलोचन की कथा निकारी श्री लल्लू जी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे वारे ने उक्ति युक्ति करि गद्य पद्य ब्रजभाषा में ग्रंथ बनाय माधव-सुलोचना की कथा यामें है यासों याकौ नाम माधव बिलास राख्यौ अरु निज छापे घर में छपवायो संवत् १८१४ आश्वन मास में इति।

इस रचना में गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए—

(१) देखत ही मगन द्वार।
मनौ पर्यौ बज्र प्रहार।।
सुधि बुद्धि सब ही जाय।
गुण आपनौं न सुहाय।।

(२) बहु बकत गाल बजाय।
भयभाँति-भाँति बताय।।
जोइ डरतु वाहि डराय।।

आदि पद्यांश गद्य के बीच में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं।

माधव-विलास की कथा और शिल्प

इस कथा का प्रारम्भ लालध्वज नाम के एक राजा के अपने दरबार में एक गुसाईं से पूछे गये इस प्रश्न से होता है कि संसार में सार क्या है और उसे कैसे जाना जा सकता है। इस प्रश्न के बाद गुसाईं जी उसका उत्तर देते हैं।

लालध्वज के एक पुत्र होता है। वह एक बार शिकार खेलने जाता है और चन्द्रकला पर मोहित हो जाता है, जो बहुबीर की पत्नी थी। चंद्रकला उसे समझा-बुझाकर राजकुमारी सुलोचना के पास भेजती है और उसे राजकुमारी के रूप-गुण के विषय में बताती है। किसी प्रकार वह जाकर उस राजकुमारी से मिलता है, किंतु सेवक के धोखा देने के कारण विरह-यातना सहता है। बड़ी कठिनाइयों के बाद दोनों का मिलन होता है और उस सेवक को दण्ड मिलता है।

अन्त में यह भी बताया जाता है कि इस कथा का पाठ करने से मनुष्य संसार में छला नहीं जायगा और गार्हस्थ्य जीवन में सुखी होगा।

जैसा कि उपर्युक्त कथा से स्पष्ट है, इसका प्रारंभ एक प्रश्न और उत्तर से होता है। यह प्रश्नोत्तर अधिकांशत: पद्य में है। प्रारम्भ में लेखक ने यह संवाद प्रस्तुत करने के पश्चात् मुख्य कथा वर्णित की है। कथा-संगठन के आधार पर यह ग्रंथ 'रानी केतकी की कहानी' की परम्परा में आता है।

'माधव विलास' से गद्य का एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—'............ कितेक वर्ष पाछें एक समय माधव नरपति बहुतेक लोग साथ लै आखेट कौ गयौ। बन में जाय बाघ चीता अरना वराह हरिन चीतल साबर आदि जीव अनेक अहेर किये अरु जिन जिनने जो जो चाहे सो सो लिये। जब अहेर करि ह्वांते बगद्यौ तब नगर के निकट आय कहा देखतु है कि एक स्त्री पन्द्रह सोलह बरष की। स्याम घटा से केस। पारी मानौ मरकत मणि की टाटी। चोटी लांबी कारी सटकारी जैसे पन्नग की नारी। मांग मोतियन तें संवारी। भाल चंद कौ सौ भाग। तिलक लाल जानौ पीतम कौ सुहाग। भौंहें बांकी मन मोहैं। श्रवण दोऊ सोप से सोहैं। दृगन के आगे कंवल मीन मृग खंजन कहा। नासिका कौं देखि तिल फूल और कीर लज्जित महा। वाके मुख चंद कौं पेखि पूर्णमा कौ चन्द्र कलंकी भयौ। दांत की पांत लखि दाड़िम कौ हियौ दरक गयौ। ग्रीवा की सुन्दरता निरख कपोत कुलमलाय। कुचन की कठोरता हेरि सरोज कली सरोवर में गिरी जाय। कटि की क्रषता देखि केहरी ने बन बास लियौ। जांघ की चिकनाई लखि कदली ने कपूर खा लियौ। जाके कर पद की कोमल ताके आगे पद्म की पदवी कछु न है।'

नासिकेतोपाख्यान

'नासिकेतोपाख्यान' के रचयिता सदल मिश्र बिहार के निवासी थे। फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों की इच्छानुसार ही इन्होंने संस्कृत से 'नासिकेतोपाख्यान' का अनुवाद सन् १८०३ में किया था।[१] इनकी भाषा इनके समकालीन अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक होने के कारण कलापूर्ण है। इस ग्रंथ में चंद्रावली की कथा का वर्णन किया गया है। संक्षेप में, इसकी कथा इस प्रकार है—

'राज जनमेजय से मुनि वैशम्पायन कहते हैं कि ब्रह्मा के पुत्र मुनि उद्दालक के आश्रम पर एक बार मुनि पिप्पलाद का आगमन हुआ। उन्होंने उनसे कहा कि

१. सदल मिश्र द्वारा अनुवादित 'नासिकेतोपाख्यान' (सम्पा०—डा० श्यामसुन्दर दास)।

तुम्हारा यह जप तप बिना भार्या और पुत्र के निरर्थक है। अपनी बूढ़ी अवस्था देखकर उन्होंने सोचा कि इस आयु में कोई उनसे अपनी कन्या का विवाह नहीं करेगा इसलिए वह ब्रह्मा के पास गये। उन्होंने उन्हें आशीर्वाद दिया और राज रघु की कन्या चन्द्रावती से उनका विवाह हुआ। उसने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम नाक से जन्म होने के कारण नासिकेत रखा गया।

एक बार नासिकेत वन में फलादि लेने गया और वहाँ सौ वर्ष तक समाधिस्थ रहने के बाद वापस आया। लौटने पर पिता से विवाद हुआ और उन्होंने पुत्र को यमलोक सिधारने का शाप दिया। पहले पुत्र इससे भयभीत हुआ पर बाद में योग की शक्ति से यम के पास पहुँच गया। परन्तु उसकी माँ को रोते देख मुनि ने पुत्र को वापस बुलाना चाहा, पर वह उन्हें समझाकर फिर वहाँ पहुँच गया। वहाँ से वह यमराज से वरदान प्राप्त करके वापस लौट आया। उसके लौटने पर सबने कौतूहल से यमलोक के विषय में जानकारी प्राप्त करने की इच्छा की। उससे सब कुछ सुनने के बाद वे लौट गये और धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे।

जैसा कि उपर्युक्त कथा से स्पष्ट है, 'नासिकेतोपाख्यान' की कथा वर्णनात्मक शैली में लिखी गयी है। इस कथा के स्थूल रूप से दो भाग हैं जिन्हें एक क्षीण सूत्र से सम्बद्ध किया गया है। ये कथा-खंड नासिकेत के जन्म तथा उसके यमलोक-प्रयाण तक सीमित हैं। इनके बीच में एक संधि है, जिसका आधार उसका वन-प्रवास है। अलौकिक तथा चामत्कारिक तत्वों के योग से इसकी कथा में रोचकता आ गयी है, और गठन की दृष्टि से वह सफल भी है।

गोरा-बादल की कथा—

१८८१ में जटमल लिखित 'गोरा बादल री बात' का खड़ी बोली में अनुवाद हुआ। जटमल ने इसकी रचना संवत् १६२० में की थी। कुछ लोग इसका रचना-काल १६२५ भी मानते हैं। परन्तु आचार्य शुक्ल ने ऊपर वाले मत की ही पुष्टि की है। उनका अनुमान है कि संवत् १८८१ में किसी ने इस ग्रंथ का खड़ी बोली में अनुवाद किया, जिसे जटमल ने राजस्थानी पद्यों में संवत् १६२० में लिखा था।[1] कुछ लोगों ने इसकी अन्य प्रतियों का भी उल्लेख किया है।[2]

१. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), पृष्ठ ४२३।

२. दे० ना० प्र० प० भाग २३ में ओझा जी का 'गोरा बादल की बात' शीर्षक लेख, पृष्ठ ४०२।

इसकी कथा का आधार एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है। मुगल शासक अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। यहाँ के गोरा और बादल नामक दो वीरों ने अत्यन्त साहस से उसका सामना किया और अन्त में वीरगति को प्राप्त हुए। इस ऐतिहासिक कथा में काल्पनिक और चामत्कारिक तत्वों का अधिकता से समावेश हुआ है।

आलोच्य कृतियों में कथा-शिल्प के रूप : सिंहावलोकन

इस अध्याय में हमने उन कृतियों की चर्चा की है, जो मूल रूप से हिन्दी उपन्यास के प्रेरणा-स्रोत हैं। वास्तव में जिस आदि कथा-साहित्य और उसकी विविध विकसित धाराओं का प्रभाव परवर्ती विकास-युगों में लक्षित होता है, उनमें उपर्युक्त ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यों तो इन सभी कृतियों का महत्व या तो ऐतिहासिक दृष्टि से है या भाषा की दृष्टि से; साहित्यिकता तथा कलात्मकता की दृष्टि से नहीं। परन्तु यह एक महत्वपूर्ण बात है कि उपर्युक्त कथा-कृतियों ने कथा-परम्परा की कड़ी के रूप में न केवल भावी कथा साहित्य को भूमि दी, वरन् एक क्षीण सूत्र-रेखा से उसे सम्बद्ध भी किया। साथ ही, शिल्प की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण न होने पर भी उसने इस क्षेत्र में भावी कथा-साहित्य को प्रभावित किया। इस कथा-साहित्य में वस्तु-विषय तथा उसके निर्धारण की दृष्टि से जो विशेषताएँ पायी जाती हैं, उन्हें निष्कर्ष रूप में यहाँ लिखा जा रहा है—

(क) धार्मिक-पौराणिक—

इस वर्ग में सर्वप्रथम वैदिक कालीन साहित्य आता है। इसमें कथा-रचना का आधार संवादात्मक तत्व हैं। वास्तव में तत्कालीन समय की धार्मिक आस्था और संस्कारजन्य मान्यताएँ ही इनमें मिलती हैं। इनकी रचना के पीछे धार्मिक प्रचार का उद्देश्य था। ये वैदिक मन्त्र तथा स्तुति आदि के परिवर्तित रूप थे। विषय-वस्तु की दृष्टि से व्यावहारिकता से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमें उपदेशात्मकता का स्वर मुखरित हो उठा है, क्योंकि इनके पूर्व-रूपों अर्थात् सूत्रों की रचना विविध धार्मिक आचार्यों एवं उनके शिष्यों के बीच हुए वार्तालाप के आधार पर हुई थी। परवर्ती युग में जब इन सूत्रों की व्याख्या की दिशा में प्रयत्न करते हुए उन्हें

पल्लवित करने की चेष्टा हुई, तब उनमें उपदेशात्मकता का तत्व भी समावेशित हो गया। संवादात्मक शैली में लिखे गये इन आख्यानों के विषय कोई गूढ़ दार्शनिक तत्व नहीं हैं। रोचक शैली में लिखे गये ये आख्यान धार्मिक हैं और इनमें विविध शंकाओं के समाधान और प्रश्नों के उत्तर के रूप में अनेक तात्विक विषयों का उल्लेख किया गया है।

इस वर्ग में परवर्ती युग की केवल दो कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है—(१) 'प्रेमसागर' और (२) 'नासिकेतोपाख्यान'। जहाँ तक 'प्रेमसागर' की कथावस्तु का सम्बन्ध है, उसके विस्तार से उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पीछे यह कहा जा चुका है वह 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध का अक्षरशः अनुवाद है। इस कथा में धार्मिक और पौराणिक तत्वों की ही प्रमुखता है और आदर्श रूप में उनका समन्वय हुआ है।

'नासिकेतोपाख्यान' की कथा धार्मिक-भावना प्रधान है, जिसका आधार पौराणिक है। तत्व रूप में इस ग्रंथ में यह निर्देशित किया गया है कि संसार में जप-तप तथा धार्मिक जीवन व्यतीत करने का महत्व अवश्य है, परन्तु इसके साथ ही मनुष्य को सांसारिक कर्तव्यों की भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यदि वह ऐसा करता है तो उसके लोक और परलोक दोनों बिगड़ते हैं। उसका मनुष्य-जीवन तो निरर्थक होता ही है, साथ ही मृत्यु के पश्चात् मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती। इसमें भारतीय मोक्ष विषयक धारणा का समर्थन है कि बिना पुत्रोत्पत्ति के मनुष्य को मोक्ष नहीं मिल सकता। दूसरा तत्व सांसारिक जीवन के एक मर्यादित और सन्तुलित रूप के निर्धारण का है। परलोक तभी सुधरेगा, जब मनुष्य अपने जीवन में धार्मिकता की भावना की उपेक्षा नहीं करेगा और अपने सांसारिक कर्तव्यों से भी विमुख नहीं होगा।

(ख) नीति प्रधान—

इस वर्ग में अधिकांशतः बौद्ध-साहित्य की गणना की जा सकती है। परवर्ती युगों के कथा-साहित्य को बौद्ध-साहित्य ने रूप-विकास की दृष्टि से बहुत प्रभावित किया है। जैसा कि हम कह आये हैं, बौद्ध कथा-साहित्य संकेत, संवाद आदि रूपों में लघु आकार लिये हुए मिलता है। जहाँ तक पारस्परिक क्रम-बद्धता का प्रश्न है, उसके तारतम्य का निर्वाह प्रासंगिक विषयों की कथाओं द्वारा हुआ है। परंतु उद्गम की दृष्टि से परम्परानुकूल होते हुए भी यह प्राचीन कथा-परम्परा में नहीं आता; क्योंकि

विषय-वस्तु की दृष्टि से इनका मूल वे ही कथाएँ होने पर भी शिल्प की दृष्टि से दोनों में विभिन्नता है। साथ ही, आकार में लघुता होने के कारण इनमें कथा का वह बिखराव नहीं देख पड़ता, जो पूर्ववर्ती भिन्न प्रवृत्तियों के कथा-साहित्य में मिलता है।

जैसा कि अभी हमने कहा, मौलिक सूत्रता के कारण बौद्ध तथा अबौद्ध कथा-साहित्य एक ही परम्परा में आते हैं। अवश्य आगे इनमें भिन्नता मिलती है, परन्तु प्रारम्भिक रूपों में यह भेद नहीं पाया जाता; क्योंकि मूल रूप से इनकी पृष्ठभूमि में कथा का एक सूत्र तत्व रूप में विद्यमान था। आगे चलकर उसे विविध स्थानों और सम्प्रदायों द्वारा विविध रूपों में ग्रहण किया गया। फिर वे अपने सम्प्रदाय द्वारा निर्धारित स्वरूप के अनुसार ही पहचानी जाने लगीं। उनका परवर्ती रूप उनके साम्प्रदायिक तत्वों के सन्दर्भ में मान्यता-प्राप्त हुआ।

जातक कथा-साहित्य के अंतर्गत जितनी भी कथाएँ आती हैं, उनमें शिल्प की दृष्टि से अलग विशेषताएँ मिलती हैं। प्रायः प्रत्येक जातक कथा चार भागों में विभक्त होती है—प्रथम भाग पच्चुपन्न वत्थु, द्वितीय भाग अतीत वत्थु, तृतीय भाग अत्थ वण्णना तथा चतुर्थ भाग समोधान। पहले से वर्तमान कथा का संकेत होता है, अर्थात् बुद्ध के जीवन-काल की कोई घटना का; दूसरे से किसी प्रासंगिक परन्तु पूर्व-जन्म की घटना का, तीसरे मे इन्हीं की व्याख्या और चौथे में स्पष्टीकरण के रूप में कोई कथन होता है।

वृहत्कथा, वृहत्कथा श्लोक, वृहत्कथा मंजरी और कथा-सरित्सागर में कथा-वर्णन शैली विशिष्ट है। इनमें कथा-शिल्प की दृष्टि से जो विशेषताएँ मिलती हैं, उनमें सर्वप्रथम यह है कि इस युग के अन्य कथा-ग्रन्थों में अनावश्यक रूप से प्रासंगिक कथाएँ तथा विवरण भरकर जो बिखराव उत्पन्न कर दिया जाता था, उसका पूर्णतः अभाव है। इसी के फलस्वरूप इनमें कुछ अन्य विशेषताएँ भी आ गयी हैं, जैसे कथा का सुसंगठित होना, कथा-चक्र का मूल सूत्र पर केन्द्रित रहना, क्योंकि मूल कथा पर अनावश्यक दबाव नहीं पड़ा है। कथा की एकता, उसकी केन्द्रगतता, गठन आदि की दृष्टि से इन कथाओं का महत्व इस युग के कथा-साहित्य में विशिष्ट है।

इस युग के कथा-साहित्य में जो प्रवृत्तियाँ बहुलता से मिलती हैं, उनमें एक यह है कि जो बृहत् कथाएँ उपलब्ध होती हैं, वे अनेक प्रकार की और विविध विषयों की असंख्य छोटी-छोटी कथाओं का संग्रह मात्र हैं। एक-सूत्रता के तत्व इनमें बहुत

क्षीण हैं, जिसके कारण उनका अभाव प्रतीत होता है। इस प्रवृत्ति को इस युग के कथा-साहित्य की सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख शिल्प-गत विशेषता कहा जा सकता है। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि 'शुक सप्तति' आदि की कोटि में आने वाली रचनाएँ भिन्न तत्वों के विद्यमान होने का आभास देती हैं, क्योंकि उनकी कथा में कथानक-तत्व की एकता की रक्षा की जा सकी है।

(ग) लोक-तत्व-प्रधान—

'पंचतंत्र' की गणना भारत के प्राचीन लोक-कथा-साहित्य के अंतर्गत की जाती है। इसका शिल्प रूप इसलिए भिन्न है क्योंकि इसकी रचना सोद्देश्य की गयी और इसका अंत इस दृष्टि से निष्कर्षात्मक होना आवश्यक था। ठीक इसी उद्देश्य से 'हितोपदेश' की रचना भी की गयी थी। हाँ, दोनों में प्रमुख भेद यह है कि जहाँ सभी जातकों के आरम्भ में वाराणसी में किसी ब्रह्मदत्त नाम के राजा के राज्य करने की बात अवश्य आती है, वहाँ इस प्रकार का कोई पूर्व-निर्धारित कथा-क्रम 'हितोपदेश' की कथाओं में नहीं मिलता, यद्यपि निष्कर्षात्मक अंत की दृष्टि से दोनों समान हैं।

(घ) ऐतिहासिक—

इस युग की कथा-कृतियों में केवल 'गोरा बादल की कथा' ही एक ऐसी है, जिसकी कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है। इतिहास में मुगल सम्राट अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण एक प्रसिद्ध घटना है। उसके आक्रमण के समय चित्तौड़ के गोरा तथा बादल नाम के दो वीरों ने साहस के साथ उनका सामना किया और जन्मभूमि के गौरव की रक्षा के लिये अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। इसी कथा को इस कृति में ऐतिहासिक तथ्यों की पृष्ठभूमि लेकर प्रस्तुत किया गया है।

(ङ) कल्पनात्मक—

इस युग की जिन कथा-कृतियों की कथावस्तु पूर्णतः कल्पनात्मक है, अथवा जिनमें कल्पना-तत्व का आधिक्य है, उनमें 'रानी केतकी की कहानी', 'सिंहासन बत्तीसी' तथा 'बैताल पचीसी' आदि हैं।

'रानी केतकी की कहानी' का साहित्यिक दृष्टि से भले ही महत्व न हो, परन्तु परम्परागत विषय-वस्तु और शिल्प की दृष्टि से इसमें कुछ उल्लेखनीय तत्व मिलते हैं। वास्तव में इस प्रारम्भिक युग के कथा-साहित्य में, भले ही वह किसी भी रूप में उपलब्ध होता हो, कुछ परम्परागत कथा-तत्व स्पष्ट रूप से पाये जाते हैं। उदाहरण

के लिए इस युग के जो अन्य गद्यकार थे, उन्होंने रीतिकालीन विषय-परम्परा से प्रभावित होते हुए भी अपनी रचनाओं में यथासम्भव उसकी छाप न आने दी। अधिकांशत: उन्होंने परम्परागत धार्मिक विषयों पर लिखा है, और इस दृष्टि से यह व्यर्थ ही होगा कि उनकी रचनाओं में किन्हीं ऐसे तत्वों को ढूँढ़ने की चेष्टा की जाय, जिन्हें युग की प्रवृत्तियों की दृष्टि से नवीनतर कहा जाता है।

स्पष्ट है कि 'रानी केतकी की कहानी' का महत्व उपर्युक्त पृष्ठभूमि में सहसा बढ़ जाता है। हम पूर्व के अध्यायों में यह कह आये हैं कि मध्यकालीन साहित्य पर जो प्राचीन युग के कथा-सूत्रों का प्रभाव किन्हीं भी रूपों में पड़ा था, उसके फलस्वरूप उसमें कई साहित्यिक धाराएँ समानान्तर प्रवाहित हुई थीं। इनमें से एक थी मध्यकालीन प्रेम-गाथा की परम्परा। मध्यकालीन युग में एक विशिष्ट कथा-प्रवृत्ति के रूप में इसे स्वीकार किया जाता है और इस दृष्टि से इसका महत्व सर्वमान्य है। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि आधुनिक युग तक आते-आते उसका क्रम जो टूट जाता है, तो वह फिर कहीं किसी साहित्यिक धारा से सम्बद्ध होता नहीं दिखायी देता।

आधुनिक युग में उसे अवश्य फिर उसी परम्परा से सम्बद्ध होकर विकास को प्राप्त होना चाहिए था। परन्तु लेखकों की इस ओर से उदासीनता या अन्य किन्हीं कारणों से ऐसा नहीं हुआ लगता। इस प्रारम्भिक युग में भी, जब गद्य की भाषा धीरे-धीरे सुनिश्चित-सी हो रही थी, लेखकों ने इस ओर ध्यान न देकर धार्मिक विषयों से सम्बंध रखने वाले साहित्य का ही प्रणयन किया, यह आश्चर्य की ही बात है। ऐसी स्थिति में भी यदि कोई धार्मिक उद्देश्य से अलग लौकिक शृंगारिक भावना को ही आधार बनाकर इस प्रकार की किसी प्रेम-कथा का सृजन करे, तो यह साधारण बात नहीं कही जानी चाहिए, क्योंकि सृजनात्मक प्रक्रिया की दृष्टि से इस प्रकार का प्रवृत्ति-विद्रोह असामान्य कार्य ही माना जाना चाहिए।

अब आधुनिक कथा-साहित्य में प्रवृत्ति-प्रवर्त्तन की दृष्टि से इसका महत्व देखना चाहिए। जैसा कि इसकी कथा से स्पष्ट है, इसमें अस्वाभाविक, अलौकिक और चामत्कारिक तत्वों का समावेश भी है। मूल रूप से इस प्रकार के तत्वों का प्रवेश प्रासंगिक रूप से किया गया है तथा इनके समावेश का एकमात्र उद्देश्य कथा को मनोरञ्जक बनाना है। एक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि यदि इसमें इनका समावेश न होता, तो शायद इसका वह रूप और महत्व न रह जाता, जो आज है।

ऊपर के विविरण से जो निष्कर्ष निकलते हैं, उन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१)—इस कथा - कृति में परम्परागत कथा - सूत्र अवशिष्ट रूप में विद्यमान हैं।

(२)—यह प्रेम - कथा - परम्परा में आने वाली इस युग की सर्वप्रथम कथा-कृति है।

(३)—यह शुद्ध शृंगारिक पक्ष के लौकिक आधार को लेकर लिखी गयी है, जिसके पीछे कोई धार्मिक उद्देश्य नहीं।

(४)—यह परवर्ती युगों में चामत्कारिक कथा-तत्वों की प्रवर्तक कृति है।

(५)—इस युग की यह ऐसी कथा-कृति है जिसका प्रारम्भ और अन्त पद्य से होता है जैसे प्रारम्भ—

यह वह कहानी है कि जिसमें हिन्दी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट॥

और अन्त—

जी लगा कर केवड़े में केतकी का जी खिला।
सच है दोनों के जियों को अब किसी की क्या पड़ी।

आदि पद्यांश आते हैं तथा कहानी के मध्य में भी—

रानो को बहुत सी बेकली थी, कब सूझती कुछ बुरी भली थी।
चुपके चुपके कराहती थी, जीना अपना न चाहती थी॥

एवं—

छा गई ठंडी साँस झाड़ों में।
पड़ गयी कूक सी पहाड़ों में॥

आदि पद्यांशों का प्रयोग किया गया है। ध्यान देने की बात यह है कि आगे चलकर इसी परम्परा के प्रभाव स्वरूप भारतेन्दु युगीन उपन्यास में भी ऐसे अनेक पद्य मिलते हैं, जिनसे उनका प्रत्येक अध्याय प्रारम्भ होता है।

परन्तु 'रानी केतकी की कहानी' के कथा-रूप का प्रभाव आगे चलकर सीधे भारतेन्दु युग में ही उपन्यासों में दिखायी देता है, यह भी कहना उचित नहीं है। वास्तव में इसी युग में आगे चल कर 'माधव-विलास' में उसके कथा-रूप का प्रभाव मिलता है। 'रानी केतकी की कहानी' में जब तक दोनों राजाओं में युद्ध नहीं होता,

तब तक तो कथा अपने स्वाभाविक रूप में प्रवाहित होती रहती है, और उसका विकास उसी के अनुरूप होता है; परन्तु जब दोनों राजाओं में युद्ध आरम्भ हो जाता है, तब कथाकार को अपनी कथा में रोचकता बनाये रखने के लिए; तथा साथ ही उसमें आवश्यक गतिशीलता लाने के लिए कुछ ऐसे अलौकिक तत्वों का समन्वय करना पड़ता है, जो उस युग की कथा-तत्व विषयक विशेषताओं को देखते हुए कोई आश्चर्यजनक बात नहीं कही जा सकती। उस स्थल विशेष पर जब कथा में एक मोड़-सा आ जाता है, तब उसमें चमत्कार उत्पन्न करने के लिए लेखक कहता है कि राजा जगतप्रकाश का कोई गुरु था, जो हिमालय पर्वत पर निवास करता था। राजा जगत प्रकाश अपने आपको महान विपत्ति में अनुभव करके अपने गुरु का स्मरण करता है, जैसा वह अपने पर विपत्ति आने पर सामान्यत: करता था। गुरु की सहायता से उसकी विजय इसलिए होती है, क्योंकि गुरु विपक्षी दल के राजा, रानी व कुँवर को ही हरिण-हरिणी बना देता है और वे जंगल में विचरण करते हैं। यों यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इस कथा की रचना द्वारा कथाकार ने सर्वप्रचलित धार्मिक-साहित्य की प्रवृत्ति से अलग कोई रचना करने का सर्वप्रथम प्रयास किया था।

लल्लू लाल कृत 'माधव-विलास' भी विषय-वस्तु में कल्पनात्मकता की दृष्टि से इस युग की एक उल्लेखनीय रचना है। इसमें जो मूल कथा के सामान्य तत्व हैं, उन पर स्वभावत: ही युगीन प्रवृत्तियों की छाया दृष्टिगोचर होती है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इस कृति में इन सामान्य बातों से अलग भी बहुत कुछ है। और वह यह है कि अब तक इस युग की जिन कथा-कृतियों का उल्लेख किया गया है, उनमें मूल कथा-तत्व तो अवश्य विद्यमान हैं, और एक दृष्टि से उनके एकमात्र ऐतिहासिक महत्व का यही कारण भी है; परन्तु जहाँ तक अन्य कथा-तत्वों के समावेशित होने का प्रश्न है, यह कहना अनुचित न होगा कि उनका उसमें पूर्ण अभाव है। यदि कुछ विद्वान् इसी दृष्टिकोण को अपने अध्ययन का आधार बनाकर इन कथा-कृतियों की उपेक्षा करते हैं, तो वे भी इसी अभाव को सर्वप्रथम ध्यान में रखते हैं। परन्तु जब कथा-शिल्प के क्रमिक विकास के अध्ययन के दृष्टिकोण से किसी कृति पर विचार किया जाता है, तब स्वभावत: ही कुछ ऐसी बातें सामने आती हैं, जिनका उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसकी कथा में मध्य युगीन काव्य-परम्परा की प्रेम-गाथाओं का प्रभाव है।

उदाहरण के लिए राजकुमार माधव चन्द्रकला की सलाह से दिव्यवन्ती पुरी जाता है। वहाँ उसे सुलोचना राजकुमारी अपनी मालिन के द्वारा सूचना भिजवाती है कि मैं मन्दिर में आऊँगी और वहाँ पर अपना हाथ ऊपर करूँगी, तभी तुम मुझे खींच लेना। अपहरण की यह प्रणाली निश्चित रूप से कृष्ण-रुक्मिणी प्रसंग से प्रभावित है। यह प्रसिद्ध कथानक मध्य युगीन काव्य में अनेक रूपों में अनेक कवियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यहाँ उसमें इतना अन्तर अवश्य मिलता है कि रुक्मिणी ने प्रारम्भ में ही कृष्ण को सूचना भेजी थी और वह उसी आमन्त्रण पर आये थे, परन्तु यहाँ पर जब राजकुमार माधव दिव्यवन्ती नगरी पहुँच गया, तब राजकुमारी सुलोचना ने उसे यह सूचना भेजी।

कथानक का अंतिम अंश भी मध्य युगीन प्रेम-गाथा परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होता है, जिसमें अपने सेवक के विश्वासघात के कारण राजकुमार माधव को सुलोचना का वियोग सहन करना पड़ता है। एकरूपता की दृष्टि से यह मलिक मुहम्मद जायसी के 'पद्मावत' के निकट है। इसी प्रकार उपसंहार उपदेशात्मक हो गया है, जिसमें यह कहा गया है कि जो कोई इस कथा का पारायण करेगा, वह कभी भी किसी से धोखा नहीं उठायगा और साथ ही उसे अपने गार्हस्थ्य जीवन में भी सुख मिलेगा।

प्राचीन कथा साहित्य का शिल्प की दृष्टि से अध्ययन करते समय यह बात ध्यान में रखनो चाहिए कि इस युग की शिल्पगत विशेषताओं को विशिष्ट कृतियों के संदर्भ में देखना तो ठीक है, परन्तु प्रवृत्तिगत रचना-विकास की दृष्टि से नहीं। इसका कारण यह है कि एक तो इस युग के अनेक कथा-ग्रंथों की रचना-तिथि के विषय में विद्वानों में मतभेद है और दूसरे प्रक्षिप्त अंशों के विषय में भी उनमें मतैक्य नहीं है। यों इस रचना-काल तथा प्रक्षिप्त अंशों की प्रामाणिकता के विवाद से हमारे विषय का विशेष सम्बन्ध नहीं है, परन्तु इतना स्वीकार करना होगा कि यदि इस विषय में, इनमें रचना-काल सम्बन्धी वैभिन्न्य है, तो यह मान लेना उचित न होगा कि इनमें पायी जाने वाली विशेषताएँ भी किसी एक काल की ही हैं। वास्तव में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि प्राचीन कथा-साहित्य ने परवर्ती युगों के साहित्य को प्रभावित किया, परन्तु इसके साथ ही साथ, जैसा कि हम आगे देखेंगे, कथा-शिल्प का विकास, प्रत्येक नवीन युग में, उसके समानान्तर ही, स्वतन्त्र रूप से भी हुआ है।

अध्याय ४

हिंदी उपन्यास का उद्भव और प्रारम्भिक विकास तथा उसमें कथा-शिल्प का स्वरूप

आधुनिक युग की पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि —

जब किसी देश अथवा राष्ट्र का शासन-सूत्र एक शक्ति के पास से दूसरी शक्ति अथवा एक जाति के हाथ मे निकलकर दूसरी जाति के हाथ में जाता है, तब उस देश में अनेक परिवर्तन होते हैं। ये परिवर्तन, विशेष रूप से, वहाँ के जन-जीवन, समाज, राजनीति, संस्कृति तथा साहित्य के क्षेत्र में होते हैं, और अपेक्षाकृत उन्हें ही अधिक प्रभावित करते हैं। भारतवर्ष को एक लम्बे समय तक विदेशी शासन में रहना पड़ा है। जब हिन्दू राजाओं के हाथ से राजसत्ता निकलकर मुगलों के हाथ में गयी, तो यहाँ जो परिवर्तन इसके फलस्वरूप हुए, वे स्वाभाविक थे। इस नयी अवस्था में हमें तब तक रहना पड़ा, जब तक मुगल-साम्राज्य का पतन न हुआ, और भारत का शासन-सूत्र एक अन्य विदेशी जाति—अँग्रेजों के हाथ में न चला गया।

यद्यपि अँग्रेजों से पहले यहाँ पुर्तगाली, डच और फ्रांसीसी भी आ चुके थे और विभिन्न स्थानों पर वे अपनी शक्तियाँ केन्द्रित भी कर चुके थे, परन्तु चूँकि उन्हें अँग्रेज जाति की प्रतिद्वंद्विता में अधिक सफलता न मिल सकी, वे अपनी जड़ न जमा सके। अँग्रेजों का आगमन जहाँगीर के समय हुआ था। उन्होंने बम्बई, मद्रास और कलकत्ते में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये और अपनी शक्ति की वृद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया। उन्होंने भारतीय राज्यों के पारस्परिक द्वेष से लाभ उठाने की इच्छा से यहाँ की राजनीति में भाग लेना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे अपनी कूटनीति की सफलता के कारण वह भारतीय राजनीति का एक प्रमुख अंग बन गये और उन्होंने अपनी शक्ति भी काफी बढ़ा ली।

सन् १७५७ में पलासी का युद्ध हुआ, जिसमें अँग्रेज विजयी हुए। अब

उनका बंगाल पर पूर्ण अधिकार हो गया। इसके कुछ वर्षों बाद, सन् १७६४ में, बक्सर की लड़ाई हुई और अवध पर भी अँग्रेजों का प्रभुत्व हो गया। बक्सर के युद्ध के बाद लगभग एक वर्ष के अन्दर ईस्ट इंडिया कम्पनी को बिहार की दीवानी मिल गयी। इस प्रकार सन् १८४९ में जब अँग्रेजों ने द्वितीय सिख युद्ध में विजय प्राप्त की, तब तक प्रायः समस्त भारतवर्ष पर उनका अधिकार हो चुका था। इस समय तक अधिकांश देशी राज्यों का पतन हो चुका था। परस्पर युद्ध करते रहने के कारण उनकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और उनमें अँग्रेजों से युद्ध करने का उत्साह भी न शेष था।

ऐसी कठिन परिस्थिति में लार्ड डलहौजी भारत आये।[1] उनकी नीति से भारतीय राज्यों में अत्यधिक असन्तोष फैला। अब तक अँग्रेजों की शासन-नीति की कुटिलता से भारतीय जनता परिचित हो चुकी थी। साथ ही उनके ईसाई मिशनरियों द्वारा किये जाने वाले धर्म-प्रचार के प्रति भी उसमें तीव्र विरोध की भावना थी। यहाँ के सामाजिक जीवन पर अँग्रेजों की छाप पड़ चुकी थी। अँग्रेज शासकों द्वारा किये हुए सामाजिक सुधार प्रायः भारतीय धर्म के अनुकूल न होते थे। अतः भारतीय जनता में यह संदेह बढ़ता जाता था कि अँग्रेज उसे धर्म-भ्रष्ट करना चाहते हैं। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि भारतीयों के हृदय में अँग्रेजों के प्रति विद्रोह की भावना बढ़ती गयी। यहाँ के कुछ प्रमुख जन-नायकों ने ऐसे संशयास्पद समय से लाभ उठाकर जनता का नेतृत्व किया और उसे विद्रोह की प्रेरणा दी। विद्रोह की यह अग्नि सन् १८५७ के गदर के रूप में भड़की, जिसने अपनी प्रचण्डता से एक बार अँग्रेजी साम्राज्य को भी हिला दिया।

लार्ड डलहौजी के बाद, सन् १८५६ में, लार्ड कैनिंग भारत के गवर्नर-जनरल होकर आये। वह ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के अंतिम गवर्नर-जनरल थे। भारत में आने के एक ही वर्ष के अंदर उन्हें १८५७ की भयंकर क्रांति का सामना करना पड़ा। यद्यपि वह एक योग्य और ईमानदार शासक थे, किंतु वह भारतीय जनता में उत्पन्न हुए असंतोष को न दूर कर सके। इस समय तक जनता के हृदय में राजनैतिक चेतना का उदय हो चुका था। अपनी सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति

१. जनवरी, १८४८।

में हीनता का प्रमुख कारण उसे परतंत्रता ही जान पड़ती थी। इसी असंतोष के फलस्वरूप सन् १८५७ की सशस्त्र क्रांति हुई। कुछ लोगों का विचार है कि यह एक आकस्मिक घटना थी। किंतु वास्तव में बात कुछ और ही थी। यह वह भयंकर ज्वाला थी, जिसकी चिनगारी बहुत पहले से सुलग रही थी। इस क्रांति का वास्तविक उद्देश्य भारत से अँग्रेजी राज्य का उन्मूलन करना था। कुछ अन्य लोग उसे एक सैनिक विद्रोह मात्र मानते हैं। ऐसे लोगों की धारणा है कि इसके मूल में चर्बीयुक्त कारतूस ही प्रधान कारण था। किंतु अब ये विचार निराधार सिद्ध हो चुके हैं। अब यह सर्वसम्मति से स्वीकार किया जा चुका है कि यह देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए किया गया एक ऐसा विप्लव था, जिसमें समाज के विविध वर्गों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भाग लिया था।[1]

इस अवसर पर अँग्रेजों ने धैर्य, साहस और चतुराई से काम लिया। इस विद्रोह को दबाने में उन्होंने दमन-नीति का अनुसरण किया। विद्रोहियों के साथ अत्यंत निर्दयता का व्यवहार किया गया। एक वर्ष तक कठोरतापूर्वक दमन और अत्याचार करते रहने पर, सन् १८५८ में, उन्हें इस विद्रोह को शांत करने में सफलता मिली। किंतु इस विद्रोह ने ईस्ट-इंडिया-कम्पनी का अंत कर दिया। सन् १८५८ के नये कानून के अनुसार भारतीय शासन इंग्लैंड के राजछत्र के अधीन हो गया।

इस परिवर्तन के साथ ही साथ यहाँ की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव बढ़ना आरम्भ हो गया। यहाँ की जनता के—विशेष रूप से अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के—सामाजिक विचारों में परिवर्तन होने लगा। अब तक भारतीय शासन-नीति कम्पनी का गवर्नर-जनरल निर्धारित करता था, किंतु अब यह कार्य इंग्लैंड में होने लगा। वहाँ एक सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया नियुक्त किया गया और उसकी सहायता के लिए एक इंडिया-कौंसिल भी बनायी गयी। यद्यपि ऐसा होना भारत के हित में कुछ हद तक लाभप्रद सिद्ध हुआ—क्योंकि इससे कम से कम एक उत्तरदायी शासन की नींव पड़ी और शासन संबंधी अनेक सुधार हुए—किंतु साथ ही भारत की आर्थिक दशा भी क्रमशः खराब होती गयी।

१. 'भारत का इतिहास' (डा० ईश्वरी प्रसाद), भाग २, पृष्ठ ३९२।

उसी समय से भारत में एक नया युग-सा आरम्भ हुआ। यहाँ अँगरेजी सरकार ने रेल, तार, डाक, नहरों, सड़कों आदि के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया। इससे यातायात में तो सुविधा हुई ही, साथ ही अन्य भी अनेक लाभ हुए। देश की औद्योगिक स्थिति में सुधार हुआ और विज्ञान की उन्नति हुई। दूरी की समस्या इस प्रकार हल हो जाने से साहित्यिक, सांस्कृतिक विचारों का आदान-प्रदान भी पहले की अपेक्षा अधिक सरल हो गया। देश की साहित्यिक उन्नति में ये बातें कई अन्य प्रकार से भी सहायक सिद्ध हुईं। भारत और इंगलैंड के बीच समुद्री मार्गों से यात्रा करना सुविधाजनक हो जाने तथा भारतीयों में प्रचलित समुद्र-यात्रा पर सामाजिक प्रतिबंध शिथिल हो जाने पर इस देश से यूरोपीय देशों, विशेष रूप से इंगलैंड के, संबंध बढ़ते चले गये। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि वहाँ के विज्ञान और साहित्य का हम पर प्रभाव पड़ता। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और कला में रुचि दिखायी और उसके संबंध में अधिक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उनमें बढ़ी। कुछ लोगों ने इस दिशा में अध्ययन करना आरम्भ किया, जिसके फलस्वरूप अन्य लोगों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ।

भारत में मुगलों के शासन-काल में ही हिंदू धर्म के नियमों में शिथिलता आने लगी थी। मुगल वंश के अंतिम बादशाहों, विशेष रूप से औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता और हिंदू धर्म के प्रति असहिष्णुता के फलस्वरूप इस धर्म पर अनेक आघात हुए। ब्राह्मण लोग धर्म के तत्व, ज्ञान आदि को भूल कर, अज्ञानवश दान लेने में ही अपने धर्म की इतिश्री समझने लगे। अज्ञानी और अशिक्षित जनता भी अन्धविश्वासों में पड़कर धर्म-विमुख हो रही थी। जाति की दुर्बलता और प्राणशून्यता के कारण सामाजिक कुरीतियाँ बढ़ रही थीं। सती-प्रथा, बाल-विवाह, बाल-हत्या आदि प्रथाएँ अब तक बन्द न हो पायी थीं। जातियाँ और उपजातियों की बहुलता के कारण संगठन होना असम्भव-सा था।

ऐसे समय में जब कि धार्मिक स्थिति इतनी शोचनीय थी, भारत में ईसाई मिशनरियों का अगमन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारत में ईसाई धर्म-प्रचारकों का कार्य काफी तेजी से होने लगा था। ये धर्म-प्रचारक उन लोगों की हर तरह से सहायता करने को तैयार रहते थे, जो ईसाई-धर्म स्वीकार कर लेते थे। इसी समय ब्रह्म-समाज तथा आर्य-समाज के धार्मिक आन्दोलनों में तेजी

आने का प्रयत्न हुआ। इन दोनों धार्मिक आन्दोलनों से, कम से कम, इतना लाभ अवश्य हुआ कि ईसाई धर्म-प्रचारकों के मार्ग में अनेक बाधाएँ आयीं और उनका प्रचार एक सीमा तक रुक-सा गया।

राजनैतिक पृष्ठभूमि—

भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की भावनाओं का समुचित विकास उन्नीसवीं शताब्दी से हुआ। मुगलकाल में देश में अनेक छोटे-बड़े राज्य थे, जो अपने स्वार्थ के लिए परस्पर युद्ध करते रहते थे। अंग्रेजी शासन के स्थापित हो जाने पर देश के प्रायः सभी राज्य धीरे-धीरे अंग्रेजों के अधीन हो गये। इस प्रकार देश में राजनैतिक एकता की स्थापना हुई। सम्पूर्ण देश में शासन-प्रणाली तथा शिक्षा-पद्धति प्रायः एक-सी थी। यातायात की सुविधाएँ बढ़ने के साथ ही साथ देश में राष्ट्रीय एकता भी बढ़ने लगी। विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और उच्च शिक्षा का प्रचार बढ़ा। धार्मिक आंदोलनों ने भी नव-जागृति उत्पन्न करने में योग दिया। ईश्वरचंद विद्यासागर, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरुषों ने अपने विचारों का जनता में प्रचार किया और इस प्रकार नवीन विचारधारा का प्रभाव जनता पर बढ़ता गया।

सन् १८८५ में श्री ह्यूम के प्रयत्न से बम्बई में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई।[1] प्रारंभ में कांग्रेस का भाव, सरकार के प्रति, मैत्री का था, किंतु सन् १८८६ के बाद से सरकार कांग्रेस को संदेह की दृष्टि देखने लगी। इस समय तक कांग्रेस में प्रायः मध्यम श्रेणी की शिक्षित जनता थी, मुसलमानों का सहयोग इसे नहीं मिला था। सन् १८९० में सरकार द्वारा घोषणा की गई कि कोई भी सरकारी कर्मचारी कांग्रेस में भाग न ले सकेगा। इस घोषणा से कांग्रेस में बहुत असन्तोष फैला और उसने सरकार की तीव्र आलोचना की। इस समय तक कांग्रेस में मुसलमान भी काफी संख्या में सम्मिलित हो चुके थ, यद्यपि सर सैयद अहमद खाँ जैसे लोग कांग्रेस के विरोधी थे और इसी उद्देश्य से सन् १८८८ में 'अपर इंडिया एसोसिएशन' की स्थापना कर चुके थे।

इस समय तक कांग्रेस का आन्दोलन लगभग देश-व्यापी हो चुका था।

१. 'भारत का इतिहास' (डा० ईश्वरी प्रसाद), भाग २, पृष्ठ ५११।

इसी काल में, महाराष्ट्र में श्री बाल गंगाधर तिलक ने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया रूप दिया। उन्होंने अपना 'केसरी' नामक प्रसिद्ध पत्र निकाला तथा उसके माध्यम से सरकारी नीति की कड़ी आलोचना करने लगे। सन् १८९६ में बम्बई और पूना में प्लेग के प्रकोप से हजारों आदमी मर गये। सरकार इस समय जनता की विशेष सहायता न कर सकी। इसकी भी तीव्र आलोचना की गयी। सन् १८९७ में दो ब्राह्मण युवकों को एक अंग्रेज का वध करने के अपराध में फाँसी पर चढ़ा दिया गया। इससे सारे देश में सनसनी फैली।

अब तक कांग्रेस में दो दल बन चुके थे—नरम दल (माडरेट्स) और गरम दल (एक्सट्रीमिस्ट्स)। गरम दल के नेता बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल तथा अरविन्द घोष आदि थे। नरम दल के नेताओं में दादाभाई नौरोजी, सर फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले तथा मदनमोहन मालवीय आदि प्रमुख थे। सन १९०६ में कांग्रेस का कलकत्ते में अधिवेशन हुआ। इसके सभापति दादा भाई नौरोजी थे। दादा भाई नौरोजी ने स्वराज्य प्राप्ति को कांग्रेस का लक्ष्य बताया। बहिष्कार का प्रस्ताव पास हुआ। इस समय गरम दल का प्रभाव बढ़ रहा था। वह राज-भक्ति का दिखावा छोड़कर सीधे स्वराज्य की माँग करने के पक्ष में था और नरम दल शान्ति पूर्वक स्वराज्य की माँग करना चाहता था। वह अपनी कार्य-प्रणाली में परिवर्तन नहीं करना चाहता था।

सन् १९०७ में सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में दोनों दलों में मतभेद अधिक बढ़ गया, अतः अधिवेशन भंग कर दिया गया। अब दोनों दल अलग-अलग हो गये। सन् १९०७-८ में बंगाल में सशस्त्र क्रान्ति की चेष्टाएँ होने लगीं। अंग्रेज अधिकारियों पर बम फेंके जाने लगे और अनेक गुप्त संस्थाएँ बनीं। सरकार ने कठोरता से स्थिति का सामना किया। अनेक प्रमुख नेताओं को जेल भिजवा दिया गया। सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। भारत की ओर से अंग्रेजी सरकार की पूर्ण रूप से सहायता की गयी। सन् १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें गरम और नरम दल के नेताओं में समझौता कराने का प्रयत्न हुआ। हिन्दू और मुसलमानों में मेल कराने के उद्देश्य से कांग्रेस और लीग की सम्मिलित बैठक भी हुई।

सन् १९१९ में बालगङ्गाधर तिलक की मृत्यु हो गयी। अब तक देश की राजनैतिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो चली थी। दक्षिणी अफ्रीका में आन्दोलन

चलाते रहने के कारण महात्मा गाँधी अब तक काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। अब उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया। उनकी लोक-प्रियता ने उन्हें बहुत शीघ्र 'राष्ट्र-पिता' बना दिया और प्रायः इस समय के बाद से राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन उन्हीं के द्वारा होता रहा। उनके सिद्धान्तों का कांग्रेस, जनता और सरकार पर काफी प्रभाव पड़ा और वह अन्त तक अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहे।

सामाजिक पृष्ठभूमि

भारत में अंग्रेजी शासन प्रारम्भ होते-होते मुगल शासकों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। शिक्षा की कमी तथा तत्कालीन समाज की दशा भी इस पतन का बहुत सीमा तक कारण थे। विलास-प्रियता तथा अत्यधिक मद्यपान ने अधिकारियों को पतन के गढ़े में गिरा दिया था। समाज के प्रत्येक वर्ग में अंधविश्वास, अशिक्षा तथा कुरीतियाँ आदि फैली हुई थीं, जो उसकी उन्नति में सब प्रकार से बाधक थीं। जनता का ज्योतिष आदि पर विश्वास था, अतः अज्ञानी एवं अपढ़ लोगों ने उसे ठगने का एक रास्ता यह भी अपना लिया था। धार्मिक अन्धविश्वास ने जनता की उन्नति के मार्ग बन्द कर दिये थे। चरित्र-हीनता तत्कालीन समाज का मुख्य दुर्गुण था। मठ तथा अन्य धार्मिक स्थान व्यभिचार के बड़े-बड़े अड्डे बन चुके थे और लोग अन्धे बनकर नरक में गिरते जाते थे। अनेक पाखंडी जातियों से भी लोगों को घृणा थी। दास-प्रथा का प्रचार था। जनता में नैतिकता की कमी थी। देश की बौद्धिकता भी नष्ट हो चुकी थी।

शासकों में अधिकांश विलास-प्रिय होते थे। उच्च वर्ग के लोगों में तड़क-भड़क तथा ऐश्वर्य-प्रदर्शन की भावना व्याप्त थी। ये लोग भड़कीले तथा कीमती वस्त्रों का उपयोग करते थे। इनके भोजन में नशीली वस्तुओं तथा उत्तेजक पदार्थों की बहुलता रहती थी। इनके उपयोग में लाये जाने वाले बर्तन भी कीमती होते थे।

इस युग में जहाँआरा, रोशनआरा, जेबुन्निसा, चाँद बीबी, तारा बाई तथा नूरजहाँ आदि अनेक इतिहास-प्रसिद्ध स्त्रियाँ हुईं। इन स्त्रियों की ख्याति चाहे जिन कारणों से रही हो, परन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि तत्कालीन भारतीय महिला समाज में कोई उल्लेखनीय विशेषता न थी। स्त्रियों में अशिक्षा, अज्ञान तथा अन्धविश्वास ही अपेक्षाकृत अधिक होने का कारण संभवतः

उनकी पर्दे की प्रथा तथा रूढ़िवादिता थी। इस दृष्टि से जीजा बाई आदि कुछ स्त्रियाँ आदर्श नारियाँ कही जा सकती हैं।

आधुनिक युग में नव-जागरण

सांस्कृतिक क्षेत्र में

आधुनिक भारतीय संस्कृति साधारणत: दो भागों में बाँटी जा सकती है। संस्कृति का पहला भाग वह है, जो सार्वभौम कहा जा सकता है। यह क्योंकि अधिक व्यापक है, अत: विभिन्न देशों और विभिन्न युगों में भी व्यवहार्य है। यह परिवर्तन-सापेक्ष नहीं है। और संस्कृति का दूसरा भाग वह है जो विशेष रूप से केवल भारतवर्ष के ही सामाजिक आदर्शों पर आधारित है अत: केवल यहीं व्यवहार्य है, अन्यत्र वह परिवर्तन-सापेक्ष समझा जा सकता है। पहले भाग के अंतर्गत ज्ञान-विज्ञान के तत्व, सौंदर्यानुभूति, आचार-विचार आदि आते हैं तथा दूसरे के अंतर्गत अन्न, वस्त्र, समाज, भाषा, पर्व आदि विषय आते हैं।

भारत-विभाजन के पूर्व ऐसे प्रयत्न बहुत हो रहे थे कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों मिलकर एक नयी संस्कृति बनायें तथा उसे भारत की राष्ट्रीय संस्कृति माना जाय। वास्तव में यदि ध्यान पूर्वक भारत को राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा को देखें, तो हम इस निश्चय पर आयेंगे कि इस परम्परा के निर्माण में केवल हिंदू जाति का ही हाथ नहीं रहा है, वरन् मुसलमानों तथा ईसाइयों ने भी काफी योग दिया है।

आज संसार में विश्व-बंधुत्व की भावना बढ़ रही है। राष्ट्रीयता को विश्व-शांति का घातक समझा जाने लगा है और लोगों का ध्यान राष्ट्रीयता से हटकर अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर जा रहा है। भारतवर्ष की नीति अब भी शांति के पक्ष में ही है। इसका एक कारण यह भी है कि भारतीय राष्ट्रीयता न तो किसी समय पूर्णांश में अमर्यादित रही है और न कभी पूर्णांश में अमर्यादित हो सकती है। वह एक विशिष्ट कोटि की संस्कृति है, जो सदैव अपने को विश्व-कल्याण की साधिका बनाकर रखती है। 'अतएव यदि आज हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की भी चर्चा करें अथवा उसके सुदृढ़ करने की बात कहें, तो यह न समझना चाहिए कि हम

अंतराष्ट्रीयता के विपरीत अठारहवीं शताब्दी के किसी पाश्चात्य सिद्धांत के शब्दों में बोल रहे हैं।"[1]

सामाजिक क्षेत्र में

भारतवर्ष में अंग्रेजों के आने से पाश्चात्य सभ्यता के साथ ही वहाँ की संस्कृति, कला, साहित्य आदि का भी प्रचार बढ़ा। इस काल में राजा राममोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था और मूर्ति-पूजा का बहिष्कार किया। 'ब्रह्म समाज' की स्थापना हिन्दू-धर्म के आदर्शों के विरुद्ध हुई थी। श्री केशवचन्द्र सेन ने भी 'ब्रह्म समाज' के सिद्धांतों के प्रचार में बहुत योग दिया। लगभग इसी समय महाराष्ट्र में एक 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की गयी। इस समाज की स्थापना एक अद्वैतवादी आंदोलन के फलस्वरूप हुई थी। इस काल में और भी कई संस्थाएँ भारत के विभिन्न भागों में स्थापित की गयी थीं, जिनका प्रमुख उद्देश्य समाज-सुधार था। इन संस्थाओं के प्रचारक शिक्षा का विशेष महत्व मानकर शिक्षा-प्रचार के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करते थे। दलित और उपेक्षित समझी जाने वाली जातियों को ऊपर उठने की भी प्रेरणा देना इनका उद्देश्य था।

सन् १९०५ में श्री गोपालकृष्ण गोखले ने 'सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की। इस सोसाइटी का क्षेत्र राजनैतिक और सामाजिक था। इससे पहले सन् १८७५ में 'थियोसाफिकल सोसाइटी' तथा 'आर्य समाज' की स्थापना हो चुकी थी। लगभग इसी काल में 'श्री रामकृष्ण मिशन' बनाया गया था, जिसका भारतीय जनता में राष्ट्रीय-भावना का प्रचार करने में बड़ा योग था। श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद तथा स्वामी रामतीर्थ के उपदेशों से भी जनता बहुत अधिक प्रभावित हुई। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अन्धविश्वास और पाखण्ड त्यागने के उपदेश दिये। उनके अनुयायियों ने भी वर्ण-व्यवस्था का विनाश करने तथा अनेक सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया। विज्ञान की उन्नति तथा पाश्चात्य विचार-धारा के प्रचार ने भारतीय जनता को बहुत प्रभावित किया, जिससे उसके दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन हुआ।

१. 'भारतीय संस्कृति' (डा० बलदेवप्रसाद मिश्र), पृष्ठ ११५।

वर्ण-व्यवस्था के संबंध में भी यहाँ दो शब्द कहना आवश्यक है। लगभग सन् १८५० तक भारत में वर्ण-व्यवस्था का बोलबाला रहा। सन् १८५७ को क्रांति के अनेक कारणों में से एक यह भी था कि जनता के हृदय में यह विचार घर कर गया था कि वर्ण-धर्म को मिटाया जा रहा है। बाद में धीरे-धीरे वर्ण-भावना स्वत: कम होती चली गयी। जाति-भेद का विचार बहुत कम किया जाने लगा। 'इंडियन सोशल कांफ्रेंस' ने भी इस भेद को मिटाने के लिए काफी प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त सन् १६०६ में 'डिप्रेस्ड क्लासेज मिशन सोसाइटी' की स्थापना हुई, जिसने पिछड़ी जातियों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। इस क्षेत्र में महात्मा गाँधी आदि के प्रयत्न विशेष रूप से सार्थक मानने चाहिए। सन् १६२३ में तो हिंदू महासभा ने अछूतों तक को हिंदू धर्म की सुविधाएँ देने के लिए अपने अधिवेशन में एक प्रस्ताव भी पास किया।[1]

स्त्रियों की स्थति में भी इस युग में बहुत परिवर्तन हुए। जागृति की लहर उनमें भी फैल चुकी थी और वे अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए संगठन कर रही थीं। सन् १६१७ में स्त्रियों का एक 'डेपुटेशन' मद्रास में मांटेग्यू महोदय से मिला। उसने उन्हें एक अभिनन्दन प्रदान करके यह माँग की कि उनका भी व्यवस्थापिका सभाओं में प्रतिनिधित्व होना चाहिए। इस समय तक देश भर के विभिन्न प्रान्तों में विविध संस्थाएँ खोली जा चुकी थीं। इन संस्थाओं ने स्त्रियों में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला दिया। उनमें शिक्षा का प्रचार हुआ और स्त्रियों की शिक्षा के लिए विभिन्न विद्यालय स्थापित किये गये। उसके बाद से अब तक बराबर ऐसी सरकारी और गैर सरकारी संस्थाएँ खोली जाती रही हैं, जो नारी-समाज के पुनरुत्थान के लिए प्रशंसनीय प्रयत्न कर रही हैं। इन्हीं के सद्प्रयत्नों से भारतीय नारियों ने पर्दे आदि की प्रथा का अन्त करके उन्नति की।

धार्मिक क्षेत्र में

एक विशाल देश होने के कारण भारत में अनेक जातियों के लोग रहते हैं, जो विविध धर्मानुयायी हैं। मुख्यतया यहाँ तीन प्रमुख जातियाँ हैं—हिंदू, मुसलमान

१. 'भारत का इतिहास' (डा० ईश्वरी प्रसाद), पृष्ठ ५५२।

और ईसाई। इनमें से सबसे बड़ी जाति हिन्दू है, अत: इसी धर्म के माननेवालों की संख्या ही सबसे अधिक है। यह धर्म सदैव से उदार रहा है। इसके सिद्धांतों में समय-समय पर अनेक परिवर्तन भी होते रहे हैं, जिनका कारण तत्कालीन धार्मिक आंदोलन रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में भी इसकी व्यवस्थाओं में इसी प्रकार के आंदोलनों के फलस्वरूप अनेक परिवर्तन हुए। भारत में उपर्युक्त कुछ मुख्य धर्मों के अतिरिक्त अनेक ऐसे पन्थ भी हैं जिनके अनुयायी पर्याप्त संख्या में हैं। हिंदू धर्मानुयायी ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य तथा गणेश आदि पंच देवताओं की पूजा करते हैं तथा ब्राह्मण और गो का आदर करते हैं। गंगा-स्नान आदि का महत्व भी अभी घटा नहीं है। किंतु इतना सब होते हुए भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ रूढ़िगत धर्म के प्रति जनता में उपेक्षा-भाव बढ़ता जा रहा है। बुद्धि-सम्मत धर्म के प्रति उसकी आस्था विशेष बढ़ रही है।

साहित्यिक क्षेत्र में

पाश्चात्य शिक्षा और सभ्यता के प्रचार ने भारत की साहित्यिक उन्नति में में बहुत योग दिया है। विश्वविद्यालयों की स्थापना के कारण उच्च शिक्षा अपेक्षाकृत अधिक सुलभ हो गयी। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण अंग्रेजी का प्रचार तो बढ़ा ही, देशी भाषाओं की ओर भी लोगों का ध्यान गया। हाँ, संस्कृत तथा फारसी आदि की ओर से लोगों की रुचि हट-सी गयी।

हिन्दी का प्रचार अधिक करने के लिए देश के विभिन्न भागों में आन्दोलन चलाये गये—विशेष रूप से उत्तर भारत में। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' को हिन्दी में प्रकाशित कराया तथा वेदों के भाष्य भी संस्कृत तथा हिन्दी में ही किये। 'आर्य समाज' की स्थापना करने के पश्चात् उन्होंने सभी आर्य-समाजियों के लिए हिंदी का पढ़ना आवश्यक बताया। पंजाब आदि प्रदेशों में हिंदी का आज जो कुछ भी प्रचार है, उसका श्रेय उन्हीं को है।

राजा शिवप्रसाद 'आम फहम' और 'खास पसन्द' भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिंदी अपना रूप स्थिर कर चलो। इस कार्य में धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों ने काफी सहायता पहुँचायी। हिंदी गद्य की भाषा किस दिशा की ओर

स्वभावत: जाना चाहती है, इसकी सूचना तो काल अच्छी तरह दे रहा था।[1] अन्य भारतीय भाषाओं की ही तरह हिंदी ने भी संस्कृत का आश्रय लिया।

राजा लक्ष्मणसिंह के समय तक हिंदी भाषा का स्वरूप निश्चित हो चुका था। यही नहीं, उसके भावी रूप का भी कुछ आभास होने लगा था। अब, गद्य की भाषा का स्वरूप निश्चित होने के बाद इस बात की आवश्यकता थी कि कुछ प्रतिभा सम्पन्न लेखक इस दिशा में विशेष कार्य करें तथा ऐसे साहित्य की रचना को प्रोत्साहन दें, जो तत्कालीन जनता की रुचि के अनुकूल हो। ऐसे समय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का साहित्य के क्षेत्र में आगमन हुआ, जिनका प्रभाव हिंदी भाषा तथा साहित्य, दोनों पर गहरा पड़ा। उन्होंने गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे चलता रूप दिया तथा हिंदी साहित्य को एक नया मार्ग। इसी कारण उन्हें हिन्दी गद्य का प्रवर्तक कहा जाता है। इस समय तक नवीन विचारधारा का प्रचार काफी हो चुका था और जनता पर—विशेष रूप से शिक्षित वर्ग की जनता पर—उसका व्यापक प्रभाव पड़ा था। प्रत्येक क्षेत्र में जागृति के लक्षण स्पष्ट दिखायी दे रहे थे तथा जनता के हृदय में देश-हित की नयी उमंग उठ रही थीं। बँगला साहित्य में इस समय तक काफी नवीनता आ चुकी थी, यद्यपि हिंदी साहित्य अब भी अपने पुराने मार्ग पर ही था। भारतेन्दु ने इस परिस्थिति को समझा और उन्होंने साहित्य को एक नयी दिशा प्रदान की।

भारतेन्दु युग के अन्य प्रमुख लेखकों में पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी तथा पं० बालकृष्ण भट्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सन् १८८४ में प्रयाग में 'हिंदी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य सभा' की स्थापना हुई। इससे पहले अलीगढ़ में 'भाषा संवर्द्धिनी सभा' की स्थापना हो चुकी थी, जिसके संस्थापक बाबू तोताराम थे। इन सब संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य सरकारी दफ्तरों में नागरी-प्रवेश कराने के लिए प्रयत्न करना था।

सन् १८९३ में 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना हुई। इसके संस्थापकों में बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामनारायण मिश्र तथा ठाकुर शिवकुमार सिंह मुख्य थे।

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ ४४७।

बाबू श्यामसुन्दर दास आजीवन इस संस्था की उन्नति के लिए प्रयत्न करते रहे। सभा की सारी समृद्धि और कीर्ति उन्हीं के त्याग और परिश्रम का फल है। इस सभा के प्रमुख उद्देश्य थे—नागरी अक्षरों का प्रचार तथा हिंदी साहित्य की समृद्धि। उस समय चूँकि सरकारी दफ्तरों में नागरी का प्रवेश नहीं था, इसलिए हिन्दी पढ़ने का उत्साह बहुत कम लोगों में था, जो नवीन साहित्य के निर्माण के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा थी। इसके अतिरिक्त पुस्तकों का प्रचार बहुत कम होने के कारण भी साहित्य-प्रकाशन को प्रोत्साहन नहीं मिला था।

यहाँ पण्डित गौरीदत्त के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। यह मेरठ के निवासी थे और अध्यापन कार्य करते थे। चालीस वर्ष की अवस्था होने पर इन्होंने अपनी सारी सम्पति नागरी-प्रचार के लिए रजिस्ट्री करा दी और सन्यासी होकर, नागरी-प्रचार का झण्डा हाथ में लेकर, चारों ओर घूम-घूमकर व्याख्यान देने लगे। इनके भाषणों के प्रभाव के कारण अनेक नये स्कूल मेरठ के आस-पास के क्षेत्रों में खुले। सन् १८३४ में इन्होंने दफ्तरों में नागरी के प्रवेश के लिए एक 'मेमोरियल' भी भेजा था।

नागरी-उद्धार के उद्देश्य से सन् १८६६ में जब इस प्रान्त के छोटे लाट सर ऐंटनी मैकडानल काशी आये, तब सभा ने उनका ध्यान उन कठिनाइयों की ओर आकर्षित किया, जिनके कारण दफ्तरों में नागरी प्रचार नहीं हो पा रहा था और शिक्षा के सम्यक् प्रचार में बाधा हो रही थी। उन्होंने इस विषय पर विचार करने का आश्वासन दिया। इसके बाद अनेक 'डेपुटेशन' इसी उद्देश्य से भेजे गये तथा जनता का उत्साह बढ़ाने के लिए अनेक व्याख्यानों की आयोजना की गयी। इस समय तक सभा की शाखाएँ भी कई अन्य नगरों में खुल चुकी थीं।

सन् १८६८ में एक बड़ा 'डेपुटेशन' फिर लाट साहब से मिला और उन्हें नागरी का 'मेमोरियल' अर्पित किया गया। इस 'डेपुटेशन' में बहुत प्रतिष्ठित तथा प्रभावशाली व्यक्ति थे, जिनमें अयोध्या के नरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह, माँडा के राजा रामप्रसाद सिंह, आवागढ़ के राजा बलवन्त सिंह, डाक्टर सुन्दरलाल तथा देश-पूज्य पण्डित मदनमोहन मालवीय आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[1] मालवीय जी ने तो 'अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा' नामक एक पुस्तक भी अंग्रेजी में प्रकाशित की।

१. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ ४४५।

अन्त में, इन महानुभावों के परिश्रम से सन् १९०० में कचहरियों में नागरी के प्रवेश की घोषणा की गयी और इस प्रकार हिन्दी के प्रचार-कार्य को प्रोत्साहन मिला और आगे के लिए उसका मार्ग खुला।

राजनैतिक क्षेत्र में

सन् १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति के बाद जनता में स्वतन्त्रता की भावना का विकास हुआ। इस क्रांति के असफल हो जाने पर जनता में तीव्र असंतोष के लक्षण स्पष्ट दिखायी देने लगे। इस आंदोलन के बाद अंग्रेजी शासन-नीति में भी परिवर्तन हुआ। जनता में चेतना आयी। जन-जीवन के विविध क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के आंदोलनों का सूत्रपात किया गया। शिक्षा का प्रचार बढ़ने के कारण लोगों में राष्ट्रीयता की भावना भी बढ़ी। अब तक अनेक स्थानीय समुदाय सशक्त हो चुके थे, जिनमें लाहौर का अंजुमन, कलकत्ते का ब्रिटिश-भारतीय समुदाय आदि प्रमुख हैं। सन् १८७१ में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने आई० सी० एस० से त्याग-पत्र देकर देश के नवयुवकों के सामने एक आदर्श रखा। सन् १८७६ में उन्होंने 'इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना की। श्री शिशिरकुमार घोष ने लगभग इसी समय 'इंडियन लीग' स्थापित की। लार्ड रिपन ने वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट का अन्त कर दिया और भारतीयों में आत्म-चेतना उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। 'इलबर्ट बिल' के कारण जनता में फिर उत्तेजना फैली। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय कोष का निर्माण किया और सन् १८८३ में कलकत्ते में तीन दिन के लिए एक राष्ट्रीय अधिवेशन हुआ।

अब तक 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' का संगठन हो चुका था। आरम्भ में इस संस्था की नीति सरकार को राज्य-विरोधी नहीं मालूम होती थी, लेकिन १८८८ से अंग्रेजी शासक इसे एक सरकार-विरोधी संस्था सम ने लगे और इस दल पर कड़ी निगाह रखने लगे। जनता अब दिन-प्रति-दिन एक नयी राजनैतिक माँग सरकार के सामने रखने लगी। सबसे पहले भारतीय जनता ने सेवा की माँग की। फिर उसने व्यवस्थापिका तथा परिषद् में अपने निर्वाचन की माँग की। सन् १९०५ से एक नये आन्दोलन का सूत्रपात किया गया—बंगाल-विभाजन के विरोध में। लेकिन सरकार

ने सन् १६०८[1], १६१०[2], तथा १६१२[3] के कानूनों द्वारा इसका दमन किया। इस समय तक तिलक बन्दी बना लिये गये थे और उन्हें छै वर्ष की कैद का आदेश हुआ था। लगभग इसी काल में सरकार ने मुद्रणालयों पर प्रतिबन्ध लगा दिये और सभी राजनैतिक संगठनों को अवैध घोषित कर दिया। सन् १६१२ में दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम फेका गया। इतने आन्दोलनों और दमन के बाद, अन्त में सम्राट जार्ज पंचम ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर बंगाल-विभाजन को रद्द करके इस विरोध का अन्त कर दिया।

सन् १६१६ में श्रीमती एनी बेसेंट ने 'आल इण्डिया होम रूल लीग' की स्थापना की। सन् १६१८ में 'मांटेग्यू चेम्सफोर्ड' रिपोर्ट प्रकाशित हुई और उसके अनु ार १६१६ में एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए बिल प्रस्तुत किया गया। इसके बाद ही 'जालियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड' हुआ और उसके फलस्वरूप भारतीय जनता के हृदय में सुलगती हुई अग्नि और भी प्रबल हुई। अब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिये प्रारम्भ किया गया यह आन्दोलन दुगुने उत्साह से संचालित होने लगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

आधुनिक हिंदी उपन्यास का प्रारम्भ भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से ही माना जाता है, यों उनके आविर्भाव से पूर्व ही हिंदी गद्य-साहित्य की नींव पड़ चुकी थी। साहित्य के विविध क्षेत्रों में भारतेंदु का प्रभाव व्यापक रूप में पड़ा। उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य का प्रवर्तन किया। उन्हीं के सद्प्रयत्नों का यह फल हुआ कि साहित्य ने न केवल नये रूपों को ग्रहण किया, वरन् वह शिक्षित और सुसंस्कृत जनता के निकट भी आया। इस युग में जनता की विचार-परम्परा नयी दिशायें खोज रही थीं। जन-जीवन के विविध क्षेत्रों में उत्साह था। यह राष्ट्रीय जागृति का युग था। इस समय तक यूरोपीय उपन्यास साहित्य का पर्याप्त

१. 'सेडीशंस मीटिंग ऐक्ट'।
२. 'प्रेस ऐक्ट'।
३. 'क्रिमिनल ला एमेंडमेंट ऐक्ट'।

विकास हो चुका था। विदेशी उपन्यास के प्रभाव के साथ ही बँगला के उपन्यासों का भी प्रभाव इस युग के उपन्यासों पर मिलता है।

पूर्णप्रकाश और चंद्रप्रभा

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'पूर्णप्रकाश और चंद्रप्रभा' नामक हिंदी का सर्वप्रथम सामाजिक उपन्यास प्रकाशित किया। परंतु यह उपन्यास मौलिक न होकर अनुवादित था।[1] इस उपन्यास में वृद्ध-विवाह आदि कुप्रथाओं का विरोध किया गया है और स्त्री-शिक्षा का समर्थन। जैसा कि इसके शीर्षक से स्पष्ट है, इस उपन्यास का मुख्य पात्र पूर्णप्रकाश है और मुख्य पात्री चंद्रप्रभा। युवती चंद्रप्रभा का विवाह वृद्ध ढुंढिराज से होने का विरोध किया जाता है। विवाह के अवसर पर वृद्ध वर की हँसी उड़वाकर उसकी प्रताड़ना की जाती है। इसके कथानक में अधिक घुमाव-फिराव नहीं है।

इस उपन्यास की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—चंद्रप्रभा और पूर्णप्रकाश में बचपन से ही मैत्री थी। जब वह विवाह योग्य हुई तो उसकी माता गुणमंजरी ने अपने भाई के सामने उसका विवाह पूर्णप्रकाश के साथ कर देने की अपनी इच्छा को प्रकट किया। उसने इस विवाह के संबंध में अपनी असहमति प्रकट की। उसने स्वयं दस दिन का समय माँगा और इस समय के बीच चंद्रप्रभा के लिए योग्य वर ढूँढ़ देने का आश्वासन दिया। जब यह समय बीत गया तो उसने अपनी बहन को लिखा कि मैं एक महीने के भीतर ही उपयुक्त पात्र को लेकर पहुँच रहा हूँ और विवाह ठीक हो जायगा। अब तक पूर्णप्रकाश निराश होकर वापस चला गया था, लेकिन अब जब एक महीने की वह अवधि बीती तथा और भी पर्याप्त समय बीतने लगा तो गुणमंजरी ने फिर उसे विवाह के लिए आने को पत्र लिख दिया। तभी उसका भाई ढुंढिराज नाम के एक वृद्ध को लेकर लखनऊ पहुँचा। उसकी बहन ने अपनी पुत्री का विवाह उस वृद्ध से करना अस्वीकार कर दिया। उसका भाई काफी जोर देता रहा। अंत में चंद्रप्रभा का विवाह पूर्णप्रकाश के साथ ही हुआ।

१. डा० श्रीकृष्ण लाल ने इस उपन्यास को गुजराती से (देखिए—श्रीनिवास ग्रन्थावली, पृष्ठ ११) तथा डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने मराठी से (देखिए—'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृष्ठ १०२) अनूदित माना है।

इस मुख्य कथा के साथ ही पूर्ण प्रकाश की बहिन मधुरिमा की कथा भी चलती है, जब वह अपने पति के साथ उसकी आँख का इलाज कराने को आयी होती है। इस कथा का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही महत्व है, मुख्य कथा की सहायक कथा के रूप में नहीं।

इस उपन्यास में प्रत्येक 'स्तवक' के आरंभ में पद्य से उदाहरण दिये गये हैं; फिर कथा का आरंभ हुआ है। उदाहरण के लिए पहले, तीसरे तथा पाँचवें के आरम्भ में लिखा गया है—

(क) सावन सरित न रुकै करै जो जतन कोऊ अति
कृष्ण गह्यौ जिनको मन ते क्यों रुकहिं अटल गति
(—नंददास जी की पंचाध्यायी)

(ख) फ़लक तूने इतना हँसाया न था,
कि जिसके बदल यों रुलाने लगा। (—हसन)

(ग) सुहृदां हित कामानां यः शृणोति न भाषितम्
विपत्संनिहिता तस्य।[1]

भारतेंदु ग्रंथावली में भारतेंदु की एक लघु कथा का भी उल्लेख मिलता है जिसका शीर्षक 'एक कहानी, कुछ आप बीती कुछ जग बीती है'। इसमें आत्म-चरितात्मक शैली में उन्होंने एक लघु कथा कहने का प्रयास किया था। चित्रण की यथार्थता तथा वर्णन-शैली के तीखेपन की दृष्टि से यह रचना उल्लेखनीय है। यह यों आरम्भ होती है—

"प्रथम खेल

जमीने चमन गुल खिलाती है क्या-क्या ?
बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे ?

हम कौन हैं और किस कुल में उत्पन्न हुए हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों को क्या, किसी का रोना हो पढ़े चलिए, जी बहलाने से काम है, अभी मैं इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोनों में बड़ा ही पवित्र दिन है। संवत् १६३० में मैं जब तेईस वर्ष का था, एक

१. 'पूर्ण प्रकाश चंद्रप्रभा।'

दिन खिड़की पर बैठा था, वसंत ऋतु, हवा ठण्डी चलती थी। साँझ फूली हुई, आकाश में एक ओर चंद्रमा, दूसर ओर सूर्य, पर दोनों लाल-लाल अजब समा बँधा हुआ, कसेरू, गँडेरी और फूल बेचनेवाले सड़क पर पुकार रहे थे। मैं भी जवानी की उमंगों में चूर, जमाने के ऊँच-नीच से बेखबर, अपनी रसिकाई के नशे में मस्त, दुनिया के मुफ्तखोर सिफारशियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था, पर इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली भाँति पहचानता था।'[1]

हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास—'परीक्षा गुरु'

हिंदी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवास दास लिखित 'परीक्षा-गुरु' माना जाता है। यों आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'भाग्यवती' नामक एक मौलिक उपन्यास का भी उल्लेख किया है। उनका विचार है कि पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी ने अपने अन्य ग्रंथों[2] के साथ इसकी रचना भी की थी। उन्होंने लिखा है—'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी संवत् १९३४ में उन्होंने लिखा, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।[3] 'परीक्षा-गुरु' को शुक्ल जी ने 'अँग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास'[4] माना है।

परंतु अन्य विद्वानों ने 'परीक्षा-गुरु' को ही हिंदी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माना है। डा० श्रीकृष्ण लाल का कथन है—'रणधीर और प्रेम मोहिनी' के पश्चात् सन् १८८२ में लाला जी का प्रथम उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' प्रकाशित हुआ जिसे हिंदी का भी प्रथम उपन्यास कहा जा सकता है। अम्बिकादत्त व्यास ने 'गद्य-काव्य-मीमांसा' के अंत में कुछ उपन्यासों के नाम और प्रकाशन-तिथि दी है जिसके अनुसार 'परीक्षा-गुरु' ही हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास रहता है। इससे पूर्व दो उपन्यास-ग्रंथों की रचना का उल्लेख प्राप्त होता है—एक पंजाब के श्रद्धाराम फुल्लौरी का 'भाग्यवती' और दूसरा भारतेंदु हरिश्चंद्र कृत 'पूर्णप्रभा

१. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' से।

२. 'आत्म-चिकित्सा', 'तत्व दीपक', धर्म-रक्षा', 'उपदेश-संग्रह' तथा 'शतोपदेश' आदि।

३. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ ४१०।

४. वही, पृष्ठ ४१७।

चंद्रप्रकाश' है, परंतु पिछली कृति गुजराती से अनुवाद-मात्र है जिसे मल्लिका देवी ने अनुवादित किया था और भारतेंदु ने उसे शोधा था। 'भाग्यवती' यदि मौलिक रचना है तो निश्चय ही उसे हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास माना जा सकता है, परंतु हिंदी का प्रथम सफल और मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' ही है जिसका 'भारतेंदु पत्रिका' ने 'रणधीर और प्रेममोहिनी' का सहोदर कहकर स्वागत किया था।'[1]

'परीक्षा गुरु' एक शिक्षा-प्रद उपन्यास है। इसमें यह दिखाया गया है कि एक धनी व्यक्ति किस प्रकार अपने चापलूस मित्रों के फेर में पड़कर ऋणी होकर दुख पाता है, तथा अंत में एक ईमानदार मित्र की सहायता से उसका कल्याण होता है। इस उपन्यास की शैली तर्कपूर्ण है, जिसमें शिक्षा और उपदेशात्मकता की भावनाओं की प्रधानता है। उदाहरण के लिए इसका एक अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

'मुझे आपकी यह बात बिल्कुल अनोखी मालूम होती है। भला, परोपकारादि शुभ कामों का परिणाम कैसे बुरा हो सकता है?' पण्डित पुरुषोत्तमदास ने कहा।

'जैसे अन्न प्राणाधार है, परन्तु अति भोजन से रोग उत्पन्न होता है' लाला व्रजकिशोर कहने लगे 'देखिए परोपकार की इच्छा अत्यन्त उपकारी है परन्तु हद से आगे बढ़ने पर वह भी फिजूलखर्ची समझी जायगी और अपने कुटुम्ब परिवारादि का सुख नष्ट हो जायगा। जो आलसी अथवा अधर्मियों की सहायता की, तो उससे संसार में आलस्य और पाप की वृद्धि होगी। इसी तरह कुपात्र में भक्ति होने से लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जायँगे। न्यायपरता यद्यपि सब वृत्तियों को समान रखने वाली है, परन्तु इसकी अधिकता से भी मनुष्य के स्वभाव में मिलनसारी नहीं रहती, क्षमा नहीं रहती। जब बुद्धि वृत्ति के कारण किसी वस्तु के विचार में मन अत्यन्त लग जायगा तो और जानने लायक पदार्थों की अज्ञानता बनी रहेगी। आनुषांगिक प्रवृत्ति के प्रबल होने से जैसा संग होगा, वैसा रंग तुरन्त लग जायगा।'[2]

१. 'श्रीनिवास ग्रंथावली' (सं० डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ ११।
२. 'परीक्षा गुरु' (लाला श्री निवासदास)।

'पूर्णप्रकाश और चंद्रप्रभा' की ही भाँति इस उपन्यास के भी प्रकरणों के आरम्भ में गद्य या पद्य के कुछ वाक्य सूक्ति-रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरण के लिए पहले तथा दूसरे प्रकरणों को इन पंक्तियों से आरंभ किया गया है—

(क) 'चतुर मनुष्य को जितनें खर्च मैं अच्छी प्रतिष्ठा अथवा धन हो सक्ता है मूर्ख को उस्सै अधिक खर्चनें पर भी कुछ नहीं मिलता।'

लार्ड चेस्टर फील्ड।

(ख) अप्रापति के दिनन मैं खर्च होत अविचार।
घर आवत है पाहुनो वणिज न लाभ लगार॥ (वृंद)।[1]

'परीक्षा गुरु' के निवेदन के अंत में लेखक ने बताया है कि 'इस पुस्तक के रचनें में मुझको महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्ताँ वगैरे फारसी, स्पेक्टर, लार्ड बेकन, गोल्ड स्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और स्त्री बोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है इसलिए इन सबका मैं बहुत उपकार मान्ता हूँ और दीनदयालु परमेश्वर की निर्हेतुक कृपा का सच्चे मन सै अमित उपकार मानकर लेख समाप्त करता हूँ।[2] इसका परिणाम यह हुआ है कि उपन्यास में स्थान-स्थान पर अनेक नीति वाक्यों तथा उनकी पुष्टि में प्रासंगिक रूप से देशी-विदेशी इतिहासों से लंबे-लंबे उद्धरण दिये गये हैं। उदाहरण के लिए एक स्थान पर लाला ब्रजकिशोर अपने कथन में मनुस्मृति तथा भगवान राम के तिलक की बात करने के बाद उसी के साथ एक प्रसंग-कथा कहते हैं—

इंगलैंड की गद्दी बाबत एलीजाबेथ और मेरी के बीच विवाद हो रहा था उस्समय लेडी जेन ग्रे को उस्के पिता, पति और स्वसुर नें गद्दी पर बिठाना चाहा परन्तु उस्को राज का लोभ न था वह होशियार, विद्वान, और धर्मात्मा स्त्री थी। उस्नें उन्कों समझाया कि 'मेरी निस्बत मेरी और एलिजाबेथ का ज्याद: हक है और इस काम सै तरह, तरह के बखेड़े उठनें की संभावना है। मैं अपनी वर्तमान अवस्था मैं बहुत प्रसन्न हूँ इसलिए मुझको क्षमा करो' पर अन्त मैं उस्को अपनी मरजी के उपरांत बड़ों की आज्ञा सै राजगद्दी पर बैठना पड़ा परन्तु दस दिन नहीं बीते इतने

१. 'श्रीनिवास ग्रंथावली' (डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ १५७ तथा १६२।
२. वही, पृष्ठ १५६।

में मेरी नें पकड़कर उसे कैद किया और उस्के पति समेत फाँसी का हुक्म दिया। वह फाँसी के पास पहुँची उस्समय उस्नें अपनें पति को लटकते देखकर तत्काल अपनी याददाश्त में यह तीन बचन लाटिन, यूनानी, और अँग्रेजी में क्रम सै लिखे कि 'मनुष्य जाति के न्याय नें मेरी देह को सजा दी परन्तु ईश्वर मेरे ऊपर कृपा करेगा। और मुझको किसी पाप के बदले यह सजा मिली होगी तो अज्ञान अवस्था के कारण मेरे अपराध क्षमा किये जायेंगे। और मैं आशा रखती हूँ कि सर्वशक्तिमान परमेश्वर और भविष्यत काल के मनुष्य मुझ पर कृपा दृष्टि रखेंगे' उस्ने फाँसी पर चढ़ कर सब लोगों के आगे एक वक्तृता की जिस्में अपनें मरनें के लिए अपनें सिवाय किसी को दोष न दिया वह बोली कि 'इंगलैंड की गद्दी पर बैठनें के वास्तै उद्योग करने का दोष मुझ पर कोई नहीं लगावेगा। परन्तु इतना दोष अवश्य लगावेगा कि 'वह औरों के कहनें सै गद्दी पर क्यों बैठी ? उस्नें जो भूल की वह लोभ के कारण नहीं, केवल बड़ों के आज्ञावर्ती होकर की थी सो यह कहना मेरा फर्ज था परंतु किसी तरह करो जिस्के साथ मैंने यह अनुचित व्यवहार किया उस्के हाथ में प्रसन्नता सै अपनें प्राण देनें को तैयार हूँ' यह कहकर उस्नें बड़े धैर्य से अपनी जान दी।'[1]

यहाँ स उपन्यास की चर्चा उपन्यास-साहित्य के परम्परागत विकास का परिचय देने की दृष्टि से की गयी है। इस उपन्यास की शिल्प-विशेषताओं के विषय में विस्तार से आगे लिखा जायगा।

जगमोहन सिंह

ठाकुर जगमोहन सिंह ने 'श्यामा-स्वप्न' नामक उपन्यास की रचना की थी। यह एक कल्पना-प्रधान उपन्यास है। इसकी कथा का आधार श्यामा और श्याम सुन्दर की प्रेम-कथा है। इस उपन्यास की शैली वर्णनात्मक है, जो बहुत भावमय हो गयी है। प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से इनका उपन्यास पहली उल्लेखनीय कथा-कृति है। एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है, जो प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से महत्व का है—

१. 'श्रीनिवास ग्रन्थावली' (डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ २२८।

'..........मैं कहाँ तक इस सुन्दर देश का वर्णन करूँ ?..........जहाँ की निर्झरिणी, जिनके तीर वा नीर से घिरे, मदकल-कूजित विहँगमों से शोभित है, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिसके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फलभार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर झरती हैं।...... जहाँ के शल्लकी-वृक्षों की छाल में हाथी बदन रगड़-रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है। मंजु वंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य की किरनों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं।'

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनके विषय में लिखा है—'..........अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्य जीवन के माधुर्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने 'श्यामा-स्वप्न' में व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है। बाबू हरिश्चंद्र, पंडित प्रतापनारायण आदि कवियों और लेखकों की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानव-क्षेत्र तक ही थी; प्रकृति के अपर क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहन सिंह जी ने नर-क्षेत्र के सौंदर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य के मेल में देखा है। प्राचीन संस्कृत साहित्य के रुचि-संस्कार के साथ भारत-भूमि की प्यारी रूप-रेखा को मन में बसाने वाले ये पहले हिंदी-लेखक थे..........।'[1]

अंबिकादत्त व्यास

पंडित अंबिकादत्त व्यास की एकमात्र औपन्यासिक कृति 'आश्चर्य-वृत्तांत' है। जैसाकि इस उपन्यास के नाम से ही प्रतीत होता है, इसमें अनेक प्रकार की आश्चर्यपूर्ण घटनाओं को संकलित किया गया है। इसमें इस युग की कथा-प्रवृत्तियों—शिक्षा-नीति, उपदेश, सुधार, प्रेम-कथा आदि—का पूर्ण अभाव है। इसमें कथा-नायक की यात्रा का काल्पनिक वर्णन है। वह स्वप्नावस्था में विभिन्न प्रदेशों में विचरण करता है और अनेक विलक्षण दृश्य देखता है। इसके लिखने में लेखक का उद्देश्य यह था कि 'ऐसा किस्सा सुनाऊँ कि सुनने वाले भी दंग रह जायँ।' इसी विशिष्ट उद्देश्य के कारण इसमें चामत्कारिक तत्त्वों की प्रधानता हो गयी है।

१. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), पृष्ठ ४३५।

'आश्चर्य वृत्तांत' के विषय में श्री विजयशंकर मल्ल ने लिखा है—'अतीत भारत के गौरव और तत्कालीन भारत की पतित दशा का विभिन्न स्थलों पर विभिन्न रूपों में वर्णन करते हुए कहीं-कहीं लेखक भावावेश में आ गया है। जयपुर नगर के एक प्रसंग में ऐसा गतिमय और सजीव चित्र उपस्थित किया गया है कि गुलेरी जी के 'उसने कहा था' का आरंभिक भाग बरबस स्मरण हो आता है। यद्यपि व्यास जी अलंकारों का पीछा नहीं छोड़ पाये हैं पर कतिपय दृश्यों का इन्होंने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। 'आश्चय वृत्तांत' का गद्य व्यावहारिक है और नये गद्य के संस्कारों से युक्त हैं। काव्यात्मक प्रणाली को उसने बहुत ही कम ग्रहण किया है। इस प्रकार यह रचना यद्यपि स्वप्न-कथा है, अलौकिक और विस्मयावह दृश्यों की इसमें खूब योजना है; पर कतिपय तत्कालीन सामाजिक दृश्यों और स्थितियों का इसमें अपने ढंग से अच्छा वर्णन हुआ है।'[1]

बालकृष्ण भट्ट

शिक्षा-प्रधान और उपदेशात्मक प्रकार के उपन्यास लिखनेवालों में बालकृष्ण भट्ट का नाम भी उल्लेखनीय है। उद्देश्य की प्रधानता के कारण उनके उपन्यास बहुत अधिक महत्व के नहीं हैं। यों बालकृष्ण भट्ट प्रमुखत: निबन्धकार थे और एक निबन्धकार के रूप में उनका स्थान अपने युग के लेखकों में बहुत ऊँचा है। भट्ट जी के लिखे हुए दो उपन्यास हैं—(१) 'नूतन ब्रह्मचारी' और (२) 'सौ अजान एक सुजान।'

'नूतन ब्रह्मचारी' के निवेदन में सूचना दी गयी है कि 'यह उपन्यास सन् १८८६ की 'हिंदी प्रदीप' की जिल्दों के कुछ अंकों में ४ या ५ अध्याय निकला फिर पुस्तकाकार छपकर उस समय के ग्राहकों को उपहार में बाँट दिया गया था।'[2]

इस उपन्यास की कथा यह है कि बिट्ठलराव और उसकी स्त्री दोनों बहुत ही धर्मपरायण प्राणी थे। उनकी रिश्तेदारी वहाँ के ठाकुर के यहाँ थी और उन दोनों के

१. 'आलोचना' १३ (उपन्यास विशेषांक), पृष्ठ ७० ।
२. 'नूतन ब्रह्मचारी' (पं० बालकृष्ण भट्ट), निवेदन ।

लिए बहुधा वहाँ से निमंत्रण भी आते रहते थे। एक बार वे दोनों जब ठाकुर के निमंत्रण पर वहाँ जाने लगे तो अपने पुत्र विनायक राव को घर पर छोड़ गये। जाते समय उन्होंने विनायक राव को अनेक प्रकार के उपदेश देकर उससे कहा कि यदि कोई अतिथि आये तो तुम उसका उचित आदर-सत्कार करना। अवसर देखकर वहाँ तीन डाकू आये। बालक विनायक राव ने उनका उचित प्रकार से स्वागत किया। वे लड़के के भोले व्यवहार से प्रभावित होकर चले गये और उन्होंने कोई लूट-पाट नहीं की। जब विनायक राव के माता-पिता लौटकर आये तो उन्होंने यह सब जाना। इस घटना के पन्द्रह वर्ष बाद वे ही तीन डाकू आपस में लड़े और उनमें से दो डाकू अपने नायक को घायल करके छोड़ गये। उसी समय वहाँ विनायक राव आकर उसे सँभालने लगा। परन्तु उसकी मृत्यु हो गयी। वे तीनों डाकू ठाकुर साहब के दल पर डाका डालने जा रहे थे। इस प्रकार विनायक राव के ही कारण उन सबकी रक्षा हुई।

'परीक्षा गुरु' की ही भाँति इस उपन्यास का प्रत्येक परिच्छेद भी किसी नीति-कथन से आरंभ होता है। उदाहरण के लिए पहले तथा पाँचवें अध्याय के प्रारम्भ में ये कथन हैं—

(क) होनहार बिरवान के होत चीकने पात।

(ख) सरला विरलायन्ते फजायन्ते कलिद्रुमा:
न शमी न च पुन्नागो ह्यस्मिन् संसार कानने।

'सौ अजान एक सुजान' में पंडित बालकृष्ण भट्ट ने उपन्यास-रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'अन्त में हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढ़कर, आशा करते हैं, सुजान बने; इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चंद्र था और आप लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा।'

'सौ अजान एक सुजान' के विषय में डा० रामविलास शर्मा का विचार है कि 'बालकृष्ण भट्ट की रचना बहुत कुछ हितोपदेश से मिलती है। कथा के बीच नीति-पूर्ण श्लोक, दोहों, कहावतों आदि का उद्धृत करना बिल्कुल विष्णु शर्मा जैसा है।'[1]

१. 'भारतेंदुयुग' (डा० रामविलास शर्मा), पृष्ठ १२६।

राधाकृष्ण दास

राधाकृष्ण दास का लिखा हुआ 'निस्सहाय हिन्दू' नामक उपन्यास गो-वध की समस्या पर आधारित है। इस उपन्यास की रचना उन्होंने केवल सोलह वर्ष की आयु में की थी। इसके प्रमुख पात्रों में मदन मोहन, अब्दुल अजीज तथा उन दोनों की पत्नियाँ हैं। ये चारों पात्र उपन्यास के अन्त में गो-वध-निवारण के हेतु अपने प्राणों का बलिदान कर देते हैं। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का विचार है कि 'इस उपन्यास में 'भारतेन्दु' कृत 'भारत दुर्दशा' और 'भारत जननी' के आधार पर उन्होंने ब्रिटिश राज्य का गुणगान भी किया है।'[1]

देवकीनन्दन खत्री

बाबू देवकीनंदन खत्री को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पहला ऐसा मौलिक उपन्यास-लेखक माना है, जिसके उपन्यासों का सर्वसाधारण में अधिक प्रचार हुआ हो। उन्होंने लिखा है— 'चंद्रकांता', 'चंद्रकांता संतति' नामक इनके ऐय्यारी के उपन्यासों की चर्चा चारों ओर इतनी फैली कि जो लोग हिंदी की किताबें नहीं पढ़ते थे वे भी इन नामों से परिचित हो गये। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा, रस-संचार, भाव-विभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य-कोटि में नहीं आते। पर हिंदी-साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनंदन का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये उतने और किसी ग्रंथकार ने नहीं।'[2]

ऐय्यारी के उपन्यासों के रचना-उद्देश्य के विषय में श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—'जगत के दुख-ताप, असंतोष-हाहाकार

१. 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), पृष्ठ ९५।
२. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), पृष्ठ ४५२।

के नीरस वातावरण से भागकर इस अद्‌भुत लोक में क्षणिक विश्राम की प्रवृत्ति से ही ये उपन्यास प्रेरित होते हैं। ये जीवन के चित्र नहीं, इच्छाओं के काल्पनिक मूर्त-विधान होते हैं। इनमें मानव के मूल-भूत भाव, राग-द्वेष, क्रोध-करुणा, प्यार-घृणा आदि को उद्वेलित करने का प्रयास नहीं। इनके पात्रों के साथ हमारे हृदय का स्वर नहीं मिलता। वास्तव में हृदय का स्वर तो हृदयवालों से मिलता है। इन पात्रों के तो हृदय हैं ही नहीं। ये तो लेखक के हाथ के खिलौने हैं, जिसे चाहा काला रँग दिया या गुलाबी। काव्य की महत्ता तो सुंदर 'चरित्र-सृष्टि' में ही है। 'चरित्र-सृष्टि' का अर्थ है रागों और मनोवेगों के आधार-स्वरूप मानव-पात्रों की सृष्टि। मानव-पात्रों की ऐसी सृष्टि इन उपन्यासों में ढूँढ़े भी न मिलेगी।'[1]

हिंदी उपन्यास के इतिहास में बाबू देवकीनन्दन खत्री का महत्व इस कारण है कि सर्वप्रथम उन्होंने ही इस नये साहित्यांग के प्रति जनता की रुचि बढ़ायी। वस्तुत: परवर्ती युगों में इससे हिंदी उपन्यास के भावी विकास की दृष्टि से बहुत लाभ हुआ। यह अवश्य है कि ऐसे कथानक काल्पनिक अधिक होते थे, परन्तु ऐसा भी नहीं है कि उनमें केवल कोरी कल्पना ही हो। श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी ने तिलिस्मों की प्रामाणिकता के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'रामनगर (काशी) के पास ही इनका मकान था। और मुगलसराय के पास जमानिया नाम की एक जगह है जहाँ कुछ पुरानी इमारतों के भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं। इन खँडहरों का इन्होंने बड़े ध्यान से अध्ययन किया। इसमें कुछ महत्वपूर्ण सुरंगें, दरवाजे आदि मिले। अब जैसे चले जा रहे हैं, यकायक किसी विशेष स्थान पर पैर पड़ते ही पैर के नीचे से जमीन खिसक गयी और जाने वाला न जाने किस जगह जा पहुँचता है। और पथ फिर ज्यों का त्यों हो गया। या दीवाल में एक खास खटका दबाते ही एक दरवाजा खुल पड़ा और एक खंजर लिये हुए दो पुतले आप पर वार करने लगे।'[2]

स्वयं खत्री जी ने ऐय्यारों के अस्तित्व की प्रामाणिकता के विषय में लिखा है—'आज हिन्दी के बहुत-से उपन्यास ऐसे हैं जिनमें कई तरह की बातें व

१ 'हिंदी उपन्यास' (श्री शिवनारायण श्रीवास्तव), पृष्ठ ७३।
२. 'हिन्दुस्तानी'।

राजनीति भी लिखी गई है, राजदरबार के तरीके वा सामान जाहिर किये गए हैं, मगर राज-दरबारों में ऐय्यार भी नौकर हुआ करते थे जो कि हर फन मौला याने सूरत बदलना, बहुत-सी दवाओं का जानना, गाना, बजाना, दौड़ना, शस्त्र चलाना, जासूसों का काम देखना वगैरह बहुत-सी बातें जाना करते थे। जब राजाओं में लड़ाई होती थी तो ये लोग अपनी चालाकी से बिना खून गिराये वा पलटनों की जान गँवाए लड़ाई खत्म कर देते थे। इन लोगों की बड़ी कद्र की जाती थी। इन्हीं ऐय्यारी-पेशे में आजकल बहुरूपिये दिखलाई देते हैं। वे सब गुण तो उन लोगों में रहे नहीं, सिर्फ शक्ल बदलना रह गया, वह भी किसी काम का नहीं।'

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि खत्री जी की कृतियों में कल्पनात्मकता का आधिक्य अवश्य है, परन्तु उन्होंने जिन तिलिस्मों और गुप्त खजानों का वर्णन किया है, वे पूर्णतः काल्पनिक नहीं हैं। पंडित गणेश प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि 'इस तरह के तिलिस्म पुराकाल में गुप्त खजानों की रक्षा के लिए बनते थे। मिश्र में अब भी हैं। इनका अस्तित्व कल्पनात्मक नहीं है। भारतवर्ष में भी कई जगह इस तरह की इमारतें होने का पता इतिहासिकों को लग चुका है।' प्रेमचन्द जी का विचार है कि बाबू देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का बीजांकुर 'तिलिस्म होशरुबा' से ही लिया होगा।' 'तिलिस्म होशरुबा' फारसी का एक बड़ा पोथा है जिसके रचयिता अकबर के दरबारी फैज़ी कहे जाते हैं।

खत्री जी के 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के महत्व के विषय में श्री सूर्यनाथ तकरू ने लिखा है—'रोचकता की तो उस पुस्तक में हद है। ड्यूमा या वाल्टर स्काट को छोड़कर इतना रोचक लेखक मुझे और कोई नहीं मिला। आप उनकी पुस्तकें पढ़िए। कभी ऊबिएगा नहीं। ये केवल मनोरंजन के लिए लिखते थे और उसमें पूर्णतः सफल भी हुए। ये रोम्या रोलाँ, टाल्सटाय या गोर्की के ढर्रे के लेखक नहीं थे। इनकी श्रेणी स्काट या ड्यूमा की श्रेणी है। आजकल के कुछ अल्पज्ञ समालोचक उन बातों को असम्भव कहकर टाल देते हैं। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय खत्री जी ने लिखा है—'कौन सी बात हो सकती है और कौन नहीं हो सकती, इसका विचार प्रत्येक पुरुष की योग्यता और देश-काल-पात्र से सम्बन्ध रखता है। फिर जब तक मनुष्य कौतूहल को कुप्रवृत्ति नहीं मान लेता, तब तक कौतूहलमयी रचनाएँ भी बुरी नहीं मानी जा सकतीं। स्काट की सभी कृतियाँ, ड्यूमा के सभी

ग्रन्थ, वेल्स और चेस्टर्टन की अनेक कृतियाँ क्या सभी सम्भव हैं ? क्या समू 'अरेबियन नाइट्स' सम्भव है ? पर क्या आप उन पर हँस सकते हैं ? यदि न तो फिर किसलिए अपने स्काट पर, अपने ड्यूमा पर हँसते हैं। क्या केव इसलिए कि वह आपके घर का सिद्ध पुरुष है। इसी तरह लोग खत्री जी को कृति में 'अश्लीलता' का आरोप करते हैं। इनमें से कितने ही ऐसे हैं, जो खत्री जी व रचनाओं से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। मैं उन्हें निमन्त्रण देता हूँ कि वे इस आक्षे को कहीं से भी सिद्ध करें। यह आक्षेप सर्वथा मिथ्या है। पहले यह कुत्सित उद्देश से फैलाया गया था, पर अब तो लिखी लकीरों की फकीरी की जाती है।"[1]

गोपालराम गहमरी

हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की नींव डालनेवाले श्री गोपालराम गहमरी हैं इन्होंने सन् १८६४ से जासूसी उपन्यास लिखना प्रारम्भ कर दिया था। ए जासूसी पत्रिका का प्रकाशन भी इन्होंने कुछ समय तक किया था। कला की दृष्टि से इनके उपन्यास खत्री जी के उपन्यासों से श्रेष्ठतर हैं। इनके उपन्यासों व एक विशेषता यह भी है कि तिलिस्मी, ऐय्यारी तथा इन विषयों के अन्य उपन्यास की अपेक्षा ये कम कल्पनात्मक हैं। परन्तु उसके बावजूद इनमें खत्री जी उपन्यासों की तरह भाव, मनोवेग तथा अन्तर्जगत के सूक्ष्म विश्लेषण का अभा है। इनमें बुद्धि का चमत्कार और कौशल ही प्रमुख आकर्षण है। गहमरी जी उपन्यासों में 'रहस्य-विप्लव', 'जासूस की बुद्धि', 'भयंकर भेद', 'हंसा देवी' तथ 'गुमनाम चिट्ठी' आदि उल्लेखनीय हैं। इनके उपन्यासों के कथानक में भारती गार्हस्थ्य जीवन और उसकी समस्याओं को आधार बनाया गया प्रतीत होता है साथ ही भारतीय नारी के चारित्रिक आदर्श और गौरव का परिचय देकर उन उपदेशात्मक बनाना उनमें प्रमुख रूप से मिलता है। जहाँ तक कथान में काल्पनिक तत्वों के समावेश का सम्बन्ध है, वे इनमें बहुलता से लक्षि होते हैं।

१. 'विशाल भारत', मई, १९३४।

'साहित्य-सन्देश' के उपन्यास-विशेषांक में गहमरी जी के सम्बन्ध में श्री विजयशंकर मल्ल ने लिखा है—'वैचित्र्यपूर्ण घटनाओं के प्रति जनता का आकर्षण देखकर श्री गोपालराम गहमरी ने सृष्टि की अपेक्षा अधिक सांसारिक और विश्वसनीय घटनाचक्र की योजना करके हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की नींव डाली। यों तो रहस्यमय और रोमांचक घटनाओं के प्रति साधारणत: मानव-मन का स्वाभाविक आकर्षण रहता है, पर आधुनिक जासूसी उपन्यास काफी जटिल और पेंचदार समाज की देन है। इग्लैंड में भी ऐसे समाज में हुई हत्या या चोरी डाके के षड्यन्त्रों का पता लगाने के लिए पुलिस और सी० आई० डी० विभाग का विशेष संगठन हो गया तब 'शरलाक होम्स' जैसे चरित्रों की सृष्टि सम्भव हुई। भारत में इस तरह के कुशल जासूसों की सृष्टि सम्भव नहीं थी।''[१]

गहमरी जी के उपन्यासों की प्रमुख विशेषता यह है कि वे रोचकता में तो ऐय्यारी और तिलिस्मी उपन्यासों के ही समान होते हैं, परन्तु कथानक की विविधता और व्यावहारिकता की दृष्टि से इनसे अधिक विश्वसनीय। इस दृष्टि से उन्हें हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में जासूसी कथाओं का प्रवर्तक उपन्यासकार कहा जाना चाहिए।

किशोरीलाल गोस्वामी

किशोरीलाल गोस्वामी इस युग के एकमात्र ऐसे लेखक हैं, जिनके उपन्यासों में समान रूप से अनेक युगीन प्रवृत्तियों के संकेत मिलते हैं। इनके उपन्यासों में प्रेम-तत्व भी मिलते हैं, सुधार-वादी दृष्टिकोण भी तथा घटना-वैचित्र्य भी। इनके प्रमुख उपन्यास 'तारा', 'रजिया बेगम', 'राजकुमारी', 'गुलबहार', 'लावण्यमयी', 'सुखशर्वरी', 'प्रेममयी', 'प्रणयिनी परिणय' तथा 'चम्पाकली' आदि हैं। इनकी रचना-प्रेरणा के विषय में डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है—'किशोरीलाल गोस्वामी जिन्होंने पहले-पहले हिंदी उपन्यासों में नाटकीय कला के विविध गुणों का सफल

१. 'साहित्य-सन्देश', उपन्यास अंक, अक्टूबर-नवम्बर, १९४०।

आरोपण किया, खत्री जी के 'चंद्रकांता' से भी पहले 'कुसुम कुमारी' की रचना १८८६ में कर चुके थे यद्यपि इसका प्रकाशन १६०१ के पहले न हो सका। इस ग्रंथ की प्रेरणा उन्हें रीति-कवियों से मिली, जिन्होंने अपने मुक्तक-काव्यों के लिए नायिका-भेद एक ऐसा विषय चुना, जिसका सम्बंध मूल रूप से नाटकों से ही था। किशोरीलाल स्वयं उसी परंपरा के कवि थे। उन्होंने नायिका-भेद तथा अन्य रीति-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। इसलिए जब वे उपन्यास लिखने बैठे तब उन्हें केवल एक सुसंगत प्रेम-कहानी की कल्पना करनी पड़ी और उसमें उन्होंने प्राचीन कवियों की परंपरानुसार प्रेम-सम्बंधी विविध प्रसंगों को यथावसर अनेक अध्यायों में गद्यात्मक भाषा में जड़ दिया। उनके 'तारा', 'अँगूठी का नगीना' तथा अन्य उपन्यास हर्ष और राजशेखर के संस्कृत प्रेम-नाटकों का स्मरण दिलाते हैं। परंपरागत प्रेम-अभिसार, मान, परिहास इत्यादि इनमें भरे पड़े हैं।'[1]

गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यास में 'तारा' विशेषरूप से उल्लेखनीय है, जिसकी प्रधान पात्री महाराणा अमरसिंह की पुत्री तारा है। श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने इस उपन्यास की अनैतिहासिकता सिद्ध करते हुए लिखा है—'इस उपन्यास में ऐतिहासिक पात्रों की पूरी दुर्दशा की गयी है। आगरे का राजमहल, जिसमें परम प्रेमी विश्वविख्यात बूढ़ा शाहजहाँ निवास करता था, कुत्सित वासनाओं के रहस्यमय अखाड़े के रूप में चित्रित किया गया है। दारा के साथ उसके भाइयों ने ही पर्याप्त अत्याचार किया था, परंतु उसके उज्ज्वल चरित्र पर गाढ़ी स्याही पोतकर जो दुर्दशा गोस्वामी जो ने की है वह अधिक चिंतनीय है। किले के कुत्सित वातावरण में शाहजादियों की उच्छृंखल इश्कमिजाजी और उनकी दूतियों की ऐय्यारी का जैसा वासनामय चित्र 'तारा' में अंकित किया गया है उसे देखकर उस काल का साक्षी इतिहास भी शर्म से आँखें झुका लेगा। राजपूत-गौरव की उज्ज्वलता दिखाने जाकर भी अपनी अनभिज्ञता के कारण गोस्वामी जी ने राजपूत आदर्श को कलंकित ही किया, अन्यथा वे मेवाड़-बालिका तारा के कामुक मुसलमान आशिकों को छकाने, धोखा देने और छिपकर उनकी प्रेमोक्तियों में आनंद लेने की उत्सुकता चित्रित न करते।'[2]

१. 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास' (डा० श्रीकृष्ण लाल), पृ० २७८।
२. 'हिंदी उपन्यास' (श्री शिवनारायण श्रीवास्तव), पृष्ठ ८१।

परंतु गोस्वामी जी अपने इस ऐतिहासिक उपन्यास में व्यक्त दृष्टिकोण के विषय में पहले यह स्पष्ट कर चुके हैं कि 'हमने अपने बनाए उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं-कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर से ही नमस्कार भी कर दिया है। .... यहाँ कल्पना का राज्य है, यथेष्ट लिखित इतिहास का नहीं, और इसमें आर्यों के यथार्थ गौरव का गुण कीर्तन है ....। इसलिए लोग इसे इतिहास न समझें और इसकी सम्पूर्ण घटना को इतिहासों में खोजने का उद्योग भी न करें।'[1]

इसी प्रकार प्रेम-तत्वों के उपन्यास में समावेश के विषय में गोस्वामी जी ने लिखा है कि 'प्रेम और प्रेम तत्व को सभी चाहते हैं, पर इसका उपाय बहुत कम लोग जानते होंगे, प्रेमिक प्रेम को पाने लिए व्याकुल तो होते हैं; सभी अपने लिए दूसरे को पागल करना चाहते हैं, पर अभी तक इसका उपाय बहुतों ने नहीं जाना है। इसका अभाव केवल उपन्यास ही दूर करता है इसीलिए प्राचीनतम कवियों ने और साम्प्रतिक यूरोपीय कवियों ने उपन्यास की सृष्टि की। जो बात झूठ-सच से नहीं होती, तन्त्र-मन्त्र से नहीं बनती वह प्रेम के विज्ञान 'उपन्यास' से सिद्ध होती है। .... इसके पढ़ने से मनुष्य के हृदय के ऊपर बड़ा असर होता है, और सब बात बनती है।'[2]

किशोरीलाल गोस्वामी लिखित 'प्रणयिनी-परिणय' एक 'अपूर्व अभिनव प्रकार की अलौकिक कल्पना'[3] है। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है—एक राजा अपनी प्रजा की स्थिति से परिचित रहने को अपना कर्तव्य समझकर रात में वेश बदलकर घूमता है। एक बार वह एक व्यक्ति को एक मकान में घुसने की चेष्टा करते देखकर बन्दी बना लेता है। उस व्यक्ति का नाम मार शास्त्री था। वह राजा को कोई पुलिस कर्मचारी समझ कर उससे अनुरोध करता है कि मैं चोर नहीं हूँ, एक प्रतिष्ठित व्यक्ति हूँ। तुम मुझे मेरे पिता के पास ले चलो। तुम्हें विपुल धन मिलेगा। राजा कुछ सोच-विचारकर ऐसा ही करता है। वहाँ पहुँचने पर उसका पिता

१. 'तारा' (किशोरीलाल गोस्वामी), भूमिका।
२. 'सुखशर्वरी' (किशोरीलाल गोस्वामी), निदर्शन।
३. 'प्रणयिनी परिणय' (किशोरीलाल गोस्वामी)।

कहता है कि मेरा पुत्र नितान्त चरित्रहीन सिद्ध हुआ है। मैं इसके लिये कुछ नहीं कर सकता। मेरे लिये यह मर चुका। अब मार शास्त्री राजा से प्रार्थना करता है कि तुम मुझे मेरे एक मित्र परदु:खभंजन के पास ले चलो। राजा ऐसा ही करता है। परदु:खभंजन बहुत कह-सुनकर मार शास्त्री को इस वादे पर छुड़ा लेता है कि मैं आज्ञा होने पर मार शास्त्री को अपने साथ लेकर न्यायालय में उपस्थित हो जाऊँगा। राजा के चले जाने पर वह अपने मित्र के सामने अपना अपराध स्वीकार करते हुए बताता है कि मैं अपनी प्रेमिका से भेंट करने जा रहा था, तभी मार्ग में वन्दी बना लिया गया। यदि तुम कहो तो मैं उससे अन्तिम भेंट कर आऊँ। मार शास्त्री की विकलता देखकर परदु:खभंजन उसे जाने की अनुमति दे देता है। वह अपनी प्रेमिका के पास जाता है और उसे सारा हाल बता देता है। वह विलाप करने लगती है। उससे विदा लेकर वह वापस चला आता है। राजा इस सारे घटना-व्यापार से परिचित हो जाता है। वह ईश्वर को धन्यवाद देता है कि मैं आज व्यर्थ ही एक निरपराध व्यक्ति को दण्ड दे रहा था। यथासमय राजा की आज्ञा पाकर कोतवाल जाता है और परदु:खभंजन स्वयं उसके साथ चल पड़ता है। कुछ देर बाद मार शास्त्री भी भागा-भागा आता है। दोनों ही अपने आपको दोषी बताते हैं। अन्त में कोतवाल दोनों को राजा के सामने उपस्थित कर देता है। राजा मार शास्त्री को शूली के पास खड़ा करता है। उसी समय पुरुष-वेश में एक कन्या घोड़े पर सवार होकर आती है। वे दोनों 'श्लोक' कहकर बात करते हैं। बाद में भेद खुलता है कि वह कन्या शारदाचार्य की है। फिर राजा की आज्ञा से प्रणयिनी नामक उस कन्या का परिणय मार शास्त्री से कर दिया जाता है।

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास के कथानक चाहे जिस प्रकार के हों, उनमें किसी न किसी रूप में, प्रेम-वर्णनों का समावेश प्रासंगिक रूप से अवश्य हुआ है। यों भी उनके उपन्यास व्यावहारिक भूमि से हटकर अपने आप में काल्पनिक-तत्वों को अधिकता से लिये हुए हैं। इस दृष्टि से उन पर मध्यकालीन प्रेमगाथा-परम्परा का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भाषा के नमूने की दृष्टि से

'देव बाला' या 'ठेठ हिंदी का ठाठ' तथा 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यासों की रचना की। उद्देश्य की इसी विशिष्टता के कारण इनमें औपन्यासिक कलात्मक-तत्वों की अपेक्षा इन उपन्यासों में भाषा-चमत्कार ही अधिक मिलता है।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' लिखित 'ठेठ हिंदी का ठाठ' सन् १८६६ में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने इसे ठेठ हिंदी में लिखा हुआ दूसरा ग्रन्थ माना है। उपोद्घात में उसने लिखा है—'जहाँ तक मेरा अनुभव है मैं कह सकता हूँ, ठेठ हिंदी में अभी तक केवल एक ग्रंथ लिखा गया है, और वह लखनऊ के प्रसिद्ध कवि 'इंशा अल्लाह खाँ' की बनायी 'कहानी ठेठ हिंदी' है। जो मेरा यह विचार ठीक है, और मैं भूलता नहीं हूँ, तो कहा जा सकता है कि मेरा 'ठेठ हिंदी का ठाठ' नामक यह उपन्यास ठेठ हिन्दी का दूसरा ग्रन्थ है। इस उपन्यास का नाम 'देव बाला या 'ठेठ हिंदी का ठाठ' है अर्थात् ठेठ हिंदी में लिखी गयी एक मन लुभाने वाली कहानी।'[1]

इस उपन्यास की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—उपन्यास की प्रमुख पात्री देव बाला बचपन से ही देवनन्दन के साथ खेलती-कूदती रही थी। उसकी माँ हेमलता भी उन दोनों के पारस्परिक आकर्षण को जानती थी और देवनन्दन से ही उसका विवाह करना चाहती थी। परन्तु उसका पति रमाकांत इस विवाह का विरोधी था। अपनी पत्नी के अनुरोध के बावजूद उसने देव बाला का विवाह रमानाथ नाम के आदमी के साथ कर दिया। विवाह के कुछ समय बाद ही देव बाला के सास तथा श्वसुर मर गये। रमानाथ घर से भाग गया। देव बाला पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। वह बड़े कष्ट से एक-एक दिन काटने लगी। अन्त में उसका इकलौता पुत्र बीमार पड़ा। वह विलाप करने लगी। उसी समय उसका बचपन का साथी देवनन्दन आ गया। उसने उसे पहचान लिया और समझाया। उसने उसके पति को वापस लाने का आश्वासन दिया। अन्त में बड़ी कठिनाइयों के बाद जब वह रमानाथ को लेकर वापस आया, तो उन दोनों के सामने ही देव बाला की मृत्यु हो गयी और देवनन्दन और रमानाथ साधु हो गये।

इस युग के अनेक उपन्यासों—उदाहरण के लिए 'परीक्षा-गुरु' आदि—की

१. 'देव बाला' या 'ठेठ हिंदी का ठाठ' (पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'), उपोद्घात।

भाँति ही इसमें भी प्रकरण के आरंभ में कुछ पंक्तियाँ मिलती हैं, जैसे 'पहले ठाठ' के आरंभ में यह दोहा—

'ललकि ललकि लोचनन तेहि, लखि-लखि होहु निहाल ।
लाली इत उत की लहत, लहे जीव जहि लाल ।।

लज्जाराम मेहता

मेहता जी के लिखे हुए उपन्यासों में 'धूर्त रसिक लाल', 'हिंदू गृहस्थ', 'आदर्श दंपति', 'बिगड़े का सुधार' तथा 'आदर्श हिंदू' आदि उल्लेखनीय हैं। ये उपन्यास कलात्मक-तत्वों के स्थान पर रचना-उद्देश्य की दृष्टि से ही अधिक महत्व के हैं। इनमें से प्रत्येक में किसी न किसी आदर्श का पोषण मिलता है, और सुधार-वादी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। अपने इस दृष्टिकोण के विषय में उन्होंने अपने एक उपन्यास की भूमिका में लिखा है—'यद्यपि उपन्यास आजकल बिल्कुल कल्पित और ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर लिखे जाते हैं और इसलिए इनकी कथा कोई प्रमाण-भूत नहीं मानी जाती है, परन्तु मैं मानता हूँ और बड़े-बड़े विद्वान मानते हैं कि उपन्यास समाज का चित्र है और आज उपन्यास की जो कथा कल्पित मानी जाती है, वही समय पड़ने पर इतिहास बन जाती है। इसलिए उपन्यास ऐसा बनना चाहिए जिससे प्रजा के सच्चे चरित्र का बोध हो—उन्हें पढ़ने से पाठकों के चरित्र सुधरें और वे दुराचार से छूटकर सदाचार में प्रवृत्त हों।'[१]

व्रजनंदन सहाय

इस युग के अंतिम उपन्यासकार बाबू व्रजनंदन सहाय हैं, जिनके लिखे हुए उपन्यासों में 'सौंदर्योपासक', 'राधाकांत' तथा 'राजेंद्र मालती' आदि उल्लेखनीय हैं। आचार्य शुक्ल ने इनके उपन्यासों को 'काव्य-कोटि' में आनेवाले भाव-प्रधान उपन्यास माना है।[२] ये उपन्यास मूलतः जनता के मनोरंजन के उद्देश्य को ध्यान

१. 'आदर्श दंपति' (श्री लज्जाराम मेहता), भूमिका।
२. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), पृ० ४६०।

में रखकर नहीं लिखे गये थे। हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में चरित्र-चित्रण पर बल देने वाले यह पहले उपन्यासकार हैं। यद्यपि इनके उपन्यासों में भी चरित्र-चित्रण बहुत उत्कृष्ट रूप में नहीं हुआ है, फिर भी, पात्रों के हृदयों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनके उपन्यासों का महत्व है।

आलोच्य युग के अनुवादित उपन्यास

जिस समय हिंदी में उपन्यास-साहित्य की आधार-भूमि तैयार हो रही थी, उस समय तक विदेशी भाषाओं में उपन्यास एक पूर्ण विकसित साहित्यांग बन चुका था। हमारे देश में उस समय तक अँग्रेजी तथा बँगला भाषाओं के उपन्यासों का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। हिन्दी में इस प्रारम्भिक युग में जिन उपन्यासों का अनुवाद हुआ, उनमें इन दोनों भाषाओं के ही प्रसिद्ध उपन्यास थे। नीचे संक्षेप में उनकी चर्चा की जा रही है।

(१) बँगला से अनूदित उपन्यास

प्रारम्भ में बँगला भाषा से रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचंद्र रक्षित, चण्डीचरण सेन, शरत्चंद्र चट्टोपाध्याय, तथा चारु-चंद्र आदि उपन्यास लेखकों की कृतियों को अनूदित करने का काम बहुत तीव्र गति से हुआ।

यह स्वीकार करना होगा कि बँगला से जिन उपन्यासों का अनुवाद हुआ, उन्होंने जनता की रुचि तो इस साहित्यांग में बढ़ायी ही, उसका परिष्कार भी किया। हिंदी उपन्यास के इस विकास-युग में प्राचीन परिपाटी का बहिष्कार करके नवीन शैली के उपन्यासों के आरम्भ और विकास में भी बँगला भाषा से अनूदित उपन्यासों का बहुत योग रहा है।

बँगला भाषा से इस युग में जिन उपन्यासों को अनूदित किया गया उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—

'बंग विजेता'—

इसका अनुवाद श्री गदाधर सिंह ने किया।

'दुर्गेश नन्दिनी'—

बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के इस सर्वप्रसिद्ध उपन्यास का अनुवाद भी श्री गदाधर सिंह ने किया।

'स्वर्णलता'—

'मरता क्या न करता'—

श्री राधाकृष्ण दास ने उपर्युक्त दोनों उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद किया।

'राजसिंह'—

'इन्दिरा'—

'राधारानी'—

'युगलांगुरीय'—

उपर्युक्त चारों उपन्यासों का हिंदी अनुवाद इस युग के प्रसिद्ध निबन्धकार पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने प्रस्तुत किया।

'विरजा'—

'जावित्री'—

'मृण्मयी'—

उपर्युक्त तीनों उपन्यासों का अनुवाद पंडित राधाचरण गोस्वामी ने किया।

'चतुर चंचला'—

'भानमती'—

'नये बाबू'—

'बड़ा भाई'—

'देवरानी जेठानी'—

'दो बहिनें'—

'तीन पतोहू'—

'सास पतोहू'—

उपर्युक्त सभी उपन्यासों का अनुवाद इस युग के प्रसिद्ध उपन्यासकार गोपालराम गहमरी ने किया। ये अनुवाद क्रमशः संवत् १९५०, १९५१, १९५१, १९५७, १९५८, १९५९ तथा १९६१ में प्रकाशित हुए।

(२) अँग्रेजी तथा अन्य भाषाओं से अनूदित उपन्यास

बँगला से अनूदित उपन्यासों को बड़ी संख्या में पाकर तथा अन्य भारतीय भाषाओं के अनुवादों का अभाव देखकर इस बात का प्रयत्न किया गया कि उनके प्रतिनिधि उपन्यासों का भी हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया जाय। श्री पदुम लाल पुन्नालाल बख्शी ने 'हिन्दी कथा साहित्य' नामक पुस्तक में लिखा है—'हिन्दी-साहित्य जगत् में बँगला साहित्य के श्रेष्ठ ग्रंथों की विशेष लोकप्रियता देखकर आधुनिक मराठी साहित्य के एक विख्यात लेखक मामा वारेकर ने एक बार एक हिंदी-प्रेमी सज्जन से कहा था कि हिंदी वालों से मेरी एक शिकायत है। उन्हें बंगाल के सिवाय किसी दूसरे प्रांत के साहित्य में दिलचस्पी नहीं है। यदि मैं यह कहूँ कि बंगाल के प्रति उनमें हीन-भाव है, तो अत्युक्ति नहीं होगी।'[1]

इस युग में बँगला भाषा से तो अनेक उपन्यासों का अनुवाद किया ही गया, साथ ही, अंग्रेजी, उर्दू, मराठी तथा गुजराती भाषा के भी बहुत से उपन्यासों को अनूदित किया गया। इस वर्ग के अंतर्गत आने वाले उपन्यास इस प्रकार हैं—

'ठग वृत्तांत माला'—

'पुलिस वृत्तांत माला'—

'अकबर'—

'अमला वृत्तांत माला'—

'चित्तौड़ चातकी'—

उपर्युक्त उपन्यासों का अनुवाद बाबू रामकृष्ण वर्मा ने अंग्रेजी या उर्दू से क्रमशः संवत् १९४६, १९४७, १९४९, १९५१ तथा १९५२ में किया था।

'इला'—

'प्रमिला'—

बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री ने उपर्युक्त दोनों अनूदित उपन्यासों को क्रमशः संवत् १९५२ तथा १९५३ में प्रकाशित किया।

'छत्रसाल'—

इस उपन्यास का अनुवाद बाबू रामचंद्र वर्मा ने मराठी भाषा से हिंदी में प्रस्तुत किया। इसके मूल लेखक बालचंद शाह थे।

१ 'हिंदी कथा साहित्य' (श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी), पृ० ४९।

अनुवादित उपन्यासों के हिन्दी-उपन्यास के विकास में योग के विषय में डा० श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है—"नये पाठक बनाने और जनता की रुचि शिक्षित बनाने के अतिरिक्त इन अनुवादित उपन्यासों ने मौलिक उपन्यास लिखते समय उनके लिए नमूने भी उपस्थित किये। हिंदी में उपन्यास लिखने की कोई परम्परा न थी। इस कारण हमारे उपन्यासकारों को प्रेरणा और अनुकरण के लिए इन्हीं अनुवादित उपन्यासों की शरण लेनी पड़ी। फिर इन्हीं अनुवादित उपन्यासों ने साहित्यिक रूप और उपादान भी दिये। बंकिमचंद्र चैटर्जी से हमें ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली और शरच्चंद्र तथा रवींद्रनाथ से हमने मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण करना सीखा।"[1]

आलोच्य युग के उपन्यासों में कथा-शिल्प के रूप : सिंहावलोकन

कथा-साहित्य का प्रारम्भिक रूप चाहे साहित्य के विकास के किसी भी युग में मिले, लेकिन कहा यही जाता है कि कथा-साहित्य का जन्म मानव जाति के साथ ही हुआ है। इस दृष्टि से साहित्य का प्राचीनतम अंग यही सिद्ध होता है। जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहने का प्रयत्न किया गया है कथा-साहित्य का क्षेत्र बहुत विशाल और व्यापक है तथा मानव-अनुभूतियों की अधिकतम प्रखर और गहन अभिव्यक्ति इसी माध्यम से प्रस्तुत की जा सकने की सम्भावनाएँ प्रायः होती हैं। इसीलिए यह एक बहुत विस्तृत पृष्ठभूमि में जीवन को आँकने-समझने का प्रयत्न करता है। ज्यों-ज्यों संसार की भिन्न भाषाओं के साहित्य में गद्य का आविर्भाव और विकास होता गया, त्यों-त्यों कथा-साहित्य का महत्व भी बढ़ता गया। एक स्थिति आयी, जब निर्विवाद रूप से यह स्वीकार किया जाने लगा कि कथा-साहित्य आधुनिक युग में जीवन का विश्लेषण करने वाला सर्वाधिक सशक्त माध्यम है, और यही कारण है कि संसार के साहित्य में उसे आधुनिक महाकाव्य की संज्ञा प्रदान की गयी। यह तथ्य जहाँ एक ओर इस बात का प्रमाण देता है कि उपन्यास आधुनिक युग में अपनी गहनता और विशालता के कारण इस महत्व को प्राप्त हुआ है, वहाँ दूसरी

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ ३२१।

और यह इस बात का भी संकेत देता है कि उसके चिर-नवीन होने का रहस्य भी उसकी आश्चर्यजनक रूप से क्षमता और शिल्प-रूपाकर्षण में निहित है।

हिन्दी कथा-साहित्य की परम्परा पर्याप्त प्राचीन होते हुए भी—आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य की जो सामग्री उपलब्ध है—उसका इतिहास बहुत अधिक समय का नहीं कहा जा सकता। परन्तु किसी सीमा तक यह सन्तोष का विषय भी हो सकता है कि इस लघु विकास-काल के बावजूद भी यह साहित्यांग परिमाण और स्तर की दृष्टि से अन्य साहित्यांगों की तुलना में किसी भी प्रकार हीन या अप्रौढ़ नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि आधुनिक उपन्यास-साहित्य के विश्लेषण-विवेचन के लिए जिन प्रयत्नों की आवश्यकता थी, उनकी दिशा में कोई ठोस कार्य नहीं किया गया। इस उपेक्षा - भावना का हिंदी उपन्यास की प्रगति पर कोई प्रभाव पड़ा हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं समझनी चाहिए। आश्चर्य की बात यही समझनी चाहिए कि इस उपेक्षा के होने के बाद भी यह साहित्यांग अपने भावी-प्रगति-पथ पर उसी प्रकार निरन्तर प्रवाहमान होता रहा है। परन्तु यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि आधुनिक युग में मानव-जीवन की जटिलताओं का ही यह परिणाम हुआ है कि उपन्यास अपने रूप और क्षेत्र को क्रमशः विस्तार देता रहा है।

आधुनिक कथा-साहित्य की विशेष प्रवृत्तियों पर अपने विचार प्रकट करते हुए एक पाश्चात्य आलोचक ने कहा है कि आत्मनिष्ठता आधुनिक कथा-साहित्य की विशेषताओं में से एक है। वर्तमान युग संकुलता और बिखराव का है और ऐसी स्थिति में उसी को विवश होकर अपनी चेतना की गूढ़ता और रहस्यात्मकता की ओर झुकना पड़ता है। यही एक वास्तविकता रह जाती है, जिसके विषय में वह कुछ निश्चिन्त और आश्वस्त हो सकता है, अन्यथा सभी बाह्य वस्तुएँ बिखरी-सी हैं, टूटी-फूटी। उनके विषय में कलाकार कह ही क्या सकता है? वह केवल अपनी अनुभूति के संसार के विषय में आश्वस्त है और उसी का वह निर्माण भी करेगा।

कथा-साहित्य के विकास-क्रम पर दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में पौराणिक आदि कथाओं में या तो साहसिकता और अनाचार के विरुद्ध आवाज उठाने की प्रवृत्ति की प्रधानता होती थी और या किसी प्रेम-प्रसंग के आधार पर असाधारण कार्य करने की प्रवृत्ति की। इन कथाओं का रूप बहुत जटिल होता था एवं वे एक क्षीण सूत्र से सम्बद्ध होने का आभास भर देती थीं। बहुधा उनमें

ऐसे विषयों का समावेश बहुलता से मिलता था, जिनका मूल कथा से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता था। कथा की प्रधानता और घटनाओं की बहुलता का परिणाम यह होता था कि उपन्यास के अन्य तत्व एक प्रकार से अप्रधान हो जाते थे और चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि में भी किसी प्रकार की कलात्मकता आ सकती है, यह समझने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी।

ऊपर जिस स्थिति की ओर संकेत किया गया है, वह अपने इसी रूप में या परिवर्तित रूपों में बहुत समय तक मिलती है। इसके बाद जो कथा-शिल्प के विकास-क्रम की स्थिति आयी उसमें नायकों के कार्य-क्षेत्र में परिवर्तन किया गया, तथा घटना-वैचित्र्य पर अधिक गौरव दिया गया। शिल्प की दृष्टि से इस प्रकार के कथानकों में नाटकीयता का समावेश बहुत अधिक मिलता है। उद्देश्य के विचार से वे केवल चमत्कार-सृष्टि को ही प्रधानता देते थे। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग तक इसी कोटि की रचनाएं मिलती हैं। परन्तु इस युग में ऐसे भी उपन्यास मिलते हैं, जिनमें घटना-वैचित्र्य और कथानक की प्रधानता के साथ ही साथ किसी सीमा तक इस प्रकार के प्रयत्न हैं, जिनके फलस्वरूप पात्रों का चारित्रिक विकास भी लक्षित हो।

आगे चलकर उपन्यासों में घटना-वैचित्र्य और चमत्कार-सृष्टि की प्रवृत्ति का अभाव मिलने लगा और कथानक पर जितना गौरव दिया जाता था, उतना ही चरित्र-चित्रण पर भी दिया जाने लगा। कथानक जितने गठे हुए रूप में इस युग के उपन्यासों में मिलता है, वैसा सम्भवत: अन्य किसी युग में नहीं। यही कारण है कि इस युग में जहाँ एक ओर ऐसे उपन्यास बहुलता से मिलते हैं जिनमें कथा-संगठन की दृष्टि से बहुत कम दोष मिलते हैं तो ऐसे उपन्यासों का भी अभाव नहीं हैं जिनमें पात्रों के चरित्र-चित्रण पर अधिक बल दिया गया है। इस युग के उपन्यासों में अधिकांशत: नाटकीय तत्वों का समावेश केवल उन्हीं स्थलों पर मिलता है, जहाँ या तो किन्हीं आदर्शवादी सिद्धान्तों की स्थापना की बात हो और या कथानक को कोई मोड़ देना हो।

प्रेमचन्द युगीन उपन्यास-साहित्य यथार्थानुकारिता की दृष्टि से इस युग के उपन्यासों से आगे बढ़ा हुआ है। इस कथन से यह आशय नहीं समझना चाहिए कि भारतेंदु युगीन उपन्यास साहित्य में यथार्थ का पुट ही नहीं था या इस दिशा में कोई प्रयत्न उनमें किया गया नहीं लक्षित होता। वास्तव में भारतेंदु युगीन उपन्यास

सुधारवादिता और उपदेशात्मकता के साथ मनोरंजकता की वृत्तियों से इस प्रकार आक्रांत-से थे कि इनसे छुटकारा पाकर कोई नवीन मार्ग ग्रहण करना उनके लिए बहुत कठिन था। यही कारण है कि यदि उनमें यथार्थ जीवन उस सीमा तक प्रतिबिम्बत होता नहीं दिखायी देता, तो इसे कोई आश्चर्य की बात नहीं समझना चाहिए।

बहुधा ऐसा कहा जाता है कि परवर्ती उपन्यास ने स्वयं अपने रूप-निर्धारण का कार्य किया एवं उसके पूर्ववर्ती कथा-साहित्य ने अपनी देन के रूप में भावी उपन्यास के लिए कोई भी धरोहर नहीं छोड़ी अथवा मार्ग-निदर्शन नहीं किया। यह भी कहा जाता है कि प्रेमचंद युगीन उपन्यास साहित्य में उसके पूर्वकालीन उपन्यासों का कोई योग नहीं था। वस्तुत: यह एक भ्रामक स्थापना है और थोड़ा ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। तथ्य यह है कि प्रेमचंद-युग के पूर्वकाल में ही उन कथाओं की आधार-भूमि बन गयी थी, जिन पर प्रेमचन्द युगीन उपन्यास-साहित्य का प्रतिष्ठापन होना था। साथ ही यह कहना भी अनुचित न होगा कि प्रेमचन्द-युग के प्रारम्भिक वर्षों में प्राय: उन्हीं समस्याओं और विषयों को लेकर उपन्यासों की रचना की गयी, जो पूर्व काल में ही निश्चित हो चुके थे। यही कारण है कि विषय की मौलिकता की दृष्टि से इस युग के कथा-साहित्य को कोई श्रेय नहीं दिया जा सकता।

इस युग के उपन्यासकारों ने उन कथाओं का चयन किया, जिनमें शिल्प की अपेक्षा कथा-वैचित्र्य की ओर अधिक ध्यान दिया जा सके। उन्होंने प्राचीन कथा-परम्परा से ऐसे कथा-सूत्रों को लिया, जिनकी सहायता से ऐसे कथानक बन सकते, जिनका आधार तिलिस्म, प्रेम, समाज-सुधार अलौकिक तत्वों आदि को ही बनाया जा सकता। कहीं-न-कहीं उनमें उपदेशात्मकता की भावना भी उभर आती थी। यों यह भिन्न बात है कि उपन्यास-साहित्य में ये तत्व स्थायित्व न ग्रहण कर सके। कम-से-कम भारतेंदु काल के उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों में इन तत्वों का समावेश सफलतापूर्वक किया, यह स्वीकार करना पड़ेगा। इस दृष्टि से उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता मिली।

आलोच्य युग के उपन्यासों को देखने से यह ज्ञात होता है कि किन परिस्थितियों में हिन्दी-उपन्यास का जन्म और प्रारम्भिक विकास हुआ। उनसे यह भी पता चलता है कि उस पर किन विचारधाराओं एवं किन भाषाओं के कथा-

साहित्य का कितना प्रभाव पड़ा। हमारे विचार से इस पूर्ववर्ती युग के समस्त कथा-साहित्य के विषय में यह कहना उचित नहीं है कि ये सारे उपन्यास लक्ष्यहीन हैं, कि इनका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है, कि इनका साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है; कि इनके कथानक साधारण तिलिस्म और ऐय्यारी पर ही आधारित हैं उनमें समाज का यथार्थ चित्रण नहीं है, कि इनमें जीवन के विविध पक्षों और उनसे सम्बन्धित समस्याओं को नहीं उठाया गया है तथा, कि वे चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सर्वथा असफल हैं।

भारतेन्दु युग में ही इस बात का आभास मिलने लगा था कि आगे हिंदी-उपन्यास किन दिशाओं को ग्रहण करेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द-युग में जिस प्रकार के उपन्यास-साहित्य की रचना हुई, उसका बीजारोपण भारतेंदु-युग में ही हो चुका था। हाँ, एक महत्वपूर्ण भेद अथवा भिन्नता, जो इन दो युगों के उपन्यास साहित्य में है, वह यही कि अनेक समानताओं-असमानताओं के बावजूद, भारतेन्दु युग के उपन्यास जीवन से जितने दूर थे, प्रेमचंद-युग के उपन्यास उसके उतने ही निकट।[1] कलात्मक प्रौढ़ता की दृष्टि से भी प्रेमचंद युगीन उपन्यास पूर्ववर्ती उपन्यास-साहित्य से भिन्न स्तर के हैं। उनके पूर्व-युग का उपन्यास-साहित्य अव्यावहारिक विषय-वस्तु पर आधारित होता था। उसमें जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याएँ तो अवश्य उठायी जाती थीं, परन्तु उनका कोई हल नहीं प्रस्तुत किया जाता था।

भारतेन्दु युगीन उपन्यास-साहित्य हिंदी-उपन्यास के प्रथम विकास-काल की रचनाएँ हैं। उन सब पर पूर्ववर्ती अनेक भाषाओं के कथा-साहित्य का प्रभाव है। इस दृष्टि से यह कठिन होगा कि उसमें कथा-शिल्प के किन्हीं मौलिक तत्वों को खोज निकाला जाय। यदि उसके रूप-निर्धारण के कारणों की विवेचना की जाय तो ज्ञात होगा कि उस समय उपन्यास का साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्व न तो पाठक-वर्ग ही भली भाँति समझता था और न लेखक-वर्ग। इसे केवल मनोरंजन का एक साधन माना जाता था। भारतेन्दु युगीन उपन्यासों के पीछे इसीलिए मनोरंजन का ही उद्देश्य माना जाता है। अवश्य निष्कर्ष रूप में इन उपन्यासों के

१. 'हिंदी साहित्य : पिछला दशक' (प्रतापनारायण टण्डन), पृष्ठ ७३।

कथानक के आधार पर कोई उपदेशात्मक तथ्य निकालने का प्रयत्न किया जाता था और कुछ के पीछे समाज में प्रचलित कुरीतियों के विरोध की भावना भी थी। लेकिन यह गौण उद्देश्य समझा जाता था। प्राथमिक महत्व जिस उद्देश्य को दिया जाता था, वह मनोरंजन ही था। भारतेन्दु युगीन उपन्यास साहित्य को यदि उपर्युक्त रचनात्मक उद्देश्य की पृष्ठभूमि में देखा जाय, तो सम्भवत: उनके रचयिताओं के प्रयास को असफल नहीं कहा जायगा। कलात्मकता और प्रौढ़ता के उद्देश्य भिन्न हैं। जो लोग इस पृष्ठभूमि की उपेक्षा करके भी कलात्मकता और प्रौढ़ता की बात करते हैं, उन्हें यह समझना चाहिए कि किसी एक युग के कथा-साहित्य को सभी पैमानों पर नहीं कसकर परखा जा सकता। अवश्य, महत्व की दृष्टि से कलात्मकता की कसौटी ही सर्वोपरि मानी जायगी, परन्तु इसके बावजूद विभिन्न कालों के युगीन साहित्यिक उद्देश्यों को प्राथमिक रूप से ध्यान में रखना होगा।

प्रेमचंद जी ने भारतेन्दु युगीन उपन्यास-साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं 'फिसानए अजायब' की दास्तान थी, कहीं 'बोस्ताने खयाल' की और कहीं 'चन्द्रकांता सन्तति' की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति। साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी, कहानी है; जीवन, जीवन। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थीं।'

यहाँ, संक्षेप में, पिछले पृष्ठों में प्रस्तुत आलोचना-युग के उपन्यास-साहित्य के आधार पर उसकी शिल्प-गत विशेषताएँ देखने का प्रयत्न किया जायगा।

(१) वस्तु-विषय

इस युग के उपन्यास-साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि कथा-शिल्प की दृष्टि से इस युग के उपन्यासों में कुछ ऐसे तत्व मिलते हैं, जो इस युग की विशिष्टता कहे जा सकते हैं। वस्तुत: यह आश्चर्य की ही बात है कि शिल्प के रूपों की दृष्टि से आलोच्य युग का उपन्यास-साहित्य अपने पूर्व के कथा-साहित्य से और अपने परवर्ती कथा-साहित्य से पर्याप्त वैभिन्न्य रखता है। सामान्य रूप से

यदि इसके कारणों का निदर्शन किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि भारतेंदु युगीन कथा-साहित्य में न तो उतनी कल्पनात्मकता ही दिखायी पड़ती है, जितनी पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में और न उतनी यथार्थानुकारिता ही, जितनी परवर्ती कथा-साहित्य में मिलती है।

वस्तु-विषय में विविध तत्वों की प्रधानता-अप्रधानता की दृष्टि से आलोच्य-युग के उपन्यास-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) कल्पनात्मक—

इस युग के उपन्यासों के विषय में कुछ सामान्य प्रश्न उठाये जा सकते हैं, उदाहरण के लिए—क्यों ये उपन्यास यथार्थानुकारिता की दृष्टि से महत्वपूर्ण न हो सके? क्यों ये जीवन के निकटतर न आ सके? क्यों ये सामान्य कथा-कृतियाँ बनकर ही रह गये? क्यों इनका उल्लेख केवल कथा-साहित्य का परम्परागत परिचय प्राप्त करने के लिए ही आवश्यक समझा जाता है? क्यों नहीं इन कथा-कहानियों को इस युग की औपन्यासिक उपलब्धियों के रूप में स्वीकार किया जाता? इन प्रश्नों के उत्तर में जो प्रधान कारण बताया जा सकता है, वह यह है कि इन उपन्यासों में कल्पनात्मक तत्व इतनी अधिकता से मिलते हैं कि उनका जीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं प्रतीत होता।

कल्पना-प्रधान विषय-वस्तु के इस युग के कथा-साहित्य में समावेश की दृष्टि से दो वर्ग किये जा सकते हैं—आदर्शवादी कल्पनात्मकता तथा कल्पनाशील विलक्षणता। इनमें से प्रथम वर्ग में 'श्यामा-स्वप्न', 'आश्चर्य वृत्तान्त' तथा 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' आदि तथा द्वितीय में 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की कोटि में आनेवाली जासूसी और ऐय्यारी रचनाएँ आती हैं। इनमें जो रचनाएँ प्रथम वर्ग में आती हैं, वे कथा-सृष्टि की दृष्टि से द्वितीय वर्ग में आने वाली कृतियों से भिन्न हैं। इस श्रेणी में आने वाले उपन्यास इस बात का प्रमाण हैं कि इस युग के उपन्यासकार किसी सीमा तक इस दिशा में प्रयत्नशील हुए थे कि उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक जीवन प्रतिबिम्बित हो। परन्तु इसके बावजूद उन्हें इस क्षेत्र में इस कारण से सफलता न मिल सकी, क्योंकि उन पर पूर्वकालीन तथा युगीन कथा-कृतियों का इतना अधिक प्रभाव था कि वे अपने आपको उससे पूर्णतः मुक्त न रख सके। इसके विपरीत द्वितीय कोटि में आने वाले उपन्यास मुख्यतः तिलिस्मी, ऐय्यारी आदि विलक्षणता के तत्वों को लेकर आगे बढ़े हैं और उनमें

कल्पना की उड़ानें इतनी ऊँची भरी गयी हैं कि उपन्यासकारों की चमत्कार-सृष्टि की सामर्थ्य की प्रशंसा करनी पड़ती है। उनके कथानक में घटनाओं का विचित्र और आश्चर्यजनक जाल-सा मिलता है।

(ख) उपदेशात्मक—

इस वर्ग में 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा', 'परीक्षा-गुरु', 'सौ अजान और एक सुजान', 'नूतन ब्रह्मचारी' आदि उपन्यास आते हैं। इन सभी उपन्यासों में किसी न किसी सामाजिक समस्या को उठाया गया है और अन्त में यह बताया गया है कि इसके क्या कुपरिणाम हो सकते हैं। परन्तु यह समाज-सुधार के विषय भी एक विस्तृत घेरे में मिलते हैं। बात यह है कि इस युग के उपन्यास-साहित्य में विषय सामग्री की दृष्टि से पर्याप्त वैविध्य मिलता है। साथ ही उसमें कथानक का विकास एक सुनिश्चित और सुस्थिर गति से हुआ है। इसका कारण यह है कि जीवन के विविध जटिल पक्षों को कथा-साहित्य में उठाना इस युग के उपन्यास-लेखक बहुत आवश्यक नहीं समझते थे परन्तु जो विषय सामान्य रूप में प्रचलित थे, उन पर बहुलता से लिखने की प्रवृत्ति थी। कथा-शिल्प के रूपों, कथानक के विविध प्रकारों तथा कथा-विषयों की दृष्टि से भारतेन्दु युगीन उपन्यासों में पर्याप्त वैविध्य लक्षित होने का एक कारण यह भी है कि कुछ विशिष्ट कथा-परम्पराओं को छोड़कर इस युग को कोई सुनिश्चित कथा-परम्परा धरोहर के रूप में नहीं मिली थी। इस युग में अँग्रेजी तथा बँगला आदि भाषाओं के उपन्यासों के जो अनुवाद हिन्दी में किये गये, वे स्वभावत: ही एक नवीन साहित्य-माध्यम के रूप में स्वीकार किये जाने के कारण बहुत प्रचलित हुए। इस स्थिति में हिन्दी के उपन्यासकारों में से प्रत्येक ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार उनसे प्रभावित होकर रचनाएँ लिखीं। किसी ने एक रूप का अनुकरण करने का प्रयत्न किया, किसी ने दूसरे रूप का। कथा-शिल्प-रूपों की विविधता का एकमात्र कारण यही हो सकता है।

परन्तु यह आश्चर्य की बात ही समझी जायगी कि इस युग के किसी भी उपन्यासकार ने युग में निर्धारित कर दी गयी सीमाओं का अतिक्रमण करने का प्रयत्न नहीं किया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस युग में उपन्यास की मर्यादा और क्षेत्र सम्बन्धी निर्धारण एक सामूहिक रूप से निर्मित की गयी वस्तु प्रतीत होती है। किसी विशिष्ट उपन्यासकार ने उनसे आगे बढ़ने की चेष्टा

करने की आवश्यकता नहीं समझी। यही कारण है कि इस युग के उपन्यासों में उठायी गयी समस्याओं, उनके कथानकों, उनके शिल्प-रूपों तथा उनके दृष्टिकोण में एक प्रकार से आश्चर्यजनक समानता ढूँढ़ी जा सकती है। उदाहरण के लिए इस युग में लिखे गये अधिकांश उपन्यासों में वर्णनात्मक शैली की प्रधानता दिखायी देती है, शिल्प का कोई युगेतर रूप प्रयोग नहीं मिलता, दृष्टिकोण में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं मिलता, नीति और धर्म का समान प्रभाव सब में मिल सकता है, भावुकता और अव्यावहारिकता सब में ढूँढ़ी जा सकती है।

हो सकता है कि उपर्युक्त परिणामों का मूल कारण लेखकों की अपनी धारणाएँ और मान्यताएँ हों। उदाहरण के लिए, सम्भवतः वे ऐसा समझते हों कि वही औपन्यासिक कृति कला की दृष्टि से पूर्णता को प्राप्त हो सकेगी जिसमें कम से कम दो बातें अनिवार्य रूप से विद्यमान हों। एक तो यह कि उसमें निष्कर्ष रूप में किसी न किसी उपदेशात्मकता की भावना को अवश्य निहित होना चाहिए और दूसरे यह कि उसमें यथासम्भव मनोरंजक तत्वों का समावेश हो, जिसके अभाव में किसी कृति के अरोचक रह जाने की सम्भावना न रह जाय।

(ग) ऐतिहासिक—

इस युग के ऐतिहासिक कथानक पर उपन्यास बहुत कम लिखे गये। इस दृष्टि से किशोरीलाल गोस्वामी के 'तारा' आदि कुछ ही उपन्यास उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के अभाव के विषय में विचार प्रकट करते हुए डा० श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है—'हिन्दी-साहित्य के अतिरिक्त भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में ऐतिहासिक उपन्यास उच्च कोटि के और पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। संख्या में तो हिन्दी में भी ऐतिहासिक उपन्यासों की कमी नहीं है, यद्यपि वे तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों से बहुत कम हैं, परन्तु उच्च कोटि का ऐतिहासिक उपन्यास उस काल में हिन्दी में एक भी नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि हिन्दी में उपन्यास घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, शिक्षित और सभ्य जनता उपन्यास लिखना तो दूर रहा, पढ़ना भी पसंद नहीं करती थी। सभ्य और शिक्षित लेखक कविता, नाटक अथवा निबंध इत्यादि लिखा करते थे, उपन्यास लिखना उस श्रेणी के लेखकों का काम था जो अधिक शिक्षित न थे और जिनमें कविता, नाटक अथवा निबंध लिखने की क्षमता न थी। वे केवल साधारण हिन्दी का ज्ञान रखते थे

और भारत के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ थे ।'[1]

(२) शैली : वैविध्य एवं विशेषताएँ

यह कहना उचित न होगा कि इस युग के उपन्यासकारों ने कथा-शिल्प के क्षेत्र में नये प्रयोग नहीं किये, यद्यपि यह निर्धारण कठिन है कि उनमें से कितने प्रयोग सफल हुए और कितने नहीं। वास्तव में उपदेशात्मकता और परम्परानुगामिता आदि की कुछ ऐसी वृत्तियाँ औपन्यासिकों को आक्रांत किये हुए थीं जिनके कारण वे भरसक विद्रोह करने पर भी नयी दिशाओं को खोजने में असफल रहे। यही कारण है कि इस युग की कथा-कृतियाँ जहाँ कथात्मकता की दृष्टि से क्षीण हो गयी हैं, वहाँ वे किसी भी भावी मार्ग को प्रशस्त करने में भी असमर्थ रहीं। यह हो सकता है कि इस युग की कतिपय कथा-कृतियों के विषय में यह कथन सत्य न हो कि वे चरित्र-चित्रण, कथा-रूप-विकास, वर्णन-शैली आदि की दृष्टि से निम्न कोटि की हैं, परन्तु अधिकांश उपन्यासों के विषय में यह सत्य है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। अवश्य इन सबसे जो लाभ हुआ वह यह था कि कथा-साहित्य का रूप निर्मित होने में सहायता मिली और वह कल्पना और यथार्थ की पगडंडियों से होता हुआ नये युग की ओर बढ़ सका।

इस युग के अधिकांश उपन्यासों में शिल्प-विकास का आधार ऐसी वृत्तियाँ हैं, जिनका सामाजिक यथार्थ से कोई संबंध नहीं है। ऐसी कथाओं में बहुत-से ऐसे प्रसंगों को समावेशित कर दिया जाता था, जो रोचक तो होते थे परन्तु उनके आधार पर कथात्मक प्रौढ़ता का निर्णय करना सरल नहीं है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतेन्दु युगीन उपन्यास-साहित्य कथा के रूपों की दृष्टि से जटिलताएँ लिये हुए नहीं है। इतना अवश्य है कि उन्हें उद्धरणों की भरमार करके बोझिल बनाया गया है, परन्तु जहाँ तक शिल्प-गत विशेषताओं से कथा को घुमा-फिराकर प्रस्तुत करने का प्रश्न है, उन्हें सीधे-सादे ढंग से ही, अधिकांशतः, सामने रखा गया है।

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' (डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ ३०२।

उपर्युक्त कथन से कुछ लोग असहमत भी हो सकते हैं। वे यह शंका व
सकते हैं कि जहाँ तक तिलिस्मी और ऐय्यारी आदि विषयों से संबंधित उपन्या
का संबंध है, उनमें कथानकों में जितनी जटिलता मिलती है, उतनी सम्भव
किसी अन्य प्रकार के उपन्यासों के कथानकों में भी। और इस युग के तिलिस
उपन्यासों का महत्व प्रचार की दृष्टि से तथा किसी सीमा तक साहित्यिक दृ
से भी कितना अधिक है यह सर्वविदित है। किन्तु स्थूल रूप से, इसका कार
यही बताया जा सकता है कि चूँकि उनसे किसी यथार्थ घटना का संबंध जोड़
आवश्यक नहीं समझा जाता था और मूलतः उनकी रचना में कल्पना का
योग होता था, अतः उनमें यदि कथा-वैचित्र्य, घटना-बाहुल्य तथा बुद्धि- कौश
बहुतायत से मिले, तो इसे कोई असामान्य बात नहीं समझनी चाहिए।

इस युग के उपन्यासों में कथा-विकास बहुत सरल और सादे ढंग से हुआ है
इसका कारण यह बताया जा सकता है कि उस समय तक कथा-विकास के रूपों व
न तो प्रचार ही था और न कलात्मक दृष्टि से कोई विकसित रूप उनके पास थे :
साहित्यिक विकास की परम्परा के रूप में उन्हें मिले थे। एक साधारण सी बा
किसी घटना से स्पष्ट हो गयी है, यह तक उपन्यासकार विश्वास नहीं कर सक
था। वह कथोपकथन का सहारा लेता था और पाठक को उसका बोध कराता था
कभी-कभी वह स्वयं उसमें उपस्थित होकर पाठकों को सम्बोधित करता था औ
उपन्यास के किसी विशेष स्थल के विषय में कोई आवश्यक बात स्वयं बताता था।

इस युग के उपन्यासों की शैली के विषय में एक बात यह भी ध्यान में रख
की है कि उसमें ऐसे तत्व बहुत कम मिलते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा स
कि शैली में ध्वन्यात्मकता का गुण है। उपन्यासकार ऐसा कभी अनुमान कर
नहीं प्रतीत होता कि कोई घटना पूर्ण रूप से वर्णित करने की आवश्यकता नहीं
और किसी कथा-संकेत से ही उसका आभास पाठकों को मिल गया होगा।

उपन्यास-कला के पूर्ण विकास के अभाव में यह भी आवश्यक था कि क
में अधिक से अधिक वर्णनात्मकता मिले। उपन्यासकार तृतीय पुरुष के रूप में क
का वर्णन करता चला जाता है कि कब क्या हुआ, किस समय किस पात्र ने क्
सोचा, क्या किया और ऐसा करने में उसकी चाल क्या थी। किसी भी विवरण व
वह छोड़ना नहीं चाहता और किसी और ढंग के अभाव में कम से कम उसव
वर्णन कर देना नितान्त आवश्यक समझता था। यद्यपि यह एक सामान्य बात

कि विविध वार्तालाप-दृश्यों के द्वारा भी बहुत कुछ कहा-समझाया जा सकता है। परंतु उपर्युक्त कुछ कारणों से ही उसमें कथोपकथन का बहुत अभाव है और कथोपकथन भी बहुत सरल ढंग के मिलते हैं।

स्वाभाविक गति से कथानक के विकास के लिए यह आवश्यक है कि कथा के जो आधार-चरित्र हैं, उनका विकास भी स्वाभाविक गति से ही हो। यदि ऐसा नहीं होता है तो न केवल पात्रों की दृष्टि से उपन्यास अशक्त रह जाता है, वरन् कथानक की प्रभावात्मकता की दृष्टि से भी। भारतेन्दु युग के उपन्यासों की विशेषताएँ तब तक स्पष्ट नहीं हो पाती हैं, जब तक लेखक स्वयं अपनी ओर से उनके विषय में कुछ न बताये। कहीं भी यदि वार्तालाप या किसी क्रिया द्वारा उनके विषय में कुछ पता चलता है, तो वह भी नगण्य ही होता है, क्योंकि ये कथोपकथन या घटनाएँ उनके चरित्र की विशेषताओं को प्रकट करने में असमर्थ रहती हैं।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि कथा-शिल्प से सम्बंध रखने वाले इन दोषों के औपन्यासिक कृतियों में आ जाने के क्या कारण हैं। उत्तर में, इसका जो सर्वप्रथम कारण बताया जाना चाहिए, वह है उपन्यासकारों के सिद्धांत और दृष्टिकोण का। जैसा कि इस युग के अधिकांश उपन्यासों के विषय में कहा जाता है, उनमें न केवल आदर्शवादी सिद्धांतों का आरोप मिलता है, वरन् पग-पग पर आदर्शवादी विचारों का पोषण भी। कहीं-कहीं तो किसी एक पूरी कृति की रचना के पीछे केवल किसी एक विचार के समर्थन या विरोध का उद्देश्य दिखायी पड़ता है। अपने वादगत दृष्टिकोण के कारण लेखक यह तक भूल जाता है कि वह अपनी रचना को किस प्रकार विकास की ओर अग्रसर कर रहा है तथा यह भी उसने अपने उद्देश्य के लिए जिस माध्यम को अपनाया है, उसकी भी कुछ मर्यादाएँ हो सकती हैं, एवं उन मर्यादाओं का निर्वाह कितना आवश्यक है।

विचार पूर्वक देखने पर यह ज्ञात होगा कि भारतेन्दु युगीन उपन्यास में अप्रौढ़ तत्वों के आधार पर जो आरोप लगाये जाते हैं, उनका आधार उपर्युक्त कुछ अभाव ही हैं। अन्यथा सम्भवत: उनका मूल्यांकन इतनी सामान्य भूमि पर न किया जाता। यों अप्रत्यक्ष रूप से इस युग के उपन्यास ने भावी उपन्यास की रूप-रेखा निर्धारित करने में बहुत योग दिया, परंतु इसके बावजूद इन युगों के उपन्यास-साहित्य में रचना की दृष्टि से कोई प्रत्यक्ष सम्बंध या प्रभाव खोजना कठिन है। यही कारण है कि यह धारणा सामान्य रूप से मान्य हो गयी है कि इस युग के उपन्यास-

साहित्य ने भावी उपन्यास के स्वरूप का कोई पूर्व-आभास नहीं दिया। दूसरा आरोप यह लगाया जाता है कि इस युग के उपन्यासकारों के सामने कोई उद्देश्य नहीं था। वास्तव में ये दोनों प्रकार के आरोप निराधार समझे जाने चाहिए। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस युग के उपन्यासों ने न केवल भावी उपन्यास का आभास दिया, वरन् उसकी रूप-रेखा भी क्या होगी, यह पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया। जहाँ तक दूसरे आरोप का, अर्थात् उपन्यासकारों की उद्देश्यहीनता का प्रश्न है, उससे भी सहमति का कोई कारण नहीं दिखायी देता। वास्तव में कलात्मक दृष्टि से अप्रौढ़ता आदि के तर्क तो किसी सीमा तक मान्य हो सकते हैं; परंतु उद्देश्य हीनता आदि के तर्क नहीं; क्योंकि इस युग के अधिकांश उपन्यासों की रचना सोद्देश्य हुई थी। किसी की रचना के पीछे आदर्शवाद की पुष्टि का उद्देश्य था, किसी के पीछे किसी सामाजिक कुरीति के विरोध का, तथा किसी के पीछे किसी नवीन विचार के समर्थन का। यों शैली की दृष्टि से इस युग के उपन्यासों का वर्गीकरण संगठनात्मकता के आधार पर भी किया जा सकता है। उत्तरकालीन भारतेन्दु युग में कथा को संगठित करके उसमें यथार्थ तत्वों की दृष्टि से अधिक से अधिक पूर्णता लाने का प्रयत्न किया गया।

कथा-काल की दृष्टि से जिस तत्व ने इस युग के शिल्प-विकास में योग दिया, वह है इस युग के उपन्यासों में सामयिकता की भावना का समावेश। इस युग तक यह मान्यता काफी प्रचलित थी कि कथा-साहित्य के क्षेत्र के अन्तर्गत प्राचीन, अर्वाचीन, मध्यकालीन, पौराणिक तथा काल्पनिक आख्यानों आदि की गणना ही की जानी चाहिए जिनसे युगीनता के तत्वों का कोई सम्बंध नहीं है। किसी सामयिक समस्या या परिस्थिति की छाया भी किसी औपन्यासिक कृति में पड़नी चाहिए, इसको स्वीकार नहीं किया जाता था। परंतु इस युग में किसी सीमा तक, इस प्रचलित मान्यता द्वारा निर्धारित सीमाओं को भंग किया गया और युगीन समस्याओं को कथा-साहित्य में प्रतिबिम्बित किये जाने की चेष्टा भी की गयी। इस प्रकार के नवीन तत्वों के समावेश ने स्वभावतः ही उसके शिल्प-रूप पर प्रभाव डाला और भावी-शिल्प-रूप का निदर्शन भी किया।

(३) भाषा

भाषा की दृष्टि से इस युग के उपन्यासों में पर्याप्त विविधता मिलती है।

विविध प्रवृत्तियों के अन्तर्गत आने वाले उपन्यासों, विविध भाषाओं के अनुवादों तथा विविध विषयों के उपन्यासों में अलग-अलग प्रकार की भाषा का व्यवहार हुआ है। यों इस युग में भाषा का स्वरूप-निर्धारण हो रहा था। अतः उसमें अधिक गुणों के मिलने की आशा नहीं करनी चाहिए, परन्तु भाषा के विकास की प्रारम्भिक अवस्था की दृष्टि से वह सफल ही कही जानी चाहिए। संक्षेप में, इस युग के उपन्यासों में प्रयुक्त भाषा के तीन रूप मिलते हैं—

(क) संस्कृत गर्भित (प्रवाहपूर्ण) भाषा—

इस युग के जिन उपन्यास लेखकों ने इस भाषा का व्यवहार किया है, उनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट तथा किशोरीलाल गोस्वामी आदि हैं। इस प्रकार की भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग अधिकता से हुआ है तथा उर्दू, अरबी और फारसी के शब्दों का यथासम्भव बहिष्कार हुआ है। आजकल की दृष्टि से भले ही ऐसी भाषा कृत्रिम अथवा ठेठ साहित्यिक प्रतीत हो, उस युग की दृष्टि से वह सर्वथा अकृत्रिम थी। इस प्रकार की भाषा के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

(अ) 'ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंक गृध्य नामक पर्वत से निकल अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य-जल से पावन करती, पूर्व समुद्र में गिरती है। इसी नदी के तीर अनेक जंगली गाँव बसे हैं। मेरा ग्राम इन सभों से उत्कृष्ट और शिष्ट जनों से पूरित है।'[1]

(आ) '...... ईश्वर के नियमानुसार मनुष्य जिस विषय में भूल करता है बहुधा उसको उसी विषय में दंड मिलता है। जो विद्वान दरिद्री मालूम होते हैं वह अपनी विद्या में निपुण हैं परंतु सांसारिक व्यवहार नहीं जानते अथवा जानबूझ कर उसके अनुसार नहीं बरतते। इसी तरह जो कुपढ़ धनवान दिखाई देते हैं वह विद्या नहीं पढ़े परंतु द्रव्योपार्जन करने और उसकी रक्षा करने की रीति जानते हैं।'[2]

१. 'श्यामा-स्वप्न' (ठाकुर जगमोहन सिंह), पृ० ४३५।
२. 'श्रीनिवास ग्रंथावली' (सं० डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ १९६।

(इ) 'यहाँ तक कि शीघ्र ही मोहल्लों में कोलाहल मच गया कि परमदुःख भंजन मिश्र से भी उत्तम कुलीन-विहीन राज्यमान्य तथा सुसम्मान्य व्यक्ति भी चार हो गये ? परन्तु प्यारे, राजनीति की पालिसी कौन समझ सकता है ? उस अवस्था में ऐसे अच्छे पुरुष पर किसकी करुणा दृष्टि नहीं पड़ती, सच है, सुपात्र का बड़ा आदर होता है।'[1]

(ई) 'कुसुम मर गई, पागल वसन्त भी मर गया और उन दोनों के मरने पर गुलाब ने भी अपनी जान देकर अपने पाप अर्थात् सपत्नी-वध और पति-हत्या का प्रायश्चित कर डाला।...... ....(पर) हा खेद ! भला हम आपसे यह पूछते हैं कि कुसुम या वसन्त ने धर्म, कर्म, समाज, लोक, परलोक, देश, विदेश, या किसी वियोगान्त प्रेमी विशेष का क्या बिगाड़ा है कि ये दोनों यों संसार से निकालकर बाहर किये जायँ, और जिन अर्थ-पिशाच नर-राक्षसों से धर्म-कर्म, संसार-समाज, देश-विदेश और व्यक्ति-विशेष का सत्यानाश हो रहा है, वे दुराचारी लोग मूँछों पर ताव फेरते हुए मार्कण्डेय बनकर दीर्घजीवी हों ? हा, धिक !!!'[2]

(ख) संस्कृत गर्भित (कृत्रिम) भाषा—

इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करनेवालों में देवीप्रसाद शर्मा तथा जैनेंद्र किशोर आदि उपन्यासकार हैं। इस वर्ग में आनेवाले उपन्यास 'कमलिनी', 'चतुर सखी' तथा 'सुन्दर सरोजिनी' आदि हैं। इन उपन्यासों की भाषा संस्कृत शब्दों की बोझिलता से आक्रांत है। इस भाषा में संस्कृत का आग्रह इतना तीव्र है कि नाक बहने के लिए 'नासिका रन्ध्र स्फीत हो रहा है।'[3] जैसी भाषा तक का प्रयोग किया गया है।

(ग) व्यावहारिक भाषा—

इस युग के उपन्यासों में एक तीसरे प्रकार की भाषा भी प्रयुक्त हुई है, जिसे सामान्य भाषा कहा जा सकता है। यह लगभग वैसी ही भाषा थी, जैसी जन-साधारण तथा व्यवहार में लायी जाती थी। इसमें संस्कृत के कुछ शब्दों के साथ ही अरबी, फारसी तथा अँग्रजी आदि विदेशी भाषाओं के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में

१. 'प्रणयिनी परिणय' (श्री किशोरीलाल गोस्वामी)।
२. 'कुसुम कुमारी' (श्री किशोरीलाल गोस्वामी)।
३. 'कमलिनी' (श्री जैनेंद्र किशोर)

मिलते हैं। इस भाषा का उपयोग करने वालों में गोपालराम गहमरी, देवकीनन्दन खत्री आदि उपन्यासकार प्रमुख हैं। इस भाषा के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(अ) 'हम कौन हैं और किस कुल में उत्पन्न हुए हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों की क्या, किसी का रोना हो पड़े, चलिए, जी बहलाने से काम है। अभी मैं इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ, वह जैन और वैदिक दोनों में बड़ा ही पवित्र दिन है। संवत् १६३० में मैं जब तेईस वर्ष का था, एक दिन खिड़की पर बैठा था, बसन्त ऋतु, हवा ठण्डी चलती थी। साँझ फूली हुई, आकाश में एक ओर चन्द्रमा, दूसरी ओर सूर्य, पर दोनों लाल-लाल, अजब समा बँधा हुआ, कसेरू, गँडेरी और फूल बेचने वाले सड़क पर पुकार रहे थे। मैं भी जवानी की उमंगों में चूर, जमाने के ऊँच-नीच से बेखबर, अपनी रसिकाई के नशे में मस्त, दुनिया के मुफतखोरे सिफारशियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था, पर इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली-भाँति पहचानता था।'[1]

(आ) 'जैसे अन्न प्राणाधार है परन्तु अति भोजन से रोग उत्पन्न होता है। लाला ब्रजकिशोर कहने लगे, देखिये परोपकार की इच्छा अत्यन्त उपकारी है परंतु हद से आगे बढ़ने पर वह भी फिजूलखर्ची समझी जायगी और अपने कुटुम्ब परिवारादि का सुख नष्ट हो जायगा। जो आलसी अथवा अधर्मियों की सहायता की तो उससे संसार में आलस्य और पाप की वृद्धि होगी। इसी तरह कुपात्र में भक्ति होने से लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जायँगे। न्यायपरता यद्यपि सब वृत्तियों को समान रखने वाली है, परन्तु इसकी अधिकता से भी मनुष्य के स्वभाव में मिलनसारी नहीं रहती, क्षमा नहीं रहती। जब बुद्धि वृत्ति के कारण किसी वस्तु के विचार में मन अत्यन्त लग जायगा तो और जानने लायक पदार्थों की अज्ञानता बनी रहेगी। आनुषांगिक प्रवृत्ति के प्रबल होने से जैसा संग होगा वैसा रंग तुरंत लग जाया करेगा।'[2]

(घ) उर्दू-प्रधान भाषा—

इस युग के कुछ उपन्यासों में ऐसी भाषा का प्रयोग किया गया है, जिसमें

१. 'एक कहानी : कुछ आप बीती कुछ जग बीती' (भारतेन्दु हरिश्चंद्र)।
२. 'परीक्षा-गुरु' (लाला श्रीनिवास दास)।

उर्दू के शब्दों की बहुलता है। लाला श्रीनिवास दास तथा श्री किशोरीलाल गोस्वामी की कृतियों से ऐसी भाषा के दो उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

(अ) 'मैं एक छोटे से मकान में रहता हूँ और जमीन का एक छोटा सा क़िता मेरे पास है। परन्तु ये मेरी जरूरत के लिए बहुत है और जरूरत से ज्यादा लेकर मुझको क्या करना है? मेरे सुख में किसी तरह का अन्तर नहीं आता मेरी इज्जत और धनवानों से बढ़कर है, मेरी नेकी मेरा धन है मैं चाहता तो अब तक बहुत सी दौलत इकट्ठी कर लेता परन्तु दौलत की अपेक्षा मुझको अपनी इज्जत प्यारी है इसलिए तुम अपनी दौलत अपने पास रक्खो और मेरी इज्जत मेरे पास रहने दो।''[1]

(आ) तारा—'जनाब शाहजादे साहब! अगर नाजनियाँ नाजोनखरे या रुखाई न जाहिर करें तो फिर आशिकों के सच्चे इश्क का जौहर क्यों कर मालूम हो।'[2]

संक्षेप में, इस युग के उपन्यासों में तीन प्रकार की भाषा की प्रधानता है, जो संस्कृत-गर्भित, व्यावहारिक तथा उर्दू-प्रधान है। कहीं-कहीं भाषा में संस्कृत के शब्दों की बहुलता मिलती है, जहाँ उसमें कृत्रिमता आ गयी है। अँग्रेजी के शब्द भी इस युग की भाषा में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु कहीं भी उनका प्रयोग बहुलता से नहीं मिलता।

---

१. 'श्रीनिवास ग्रंथावली' (सं० डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ २२४।
२. 'तारा' (श्री किशोरीलाल गोस्वामी)।

अध्याय ५

कथा-विकास की विविध पद्धतियाँ

कथा-विकास की विविध पद्धतियाँ

इस अध्याय में हम कथा-विकास की उन विविध पद्धतियों की चर्चा करेंगे, जो हिंदी-उपन्यास के विकास के इतिहास में लक्षित होती हैं। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि भारतेंदु-युग से लेकर प्रेमचन्दोत्तर-युग तक के हिंदी उपन्यास-साहित्य में कथा-विकास की निम्नलिखित पद्धतियाँ मिलती हैं—

१. कथात्मक पद्धति
२. काव्यात्मक अथवा भावात्मक पद्धति
३. नाटकीय पद्धति
४. विश्लेषणात्मक पद्धति
५. फ्लैश-बैक पद्धति

(१) कथात्मक पद्धति

हिंदी-उपन्यास के विकास में कथात्मक पद्धति सर्वप्रमुख रही है। यह उपन्यास-साहित्य के विकास के प्रत्येक युग में ही प्रमुखता से मिलती है, यद्यपि सदैव इसके किन्हीं भिन्न-भिन्न रूपों की ही प्रधानता दिखायी देती है। कथात्मक पद्धति के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

(क) रहस्यात्मक पद्धति
(ख) लोक-कथात्मक पद्धति
(ग) प्रेमाख्यानात्मक पद्धति
(घ) आत्म-कथात्मक अथवा आत्म-विश्लेषणात्मक पद्धति
(ङ) सामान्य वर्णनात्मक पद्धति

(क) रहस्यात्मक पद्धति—

इस पद्धति का प्रारम्भिक रूप तिलिस्मी उपन्यासों में मिलता है। इस दृष्टि से यहाँ सर्वप्रथम देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों का नाम लिया जाना चाहिए। स्रोत की दृष्टि से इस पद्धति का प्रारम्भ फारसी कहानियों से आया। खत्री जी के 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता सन्तति' में उसी के प्रभावस्वरूप तिलिस्मों की रचना की गयी प्रतीत होती है। सर्वप्रथम किसी प्रकार की प्रेम सम्बंधी समस्या को प्रस्तुत कर दिया जाता है, फिर उसका विकास होता है और प्रेम-पात्री की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न कराये जाते हैं। इसी मध्य भाग में अनेक प्रकार के षड्यन्त्रों की भी रचना होती है और प्रेमी को अनेक विपत्तियों में फँसना पड़ता है। अन्त में, प्रेमी से प्रेमिका के मिलन के साथ कथा की समाप्ति होती है, जब वे सभी प्रकार के तिलिस्मों को तोड़कर उनको विजित कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, देवकीनंदन खत्री लिखित 'चंद्रकांता' में एक युवती से दो व्यक्ति प्रेम करते हैं। उसके दोनों प्रेमियों के पारस्परिक संघर्ष के ही आधार पर इसकी कथा का विकास हुआ है।

इस पद्धति की विकास-परम्परा में आगे चलकर जादूगरी से भरी हुई कथाएँ मिलती हैं। इस प्रकार की रचनाओं में 'जादू का महल'[1] नामक कथा-कृति का उल्लेख किया जा सकता है, जिसकी रचना निहालचंद वर्मा ने की थी। इसमें सभी वस्तुएँ जादू की शक्ति से परिचालित होती हैं। 'अलादीन और चिराग वाला देव' जैसी कई घटनाएँ भी इसमें मिलती हैं। उदाहरण के लिए जैसे अलादीन वाली कथा में अलादीन के चिराग रगड़ने पर जिन उपस्थित हो जाता था, उसी प्रकार इसमें माया नामक जादूगरनी के जमीन पर अपना पैर पटकने से एक असाधारण आकृति का मनुष्य उसके सामने प्रस्तुत होता है और जो अलादीन के जिन की भाँति ही किसी प्रकार की भी आज्ञा का पालन करने में समर्थ होता है।

परवर्ती युगों में जासूसी कथाओं के रूप में इस पद्धति का विकास हुआ। इस दृष्टि से दुर्गाप्रसाद खत्री लिखित 'लाल पंजा' तथा 'रक्तमंडल', जयराम गुप्त लिखित 'राजदुलारी', 'हत्या का रहस्य', 'प्रेम की लाश' तथा 'जासूस की जवानी' आदि कुछ प्रतिनिधि रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

१. प्रकाशन-काल—सन् १६१५।

उपर्युक्त कथा-पद्धति की जिन उपन्यासों में प्रमुखता है, उनमें कहीं-कहीं राष्ट्रीय और क्रांतिकारी भावनाओं का भी समावेश मिलता है। ये कथा-विकास में योग की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इनसे उसके प्रवाह में बाधा नहीं आती है और किसी न किसी नवीन सनसनीखेज घटना का सूत्र इनके द्वारा उपजता है। उदाहरण के लिए दुर्गाप्रसाद खत्री लिखित 'रक्तमंडल' में गोपाल शंकर का यह कथन प्रस्तुत किया जा रहा है—'मेरे मन में उस समय तक, और ईश्वर जानता है कि मैं सत्य कहता हूँ, यह विश्वास था कि अँग्रेजों का हमारे देश में आना हमारे जगत् के और समय के कल्याण का कारण हुआ है। मगर आज मेरी विचार-धारा बदल गयी है और मैं सोचने लगा हूँ कि यह सब खेल आपका नहीं जमाने का है और मेरे यहाँ मुल्क में जो कोई भी होता, हिंदू, मुसलमान या ईसाई, वही जमाने की चपेट में पड़कर वैसी ही उन्नति करता जो आप लोगों ने यहाँ आकर इस देश में की है। माफ कीजियेगा, उस समय के और आज के मेरे दृष्टिकोण में अंतर पड़ गया है और अभी हाल ही में जो शासन-प्रणाली के परिवर्तन आपने किये हैं उनकी ओर देखता हुआ मैं सोचने लगा हूँ कि क्या मैंने 'भयानक चार' का विरोध कर गलती तो नहीं की? अगर अपने अद्भुत अस्त्र-शस्त्रों की मदद से त्रिकंटक एशिया को स्वतंत्र करते हैं तो मुझे उनके मार्ग में बाधक होने का कोई कारण नहीं है, लेकिन अगर वे अत्याचार करेंगे, उसकी मदद से खुद अपना एक राज्य कायम करने की चेष्टा करेंगे तो आप विश्वास रखें, माई लार्ड, कि मेरे यंत्र, मेरी बुद्धि, मेरा शरीर, आगे बढ़ेगा और उनके मार्ग का बाधक होगा।'[1]

(ख) लोक-कथात्मक पद्धति—

हिन्दी-उपन्यास की प्राचीनतम पद्धति लोक-कथात्मक पद्धति है। उसका उद्गम मानव-समाज में सभ्यता के आरम्भ के साथ ही हुआ था, जब समाज के अनेक व्यक्ति एक साथ बैठकर मौखिक रूप से अपने मनोरञ्जन के लिये कथा-कहानियाँ सुनते-सुनाते थे। इस पद्धति के आदि रूप उस समय के हैं, जब सबसे पहले इस प्रकार की लोक-कथाओं को लिपि-बद्ध किया गया होगा। अधिकांशतः ये कहानियाँ राजा-रानी, भूत-प्रेत, परी-राजकुमार आदि के आधार पर रची जाती थीं। लिपि का प्रचार होने पर जब इन्हें भाषा में लिखा गया, तब विषय की दृष्टि

१. 'रक्त मंडल' (श्री दुर्गाप्रसाद खत्री)।

से भी इनका विस्तार हुआ। उस समय इनमें अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों तथा साहसिक विषयों को भी समावेशित कर लिया गया। इस कोटि के अन्तर्गत आने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्य जातक-साहित्य है। रूप-गठन की दृष्टि से इसमें कुछ विशिष्ट तत्त्व मिलते हैं। इन कथाओं के प्रारम्भ, मध्य और अन्त आदि एक विशेष परिपाटी में मिलते हैं। ये कथाएँ प्राय: चार खण्डों में विभक्त होती हैं— (१) पच्चुपन्न वत्थु कथा अर्थात् वर्तमान कथा, (२) अतीत वत्थु अर्थात् अतीत कथा, (३) अत्थ वणाना अर्थात् कथा-व्याख्या और (४) समोधान अर्थात् अन्त।

इसका दूसरा रूप 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' में मिलता है। इनमें एक कथा से दूसरी कथा का सूत्र निकलता जाता है। एक कथा समाप्त होने पर कोई ऐसी बात कह दी जाती है, जिसका उस कथा से कोई संबंध नहीं होता है। तब कोई प्रश्न करता है कि यह कैसे हुआ। और उत्तर में अगली कहानी का आरंभ होता है। उदाहरण के लिए 'पंचतंत्र' में 'मित्र-भेद' की प्रथम कथा 'अनधिकार चेष्टा' के अंत में दमनक कहता है—

'स्वामी! ऊँचे शब्द मात्र से भय करना युक्ति-युक्त नहीं है। ऊँचे शब्द तो अनेक प्रकार के होते हैं। भेरी, मृदंग, पटह, शंख आदि अनेक वाद्य हैं जिनकी आवाज बहुत ऊँची होती है। उनसे कौन डरता है? यह जंगल आपके पूर्वजों के समय का है। वह यहीं राज्य करते रहे हैं। उसे इस तरह छोड़कर जाना ठीक नहीं। ढोल भी कितनी जोर से बजता है। गोमायु को उसके अंदर जाकर ही पता लगा कि वह अंदर से खाली था।

'पिंगलक ने कहा—'गोमायु की कहानी कैसे है?'

'दमनक ने तब कहा—'ध्यान देकर सुनिए—'[1]

इसी प्रकार 'हितोपदेश' में भी कथा के अंत में दूसरी कथा का सूत्र-संकेत कर दिया जाता है और फिर प्रश्न के उत्तर-रूप में नयी कथा का प्रारंभ होता है। एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

१. 'पंचतंत्र' (रूपान्तरकार, श्री सत्यकाम विद्यालंकर), पृष्ठ २१।

'दीर्घकर्ण—इसके बाद वे बोले—मूर्ख बगले ! तू हमारे राज्य में ही विचर रहा है और हमारी ही बुराई करता है। यह कहकर वे मुझे अपनी चोंचों से मारने लगे और बोले—बगुले ! सुन, तेरा राजा भी तो बहुत कोमल है ? वह अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता फिर राज्य की क्या रक्षा करेगा। तू तो मूर्ख है ! यदि किसी वृक्ष के नीचे ही रहना है तो कोई भारी वृक्ष खोजना चाहिए। क्योंकि यदि भाग्यवश वह फल न दे सका तो क्या ? उसकी छाया तो कोई नहीं छीन लेता ? किस राजहीन के राज्य में तू रहता है ? सदा किसी पराक्रमी राजा के आश्रय में रहना चाहिए; क्योंकि सिंह की अनुकंपा से प्रायः बकरी भी वन में निश्चिंत घूमती है। और फिर बड़े आदमियों का तो नाम भी बड़ा होता है। देखो चंद्रमा के नाम-मात्र से खरगोशों ने हाथी से अपनी रक्षा की।

'मैंने पूछा—कैसे ?

'एक पक्षी बोला—सुनो !'[1]

आधुनिक युग में इस पद्धति का प्रयोग जिन उपन्यासों में मिलता है, उनमें रामदास वैश्य लिखित 'धोखे की टट्टी'[2], डा० धर्मवीर भारती लिखित 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', केशवचंद्र वर्मा लिखित 'काठ का उल्लू और कबूतर', देवेन्द्र सत्यार्थी लिखित 'कठपुतली', नागार्जुन लिखित 'बाबा बटेसरनाथ' तथा शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' लिखित 'बहती गंगा' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

'धोखे की टट्टी' में कथाकार ने कथाओं के तारतम्य के बीच-बीच में, पाठकों को संबोधन करके आगे की कथा कही है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में निम्नमध्यवर्गीय समाज की पृष्ठभूमि पर माणिक मुल्ला के यहाँ सात कहानियाँ सुनवायी हैं, जिन्हें सूत्रबद्ध करके उपन्यास का रूप दिया गया है। इसकी सबसे पहली कथा के आरंभ में ये पंक्तियाँ हैं—'उन्होंने सबसे पहली कहानी एक दिन गर्मी की दोपहर में सुनाई थी जब हम लोग लू के डर से कमरा चारों ओर से बन्द करके सर के नीचे भीगी तौलिया रक्खे चुपचाप लेटे थे और मैं अपनी आदत के मुताबिक कोई किताब पढ़ने की कोशिश कर रहा था। माणिक ने मेरी किताब

१. 'हितोपदेश' (भाषान्तरकार, श्री आनंद), पृष्ठ ९३।
२. प्रकाशन-काल—सन् १९०६।

छीनकर फेंक दी और बुजुर्गाना लहजे में कहा—'यह लड़का बिल्कुल निकम्मा निकलेगा। मेरे कमरे में बैठकर दूसरों की कहानियाँ पढ़ता है। छिः बोल कितनी कहानियाँ सुनेगा।' सभी उठ बैठे और माणिक मुल्ला से कहानी सुनाने का आग्रह करने लगे।'[1]

'काठ का उल्लू और कबूतर' में एक कबूतर एक तूफानी रात में एक मकान के रोशनदान से भीतर घुसता है, जहाँ कमरे में ताख पर एक काठ का उल्लू रखा होता है। वे दोनों पारस्परिक वार्तालाप में अनेक कथाएँ कहते हैं, जिनसे एक के बाद एक करके सूत्र रूप में दूसरी कहानी का जन्म होता है। 'बाबा बटेसरनाथ' में उपन्यासकार ने कथा-वस्तु के पात्र-आधार के रूप में एक वट वृक्ष को प्रतिष्ठित किया है, जो एक गाँव की चार पीढ़ियों तक की कथा कहता है। 'बहती गंगा' में सत्रह तरंगें हैं, जो एक-दूसरे से अलग और स्वतंत्र होते हुए भी धारा और तरंग-न्याय से आपस में बँधी हुई हैं।

(ग) प्रेमाख्यानात्मक पद्धति—

इस पद्धति का आरम्भ मध्यकालीन युग से हुआ। इसके अन्तर्गत इस युग की 'पद्मावती', 'मृगावती' तथा 'मधुमालती' आदि रचनाएँ आती हैं। इस कथा-परंपरा की एक महत्वपूर्ण कृति 'माधोनल' या 'माधवानल'[2] है। ग्रियर्सन के ग्रंथ में इसकी कथा का सार इस प्रकार दिया हुआ है—'पुष्पावती नगरी (मध्यप्रदेश के बिलहरी का पुराना नाम) में संवत् ६१७ या ८६२ ई० में राजा गोविंद राव शासन करता था। उसके यहाँ एक अत्यन्त सुंदर ब्राह्मण नौकर था, जिसका नाम माधवानल था, जो नाचने-गाने में विशेष रूप से प्रवीण था, साथ ही अन्य सभी कलाओं और विज्ञान में भी दक्ष था। इसलिए सभी रमणियाँ उसके प्रेम में पड़ जाती थीं। उनके पतियों ने राजा से शिकायत की और माधवानल पुष्पावती से निर्वासित हो गया। वह राजा कामसेन की राजधानी कामवती चला गया। राजा वाद्य और संगीत का प्रेमी था। उसने इस ब्राह्मण को अपने दरबार में स्थान दे दिया। राजा के पास एक बहुत ही खूबसूरत वेश्या कामकंदला नाम की थी। माधवानल इसके प्रेम में पड़ गया। इसके लिये यह कामवती से भी

१. 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (डा० धर्मवीर भारती), पृष्ठ २५।
२. प्रतिलिपि-काल—सन् १५३०।

निकाला गया। तब यह उज्जैन गया। वहाँ का राजा विक्रमादित्य याचकों की प्रत्येक प्रार्थना स्वीकार कर लेने के लिये प्रसिद्ध था। इस राजा से माधवानल ने याचना की। राजा ने प्रार्थना पूरी करने का वचन दिया। तब ब्राह्मण ने कामकंदला उसे दिलवा देने की प्रार्थना की। तदनुसार विक्रमादित्य ने कामवती को घेर लिया। कामकंदला पकड़ी गयी और तत्काल माधवानल को दे दी गयी। कुछ दिनों के अनंतर विक्रम की आज्ञा से, यह सुखी दंपति, पुष्पावती को लौट आया, जिसके खँडहर अब भी दिखाये जाते हैं।' (देखिए रिपोर्ट आफ आर्केआलोजिकल सर्वे आफ इडिया, भाग ६, पृष्ठ ३७।'[1]

आगे चलकर, इसी पद्धति में भारतेन्दु-युग के किशोरीलाल गोस्वामी ने 'कुसुम कुमारी'[2] तथा 'अँगूठी का नगीना' आदि उपन्यासों की रचना की। इन रचनाओं में कथा के प्रारम्भ में, एक ही शैली अपनायी गयी है। नायक और नायिका के हृदयों में पारस्परिक प्रेम-भावना का उदय सदैव आकस्मिक रूप से होता है। कथा के मध्य भाग में संघर्ष होता है, और दोनों को ही अनेक प्रकार की सामाजिक तथा पारिवारिक प्रताड़नाओं का सामना करना पड़ता है तथा अन्त में उनके मिलन के साथ ही कथा की समाप्ति होती है।

इस वर्ग में आने वाली कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जिन पर फारसी साहित्य का प्रभाव मिलता है। 'शीरीं-फरहाद' इस कोटि का एक प्रसिद्ध आख्यान है, जिसमें नायक के सामने यहाँ तक शर्त रख दी जाती है कि यदि वह अपनी प्रेमिका को प्राप्त करना चाहता है, तो अमुक पहाड़ खोद डाले या अमुक असम्भव कार्य कर दे। इस दृष्टि से रामलाल वर्मा लिखित 'गुलबदन'[3] एक उल्लेखनीय कृति है।

(घ) आत्म-कथात्मक अथवा आत्म-विश्लेषणात्मक पद्धति—

इस पद्धति का आरम्भ भारतेन्दु-युगीन उपन्यासकार ब्रजनन्दन सहाय लिखित 'सौन्दर्योपासक'[4] नामक उपन्यास से हुआ। 'सौन्दर्योपासक' एक पात्र की

१. डा० अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन कृत 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' अनु० श्री किशोरीलाल गुप्त, पृष्ठ २७८।

२. प्रकाशन-काल—सन् १८८९।

३. प्रकाशन-काल—सन् १९२३।

४. प्रकाशन-काल—सन् १९११।

जीवन-कथा है, जिसमें उसने अपने सौन्दर्य-प्रेमी मन की अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया है। परन्तु यह उपन्यास एक असफल कृति सिद्ध हुआ। वास्तव में इस शैली का विकास आधुनिक युग में ही हुआ, क्योंकि इसी युग में इस पद्धति के कलात्मक दृष्टि से विकसित रूपों का प्रादुर्भाव हुआ।

आधुनिक युग में यह शैली सर्वप्रथम प्रौढ़ रूप में जैनेन्द्र कुमार के 'त्यागपत्र' में मिलती है। इसमें यह शैली आत्म-संस्मरणात्मक तत्व का आधार लेकर प्रस्फुटित हुई है। उपन्यासकार कथा के नायक को अन्त में यह कहते दिखाता है—'बात को क्यों बढ़ाऊँ। उसमें मेरी ही कापुरुषता बढ़ी हुई दीखेगी। सार यही कि मैं उनको नहीं ला सका। पथ्य आदि की भी कोई विशेष व्यवस्था कर सका, यह भी नहीं कह सकता।........चला आया कि फिर नहीं गया और आकर ऐसा वकालत में चिपट गया कि किसी बात के लिए आँखें खुली न रहें, कुछ भी और न देखें। अपने सामने के स्वार्थ को देखें और बस।.......पर क्यों? क्यों बुआ की माँग मुझसे पूरी नहीं हुई? उन्होंने इतना प्रेम किया, इतना विश्वास किया और जब एक सवाल मुझसे किया तब उसके जवाब में अपना धन मुझसे क्यों नहीं बहा डाला गया? क्यों मेरी मुट्ठी मिंच गयी? यह भी हुआ, तो फिर क्यों उसके बाद मेरी आत्मा ताप से सन्तप्त नहीं रही? क्यों? क्यों?..........इस क्यों का उत्तर अब मैं देता हूँ। उत्तर है कि—मैं क्षुद्र था।'[1]

परन्तु इस शैली का प्रौढ़तम रूप स्मृति-परक-आत्म-कथात्मक शैली में मिलता है। इस दृष्टि से इस कोटि में आने वाली रचना 'शेखर: एक जीवनी' है। एक जगह इसमें नायक कहता है—'मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूँ क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने हैं, किंतु एक सीमा ऐसी आती है, जिससे आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी बनाये नहीं रह सकता—उस दिन का भोगने वाला और आज का वृत्तकार दोनों एक हो जाते हैं, क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का तो अर्थ है; और जो सूत्र मुझे पकड़ने हैं, खोजने हैं, उनके प्रति मैं अनासक्त नहीं हूँ, नहीं हूँ।'[2]

१. 'त्यागपत्र' (श्री जैनेन्द्र कुमार), पृष्ठ ९७।
२. 'शेखर: एक जीवनी' (श्री 'अज्ञेय'), भाग २, पृष्ठ २४४।

इस पद्धति का एक रूप मनोविश्लेषण का आधार लेकर भी विकसित हुआ है। इलाचंद्र जोशी के सभी उपन्यासों में प्रायः इसी का प्रयोग हुआ है। 'लज्जा' नामक उपन्यास से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—'इसके अतिरिक्त मैं आज एक नयी और अनोखी वेदना का अनुभव कर रही थी। इस वेदना का संबन्ध राजू से था। मेरे मन में यह भावना रह-रहकर जागरित हो रही थी कि मेरा भाई राजू, जो पहले मुझे अपने प्राणों से भी अधिक चाहता था और अब उपेक्षा (संभवतः घृणा) की दृष्टि से देखता है, एक दुःखी घर के दुख का साक्षी होकर श्मशान को गया है—मेरा प्यारा भाई इतनी छोटी अवस्था में आमोद-प्रमोद से रहित होकर गम्भीर भावनाओं में निमग्न रहकर असंख्य मनुष्यों से पूर्ण इस संसार में निःसंग जीवन बिताकर स्वेच्छा से दुख और कर्तव्य के गहन कंटकमय पथ में भ्रमण कर रहा है। इस भावना से मेरे मन में एक तरफ तो गर्व, करुणा और स्नेह का उद्रेक हो रहा था और दूसरी तरफ प्रतिहिंसा और मान के भाव से मेरी छाती फूल उठती थी। एक बार मैं सोचती—'क्या मैं सचमुच राजू की उपेक्षा और घृणा के योग्य हूँ ? क्या मैं इतनी हीन हूँ ? क्यों वह मेरा स्नेह स्वीकार करना नहीं चाहता ?' और यह सोचते-सोचते मैं क्रोध से काँपने लगती और रोना चाहती। पर फिर उसी दम मेरे मन में यह विचार उत्पन्न होता कि मैं वास्तव में नीच और घृणित हूँ और राजू की बहिन कहलाने योग्य नहीं हूँ। अपनी मानसिक वृत्ति की हीनता की कल्पना करके अवसाद और क्लांति के भार से मेरा हृदय दब जाता था।'[1]

इसी शैली का एक और रूप मिलता है, जिसे स्व-रहित-आत्म-कथात्मक शैली कहा जा सकता है। इसमें पात्र कथा तो स्वयं कहता है, परन्तु उपन्यास में उसका प्रमुख स्थान नहीं होता। इस पद्धति का एक उदाहरण 'कल्याणी' से यहाँ दिया जा रहा है—'पर अपने सम्बन्ध में उन्हें समाधान नहीं था। जान पड़ा कि उनको खयाल है कि उमर व्यर्थ बीतती जा रही है। रह-रहकर उन्हें अपने उन सपनों की याद होती थी जो कालिज में पढ़ने के वक्त उनके मन में झूमा करते थे। उनकी बातों से आभास मिलता था कि उनके गिरिस्ती न होती तो वह डाक्टरी से कमाई न करतीं। उन्होंने कहा कि अगर उन्हें नया जन्म मिले तो वह अपने को

१. 'लज्जा' (श्री इलाचंद्र जोशी), पृष्ठ ११९।

इंकार करके न चलें, फिर चाहे उसका कुछ भी परिणाम आगे हो। वह जीवन का आरंभ जैसे नये सिरे से करना चाहती थीं और प्रस्तुत जीवन को गलत शुरू हुआ समझकर मानों उसे यहीं खत्म हुआ देखना चाहती थीं।''[1]

निष्कष रूप में यह कहा जा सकता है कि यह शैली आधुनिक कथा-साहित्य की एक विशिष्ट शैली है। मनोविश्लेषण के आधार पर इसमें जिन तत्वों का समावेश हुआ है, उनसे इसे विशेष बल मिला है। इस पद्धति में उपन्यासकार अपनी सहानुभूतियों को एक नये ढंग से अभिव्यक्त करता है। वह उसकी अभिव्यक्ति के बाह्य उपकरण भी स्वीकार करता है तथा आंतरिक उपकरणों का भी आश्रय लेता है। ये अनुभूतियाँ अनेक कोटियों की होती हैं। वह जीवन के विविध पक्षों का अपने दृष्टिकोण से आलोड़न करता है और प्रतीकों का आश्रय लेकर अपनी मान्यताओं को पात्रों के जीवन-व्यापार के रूप में प्रस्तुत करता है।

(ङ) सामान्य वर्णनात्मक पद्धति—

यह पद्धति उपन्यास की सबसे अधिक प्रचलित पद्धति है। इसमें उपन्यासकार का स्थान एक कथाकार जैसा होता है, जो निर्लिप्त भाव से कथा का वर्णन करता चला जाता है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि यह शैली सबसे अधिक प्राचीन और सबसे अधिक प्रचलित होते हुए भी कोई नवीन रूप न ग्रहण कर सकी। इस पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें उपन्यासकार का कार्य अपेक्षाकृत सुविधाजनक हो जाता है और कथा की वर्णनात्मक वर्णन की सम्भावनाएँ भी अधिक रहती हैं। चरित्र-चित्रण की सफलता की अधिक आशा भी इसी पद्धति के माध्यम से सम्भव है। भारतेन्दु-युग के प्रथम मौलिक उपन्यासकार श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास से इस शैली का एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

'मदन मोहन का पिता पुरानी चाल का आदमी था। वह अपना बूना देखकर काम करता था और जो करता था वह कहता नहीं फिरता था। उसने केवल हिंदी पढ़ी थी, वह बहुत सीधा-सादा मनुष्य था परन्तु व्यापार में बड़ा निपुण था........ वह लोगों की देखादेखी नहीं, अपनी बुद्धि से व्यापार करता था.... ....इस समय

१. 'कल्याणी' (श्री जैनेंद्र कुमार), पृ० १३।

जिस तरह बहुधा मनुष्य तरह-तरह की बनावट और अन्याय से औरों की जमा मारकर साहूकार बन बैठते हैं सोने-चाँदी की जगमगाहट के नीचे अपने घोर पापों को छिपा कर सज्जन बनने का दावा करते हैं......ऐसा उस्ने नहीं किया था........ वह आप कभी बढ़कर न चला। वह कुछ तकलीफ से नहीं रहता था, परन्तु लोगों को भूँठी भड़क दिखाने के लिए फिजूलखर्ची भी नहीं करता था.......वह अपने धर्म पर दृढ़ था ईश्वर में बड़ी भक्ति रखता था.......वह अपने काम-धन्धे में लगा रहता था इसलिए हाकिमों और रईसों से मिलने का उसे समय नहीं मिल सकता था..........बहुधा उनसे मिलने की कुछ आवश्यकता भी न थी क्योंकि देशोन्नति का भार पुरानी रूढ़ि के अनुसार केवल राजपुरुषों पर समझा जाता था।'[१]

आधुनिक युग के उपन्यासकारों में इस शैली में लिखने वालों में सर्वश्रेष्ठ प्रेमचन्द जी हैं। उन्होंने इस शैली के माध्यम से केवल वर्णनात्मक दृश्यों को ही प्रभावशाली रूप में नहीं प्रस्तुत किया है, वरन् चरित्र - विश्लेषण का भी कार्य किया है। उदाहरण के लिए 'प्रेमाश्रम' से एक उदाहरण देखिए—'गायत्री उन स्त्रियों में न थी जिनके लिए पुरुष का हृदय एक खुला हुआ पृष्ठ होता है। उसका पति दुराचारी था, पर गायत्री को उस पर सन्देह नहीं हुआ। ....वह अभी तक आध्यात्मिक श्रद्धा से उसकी स्मृति की आराधना किया करती थी। उसका निष्फल हृदय वासनायुक्त प्रेम के रहस्यों से अनभिज्ञ था। साथ ही सगर्वता उसके स्वभाव का प्रधान अंग थी। वह अपने को उससे कहीं ज्यादा विवेकशील और मर्मज्ञ समझती थी जितनी वह वास्तव में थी। उसके मनोवेग और विचार जल के नीचे बैठनेवाले नहीं, सतह पर तैरनेवाले बुलबुले थे।.......वह हँसमुख, विनयशील, सरल हृदय, विनोद प्रिय रमणी थी जिसके हृदय में लीला और क्रीड़ा के लिए कहीं जगह न थी।'[२]

इसी शैली का एक उदाहरण श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'सूनी राह' से यहाँ दिया जा रहा है। सामान्य वर्णन में चित्रण की सूक्ष्मता लाने की दृष्टि से इसे महत्व का कहा जा सकता है—'उसका कुरता भीगकर बदन से चिपक गया है। चश्में के दोनों लैंसों पर क्रमागत बूँदों का प्रगल्भ प्रक्षालन जब उसके

१. 'श्रीनिवास ग्रन्थावली' (सं० डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ ३०८।
२. 'प्रेमाश्रम' (प्रेमचन्द)।

लिए दुर्वह हो गया, तब उसने उसे जेब में रख लिया। इसी क्षण पीछे से कार का हार्न सुनाई पड़ा; उसका ज्वलंत प्रकाश भी उसके आगे-आगे दौड़ने लगा। निखिल बाईं ओर को कुछ और मुड़ गया। कार निकल गई। और साथ ही उसमें बैठे दंपति की क्षीण झलक भी दूर होती हुई अदृश्य हो गई। निखिल धीरे-धीरे अतिशय उन्मन होने लगा। रेलवे का पुल पार करते-करते साइकिल कुछ और मन्द पड़ गई। बस आगे ही कुएँ से उसे अपने घर की ओर मुड़ जाना है। पानी बरसना तो बंद हो गया है, किंतु सड़क पर बहते पानी की, एक ओर को वेगाकुल, कुलकुलाती हुई धाराएँ उसके सामने आ जाती हैं।'[1]

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नवीनतम उपन्यास 'पत्थर-अल-पत्थर' में उपर्युक्त शैली पर्यवेक्षणात्मक रूप में मिलती है। इसी उपन्यास से एक उदाहरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—'बड़ी ही छोटी बगिया में से होते, नाले पर बने छोटे-से लकड़ी के पुल को पार करते और एक दृष्टि नाले की उथली, लेकिन समतल तह में बिखरी बजरी पर डालते हुए, जिसके कारण वह सरकती चादर-सा लगता था, दोनों होटल के बरामदे में गये, और हसनदीन भागकर बैरे को बुला लाया।...... नाले के पार सामने बरांडे में ही तीन और चार नंबर के कमरे खाली थे। खन्ना साहब ने पँहले तीन नंबर का कमरा देखा—लकड़ी के फर्श पर मैली-सी दरी बिछी थी और अँगीठी के नीचे चारपाई पड़ी थी। एक चारपाई इधर दीवार से लगी थी। एक छोटी-सी मेज-कुर्सी भी थी। कमरा बहुत बड़ा नहीं था। बाथरूम साथ ही था। उसका फर्श भी लकड़ी का था। बाहर के कमरे से वह बड़ा था अथवा खाली था, इसलिए बड़ा लगता था।'[2]

(२) काव्यात्मक अथवा भावात्मक पद्धति

कथा-विकास की काव्यात्मक अथवा भावात्मक पद्धति अपने तीन रूपों में प्रस्फुटित हुई मिलती है—

१. 'सूनी राह' (श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी), पृष्ठ १।
२. 'पत्थर-अल-पत्थर' (श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क'), पृष्ठ ६०।

(क) वीर-काव्यात्मक पद्धति

(ख) रीति-काव्यात्मक पद्धति

(ग) भाव-प्रधान काव्यात्मक पद्धति

(क) वीर-काव्यात्मक पद्धति—

काव्यात्मक अथवा भावात्मक पद्धति का यह रूप आरम्भ में 'रानी केतकी की कहानी', 'आल्हा-ऊदल की कथा' तथा 'गोरा-बादल की कथा' आदि में मिलता है। स्पष्ट ही, इन कृतियों का प्रधान रस वीर है, जो वीर-काव्य के अन्तर्गत आनेवाले साहित्य के प्रभाव-स्वरूप आया है। इस पद्धति में वीरता की भावनाएँ बहुलता से अभिव्यक्त हुई मिलती हैं। इनके नायक या तो कोई प्रेमी-प्रेमिका और या स्वदेश के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर देनेवाले होते हैं।

आधुनिक युग में यह पद्धति अपने समन्वित रूप में प्रधानतः ऐतिहासिक उपन्यासों में ही मिलती है। इसका आधार शौर्य, वीरत्व और ओज की भावनाएँ हैं। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' से एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—'१५ जून को सबेरे ब्रिगेडियर स्मिथ ने लड़ाई का बिगुल बजाया। लड़ाई आरम्भ हो गई। ब्रिगेडियर स्मिथ का आक्रमण कोटा की सराय से शहर पर होता था, पूर्व दिशा से, जहाँ लक्ष्मीबाई का मोर्चा था, जैसे ही अँग्रेजी सेना रानी की तोपों की मार के भीतर आई, रानी ने गोलंदाजों को संकेत दिया। गोलाबारी होते ही अँग्रेजी सेना की दुर्गत हुई और वह पीछे हटी। रानी के लाल कुर्ती सवारों ने तुरत छापा मारा। स्मिथ ने एक चतुर चाल खेली—उसने अपनी उस टुकड़ी को और अधिक पीछे खींचा और रानी के सवारों को आगे बढ़ने दिया। इन सवारों के ज्यादा आगे निकल जाने से उनका स्थान खाली हो गया। स्मिथ ने कई दिशाओं से रानी के मोर्चे पर आक्रमण किया। घमासान युद्ध हुआ। तलवार चली। लोहे ने लोहे से चिनगारियाँ छुटकाईं।'[१]

उपर्युक्त पद्धति वातावरण-चित्रण से समन्वित रूप में श्री यादवचंद्र जैन के

१. 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' (श्री वृन्दावनलाल वर्मा), पृष्ठ ४७८।

'उत्तरापथ' नामक उपन्यास में मिलती है। उदाहरण के लिए—"रात्रि विजयोन्माद एवं आल्हाद से परिपूर्ण हो गयी। वह मकदूनिया की विजय की मुस्कराहट थी जिस पर एथेन्स और थेबीज की पराजय का उदास अँधियारा घिर आया था और तब उस आकुलता की अलस-उपेक्षा में वे हर्षोन्मत्त सैनिक मदिरा में मत्त होकर किलकारियाँ भर रहे थे। सैनिक छावनियों में सर्वत्र खिलखिलाहट गूँज रही थी। मदिरा की उस उद्दीप्ति सहित मकदूनिया के उन लौहाच्छादित दुर्धर्ष सैनिकों की आकृतियों के अट्टहास में तिक्तता का कौतुक नर्त्तन कर रहा था। रात्रि के उस निविड़ अन्धकार में यत्र-तत्र कैम्पों में मशालें जल रही थीं जिनके प्रकाश में सैनिकों की संरक्षक पंक्ति के सेनानियों के चलने से हिलते-डुलते लौह-वस्त्रों की झन-झनाहट दूर तक एक चिड़चिड़ाहट उत्पन्न कर देती थी। उस पर मदिरा के उन्माद में उभरे सैनिकों के अट्टहास दिशाओं में कम्पन प्रकट कर रहे थे।"[1]

(ख) रीति-काव्यात्मक पद्धति—

कथा-विकास की इस पद्धति का विकास रीति-तत्वों के आधार पर हुआ। भावनाओं के साम्य और अभिव्यक्ति की दृष्टि से इस पर रीति-काव्य का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। भारतेंदु-युग में लिखे गये ऐसे उपन्यास बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं, जो विषय की दृष्टि से इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। उस युग के उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी लिखित 'कुसुमकुमारी', 'तारा' तथा 'अँगूठी का नगीना' और व्रजनन्दन सहाय लिखित 'राधा-कान्त' तथा 'राजेन्द्र मालती' आदि उपन्यासों में इसे देखा जा सकता है। आधुनिक युग तक आते-आते इस पद्धति का रूप परिवर्तित हो गया। अपने ठीक प्राचीन रूप में इसका आधुनिक उपन्यासों में अभाव-सा मिलता है।

(ग) भाव-प्रधान काव्यात्मक पद्धति—

भाव-प्रधान काव्यात्मक पद्धति आधुनिक युग की विविध प्रवृत्तियों के अंतर्गत आनेवाले उपन्यासों में आंशिक रूप से मिलती है, यद्यपि पूर्णतः इसी शैली में लिखे गये उपन्यासों की संख्या बहुत कम है। यों बहुलता से यह प्रवृत्ति भारतेंदु

१. 'उत्तरापथ' (श्री यादवचन्द्र जैन), पृष्ठ ११०।

युगीन उपन्यासों—ठाकुर जगमोहनसिंह कृत 'श्यामा-स्वप्न' तथा व्रजनन्दन सहाय कृत 'सौंदर्योपासक' आदि में लक्षित की जा सकती है।

जैसा कि अभी कहा गया, आधुनिक युग के उपन्यासों में आंशिक रूप से इसका समावेश हुआ है। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के लिखे हुए उपन्यास विशेष सफल बन पड़े हैं। 'गबन' से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—'चैत्र की शीतल, सुहावनी, स्फूर्तिमयी संध्या, गंगा का तट, टेसुओं से लह-लहाता हुआ ढाक का मैदान, बरगद का छतनार वृक्ष, उसके नीचे बँधी हुई गायें, भैंसे, कद्दू और लौकी की बेलों से लहराती हुई झोपड़ियाँ; न कहीं गर्द न गुबार, न शोर न गुल, सुख और शांति के लिए क्या इससे भी अच्छी जगह हो सकती है? नीचे स्वर्णमयी गंगा लाल, काले, नीले आवरण से चमकती हुई, मंद स्वरों में गाती, कहीं लपकती, कहीं झिझकती, कहीं चपल, कहीं गंभीर अनंत अंधकार की ओर चली जा रही है मानों बहुरंजित बाल-स्मृति क्रीड़ा और विनोद की गोद में खेलती हुई, चिंतामय, संघर्षमय, अंधकारमय भविष्य की ओर चली जा रही है। देवी और रमा ने यहीं प्रयाग के समीप आकर आश्रय लिया है।'[1]

उपर्युक्त पद्धति का एक रूप आधुनिक युग के उपन्यासों में प्रकृति-चित्रण का आधार लेकर विकसित हुआ मिलता है। इस दृष्टि से इसका समावेश श्री वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में सफलता पूर्वक हुआ है। एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—'नगरों के आसपास से वसन्त ऋतु अपना डेरा समेट कर जङ्गल में बसेरे के लिये चली आयी थी। पेड़ों के आधे पीले पत्तों के बीच-बीच फूल अब भी थे जो टपक-टपक कर नीचे के गुंजान पौधों की अधपीली पत्तियों में उलझ-उलझ जाते थे। कहीं-कहीं छोटे-छोटे खुले मैदानों में दूबा के चकत्ते थे और उनमें छिपी-लुकी-सी शंका हूली की छोटी-छोटी रेंगती हुई डालियाँ। उन डालियों पर दूबा की छाया में कटोरीदार सफेद फूल झाँक रहे थे। पवन में थोड़ी-सी उष्णता थी।'[2]

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' में भी उपर्युक्त शैली का समावेश हुआ है, परन्तु केवल उन्हीं स्थलों पर जहाँ पात्रों की भावमयता से

१. 'गबन' (प्रेमचन्द), पृष्ठ २१८।
२. 'भुवन विक्रम' (श्री वृन्दावनलाल वर्मा), पृष्ठ ७८।

उनका साम्य हो, जैसे—'विहार से जब मैं बाहर निकला, तो चित्त प्रसन्न था। आती बार मैंने रास्ते की ओर दृष्टि नहीं दी थी। चिंता में निमग्न मनुष्य अंधा होता है। इस समय मैंने लक्ष्य किया, वृक्षों और लताओं पर वसंत का प्रभाव पूर्ण रूप से व्याप्त हो गया था—विकसित मंजरियों के सौरभ से स्वयं आकृष्ट भ्रमरावली ने आम के वृक्षों को छा लिया था, पुष्प-धूलि के केसर-चूर्ण सघन भाव से वर्षित होकर वन-भूमि को पीत वालुकामय पुलिन के रूप में परिणत कर रहे थे; पुष्प-मधु के पान से आमत्त भ्रमरियाँ विह्वल भाव से लता-रूप प्रेंखा-दोला पर भूला भूल रही थीं, मत्त कोकिल कदलो के विकसित पल्लवों के अन्तराल में लुक्कायित होकर पुष्प-मधु निकाल रहे थे और इसलिए उन पेड़ों के नीचे मधु-वृष्टि-सी हो रही थी; किसी-किसी वृक्ष और लता से जीर्ण पुष्प गिर रहे थे और भ्रमर-भार से जर्जरित उनके गर्भ-केसरों से लता-मंडप मनोरम हो उठे थे, और नाना भाँति के रंग-बिरंगे पक्षियों से वृक्ष-समूह अतिशय रमणीय दिखाई दे रहे थे।'[1]

उपर्युक्त शैली का एक रूप 'अज्ञेय' की औपन्यासिक कृतियों में मिलता है जिसमें भावमयता के साथ चित्रांकन की सूक्ष्मता महत्व की है। 'नदी के द्वीप' से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—'साँझ, रात, दूर टुनटुनाती गोधूली की घंटियाँ, शुक्र तारा, तारे, चाँद, लहरियों पर चाँदनी की बिछलन, छोटे-छोटे अभ्रखंड, ठंडी हवा, सिहरन, ऊँचाई, ऊँचाई के ऊपर आकाश में चुभता-सा पहाड़ का सींग आकाश······ ······सबका अर्थ है, सब-कुछ का अर्थ है, अभिप्राय है, ठिठुरे हाथ, अवश गरमाई, रोमांच, सिकुड़ते कुचाग्र, कनपटियों का स्पंदन, उलझी हुई देहों का घाम, कानों में चुनचुनाते रक्त-प्रवाह का संगीत—इन सबका भी अर्थ है, अभिप्राय है, प्रेष्य संदेश है; नहीं है तो इन सबके योगफल और समन्वय प्रकृति का ही अर्थ नहीं है, अभिप्राय नहीं है, केवल उद्देश्य··············।'[2]

(३) नाटकीय पद्धति

उपन्यासों में कथा - विकास की नाटकीय पद्धति इन तीन रूपों में आगे बढ़ी है—

१. 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ ४६।
२. 'नदी के द्वीप' (श्री 'अज्ञेय'), पृष्ठ १४९।

(क) रंगमंचीय नाटकीय पद्धति
(ख) यूरोपीय संघर्षात्मक पद्धति
(ग) ओजपूर्ण संवादात्मक पद्धति

(क) रंगमंचीय नाटकीय पद्धति—

नाटकीय पद्धति के इन सभी रूपों का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग में हुआ। यह सीधे पारसी नाटकों के प्रभाव-स्वरूप हुआ था, जो पारसी ढंग की थियेट्रिकल कंपनियों द्वारा खेले जाते थे। इस पद्धति पर लिखे गये उपन्यासों की विशेषता यह है कि उनका विकास ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार तत्कालीन नाटकों का होता था। प्रभावात्मकता की दृष्टि से उनमें ठीक वैसे ही उतार-चढ़ाव आते थे, जैसे नाटकों में। दृश्य-रचना और कथोपकथन भी नाटकों के ही ढंग पर लिखे जाते थे। यही नहीं, उनका प्रत्येक परिच्छेद उसी गति से आरंभ होकर समाप्त होता था जिस ढंग से उन नाटकों का कोई दृश्य। नाटकीय तत्वों का इनमें पूर्ण रूप से समावेश होता था। इस ढंग के उपन्यासों में रामलाल वर्मा लिखित 'गुलबदन उर्फ रजिया बेगम', जयगोपाल रचित 'उर्वशी' तथा भगवानदीन लिखित 'सती सामर्थ्य' के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार के उपन्यासों में नाटक की दृश्य-योजना के समान ही विविध अध्यायों की योजना की जाती है। उदाहरण के लिए भगवानदीन पाठक कृत 'सती सामर्थ्य' में, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, ठीक रंगमंचीय नाटकीय पद्धति के अनुसार कथा-विकास हुआ है—'अस्तु पाठक ! आज भगवती अनुसूया की परीक्षा का दिन आया है। जगत् के उत्पादक, पालक और संहारक त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—स्वर्ग लोक में अपने-अपने आसन पर विराजमान हैं। महर्षि नारद पास में बैठे हुए सती अनुसूया के अशेष गुणों का गायन कर रहे हैं।'........[१]

परन्तु यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि इस प्रारम्भिक युग में उपन्यास के वाह्यरूप पर ही यह प्रभाव लक्षित होता है। एक दृष्टि से उपन्यास की रचना

१. 'सती सामर्थ्य' (श्री भगवानदीन पाठक)।

इस ढाँचे पर ही की जाती थी। भारतेंदु-युग की समाप्ति के बाद द्विवेदी-युग कहानियों के माध्यम से यह परम्परा विकसित हुई। प्रेमचन्द-युग के आदर्शवा उपन्यासकारों की कृतियों में यह अपने परिष्कृत रूप में मिलती है। इस युग उपन्यासों का ढाँचा ठीक उसी प्रकार का नहीं है। हाँ, उनमें नाटकीय गुण थोड़े बहुत मिलते हैं, विशेष रूप से उन स्थलों पर जहाँ या तो कथानक को कोई मं देने की आवश्यकता हुई है और या किन्हीं कथा-सूत्रों को अस्वाभाविक रूप संबद्ध करने की चेष्टा हुई है; परन्तु यह वर्तमान-युग के उपन्यासों में अपने प्राचं रूप में नहीं लक्षित होती।

(ख) यूरोपीय संघर्षात्मक पद्धति—

इस पद्धति का आरंभ उन नाटकों के प्रभाव स्वरूप हुआ, जिनका अनुव यूरोपीय नाटकों से किया गया था। प्रथम पद्धति से इसमें कई दृष्टियों भिन्नता थी। सबसे पहली बात यह थी कि इन नाटकों के प्रभाव से : अति-नाटकीयता का तत्व उपन्यासों में समाविष्ट हो गया था, उसका इ कोटि के उपन्यासों में अभाव था। दूसरी भिन्नता यह थी कि प्रथम पद्धति उपन्यासों का रूप-गठन भी ज्यों-का-त्यों पारसी नाटकों की शैली पर होता था परन्तु इस वर्ग के उपन्यासों में केवल यूरोपीय नाटकों का संघर्षात्मकता का त समावेशित हो गया मिलता है और इसी कारण उनमें रूप-गठन सम्बन्धी थो विविधता आ गयी है; कम-से-कम इनकी रचना ठीक उसी ढाँचे पर नहीं हुई चंद्रशेखर पाठक लिखित 'अमीर अली', दुर्गाप्रसाद खत्री लिखित 'लाल पञ्जा' त जयराम गुप्त लिखित 'राजदुलारी' आदि उपन्यासों में इस प्रवृत्ति का समावे हुआ है। परवर्ती-युगों में इस पद्धति को साहसिकता की पद्धति के समन्वय विकास मिला।

(ग) ओजपूर्ण संवादात्मक पद्धति—

उद्गम की दृष्टि से इसमें तथा यूरोपीय संघर्षात्मक पद्धति में कोई अन्तर नहं है, क्योंकि इसका आरम्भ भी यूरोपीय नाटकों के प्रभाव स्वरूप ही हुआ था। अन्त केवल इतना है कि जहाँ संघर्षात्मक पद्धति में कथा-जटिलता में ही संघर्षात्मकता व तत्व समावेशित करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ इसमें संवाद-तत्व का अनुकरण करने की चेष्टा की गयी है। यूरोपीय नाटकों की ही शैली पर इस प्रकार के नाटकं में ओजपूर्ण संवादों की सृष्टि की गयी मिलती है। आगे चलकर यह शैली नौटंकं

आदि नाट्य-रूपों में जहाँ एक ओर विकास को प्राप्त हुई, वहाँ दूसरी ओर हिंदी उपन्यास में इसका अभाव मिलने लगा। अवशेष-रूप में, अन्य पद्धतियों के सम्मिश्रण से, नवीन और समन्वित रूप में यह केवल ऐतिहासिक उपन्यासों में ही अब देखी जा सकती है। उस युग के उपन्यासों में इसका समावेश औपन्यासिक नाटकीयता की सृष्टि के लिये हुआ है। भगवानदीन लिखित 'सती-सामर्थ्य', 'नयन गोपाल' 'उर्वशी' तथा रामलाल लिखित 'गुलबदन उर्फ रजिया बेगम' में इसे लक्षित किया जा सकता है।

(४) विश्लेषणात्मक पद्धति

कथा-विकास की विश्लेषणात्मक पद्धति निम्नलिखित रूपों में विकसित हुई मिलती है—

(क) मनोवैज्ञानिकता युक्त विश्लेषणात्मक पद्धति
(ख) बौद्धिकता युक्त विश्लेषणात्मक पद्धति
(ग) यथार्थपरक विश्लेषणात्मक पद्धति
(घ) आदर्श से आगृहीत विश्लेषणात्मक पद्धति

(क) मनोवैज्ञानिकता युक्त विश्लेषणात्मक पद्धति—

विश्लेषणात्मक कथा-विकास-पद्धति का आरंभ यों तो भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था, परन्तु उसमें मनोवैज्ञानिकता का समावेश आधुनिक-युग में ही मिलता है। उस युग के लज्जाराम मेहता लिखित 'हिंदू गृहस्थ'[1] तथा गिरिजाकुमार घोष लिखित 'छोटी बहू' आदि उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता रहित विश्लेषणात्मक पद्धति के दर्शन होते हैं। इसका वास्तविक आरंभ प्रेमचंद-युग में हुआ और समुचित विकास प्रेमचंदोत्तर-युग में। इस दृष्टि से इन युगों के उपन्यास-साहित्य में अनुभूतियों को एक प्रकार की आत्म-निष्ठा से पूरित दृष्टिकोण के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। इसमें केवल किन्हीं पात्रों के व्यावहारिक और वाह्य कार्य-कलापो

१. प्रकाशन-काल, सन् १९०४।

का ही उल्लेख नहीं होता, वरन् उनके मूल चालक-स्रोतों तथा मानसिक पृष्ठ भूमि का भी विश्लेषण प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है।

प्रेमचंद-युग में मानसिक विश्लेषण तथा अंतर्द्वंद्व की अभिव्यक्ति ही इस पद्धति की विशेषताएँ प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिए 'गबन' से एक उदाहरण देखिए—'मगर उसे फिर शंका हुई कि कहीं जालपा की आँख न खुल जाये ? फिर तो उसके लिये त्रिवेणी के सिवा और कोई स्थान नहीं रह जायगा। जो कुछ भी हो, एक बार तो यह उद्योग करना ही पड़ेगा। उसने धीरे से जालपा का हाथ अपनी छाती पर से हटाया, और नीचे खड़ा हो गया। उसे ऐसा खयाल हुआ कि हाथ हटाते ही वह चौंकी और मालूम हुआ कि यह भ्रम मात्र था। उसे अब जालपा के सलूके की जेब से तालियों का गुच्छा निकालना था। देर करने का अवसर न था। लेकिन जब चाबी निकालने के लिए झुक, तो उसे जान पड़ा कि जालपा मुस्कुरा रही है। उसने झट हाथ खींच लिया और लैम्प के क्षीण प्रकाश में जालपा के मुख की ओर देखा, जो कोई सुखद स्वप्न देख रही थी। हा, इस सरला के साथ मैं ऐसा विश्वासघात करूँ ? जिसके लिये मैं प्राणों को भेंट कर सकता हूँ उसी के साथ यह कपट ? जालपा का निष्कपट स्नेह-पूर्ण हृदय मानों उसके मुख-मंडल पर अंकित हो रहा था। आह ! जिस समय इसे ज्ञात होगा, इसके गहने फिर चोरी हो गये, इसकी क्या दशा होगी। उसने सोचा—मैंने इसे आराम ही कौन-सा पहुँचाया है ? किसी दूसरे से विवाह होता, तो अब तक वह रत्नों से लद जाती।'[1]

प्रेमचन्दोत्तर युग में यह पद्धति ठीक इसी रूप में नहीं मिलती। अब इसमें मनोविश्लेषणात्मक तत्वों को भी आरोपित किया गया होता है। अब इसमें केवल मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण ही नहीं, वरन् मनुष्य के अन्तर-जगत के सूक्ष्म स्पन्दनों तक के उद्घाटन का आग्रह मिलता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'प्रेत और छाया' में एक स्थान पर पारस नाथ कहता है—'संसार के खुले आँगन में, समाज की भरी सभा के बीच में, मेरे लिये कहीं कोई स्थान नहीं रह गया है; इसलिये इस बन्द गली के घोर नरक में जीवन बिताने के लिये मुझे बाध्य होना पड़ा है। पिछले सात वर्षों से मैं जहाँ भी रहा हूँ, इसी प्रकार के नारकीय वातावरण में सड़ने के लिये

१. 'गबन' (प्रेमचन्द), पृष्ठ ८८।

मजबूर हुआ हूँ। इस प्रकार दिन-रात नरक में रहने के कारण मैं मनुष्य-समाज के प्रति विद्रोह, प्रतिहिंसा और घृणा की आग को सुलगाता चला गया हूँ। जिस दिन मुझे पहले-पहल मालूम हुआ कि मैं अपनी माँ के प्रेमी का पुत्र हूँ न कि उसके पति का, उस दिन जो विस्फोट मेरे भीतर हुआ उसने मेरे जीवन के स्वप्नों और आदर्शों को उलट दिया। तब से कैसी-कैसी भयंकर मानसिक उलझनों और विकृतियों के तूफान के बीच से होकर मुझे गुजरना पड़ा है, इसकी कल्पना तक तुम नहीं कर सकोगी।'[1]

इसी पद्धति का एक और भी रूप मिलता है जिसमें मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति को प्रधानता दी गयी है। 'अज्ञेय' के एक उपन्यास से इसका एक उदाहरण दिया जा रहा है—'पर भुवन के आकर्षण का अपने लिए सन्तोषजनक कारण पा लेना तो काफी नहीं था; वह तो मानव-सम्बन्धों का अध्ययन करने नहीं बैठा है, वह जिन्दगी का तमाशाई नहीं है, वह खिलाड़ी है, नायक है, वह जिन्दगी को अंगूर के गुच्छे की तरह तोड़कर उसका रस निचोड़ लेगा, लता को झँझोड़ डालेगा, कुंज में आग लगा देगा, वह आराम से नहीं बैठेगा।'[2]

(ख) बौद्धिकतायुक्त विश्लेषणात्मक पद्धति—

कथा-विकास की इस पद्धति का आरम्भ भी वर्तमान युग में ही हुआ है, इसमें विश्लेषणात्मक रूप से कथानक को बौद्धिक प्रश्नों से आवृत करके प्रस्तुत किया जाता है। जैनेन्द्र और 'अज्ञेय' इस दृष्टि से प्रतिनिधि उपन्यासकार कहे जा सकते हैं। जैनेन्द्र के उपन्यास 'परख' में एक स्थान पर कट्टो कहती है—'····सोती हूँ तो आकाश-गंगा को ऊपर खिलखिलाते देखती हूँ। वह हम पर नीचे को देखती रहती है, हमारी जगत की यह गंगा भी ऐसे ही ऊपर को देख-देखकर बहती है और हँसती रहती है। लगता है कि ये दोनों गंगाएँ एक-दूसरे को देख-देख कर ही जीती हैं। इस सारे अनन्त शून्य—किसी गणना में न आ सकने वाले आकाश को भेदकर इनकी हँसी एक-दूसरे को परस्पर कुशल-क्षेम दे आती है। दोनों का मन एक है, नियम एक है। मालूम होता है, दोनों आपस के समझौते से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि दोनों एक

१. 'प्रेत और छाया' (श्री इलाचन्द्र जोशी), पृष्ठ १४४।
२. 'नदी के द्वीप' (श्री 'अज्ञेय'), पृष्ठ ६५।

ही उद्देश्य को दो जगह पूरा करें। दूर हैं, फिर भी पास हैं। अलग हैं, फिर भी एक हैं।"[1]

जैनेन्द्र द्वारा प्रयुक्त इस शैली में दार्शनिकता का आग्रह अधिक रहता है, यद्यपि रहती वह बौद्धिकता के ही निकट है, परन्तु 'अज्ञेय' की शैली में बौद्धिकता का आग्रह ही बढ़ा हुआ प्रतीत होता है, उदाहरण के लिए 'शेखर : एक जीवनी' का एक अंश प्रस्तुत किया जा रहा है—'लेकिन, ये सब उसके परिचित स्थान क्या हैं ? उसे उनसे क्या है ? नीलगिरि उसके लिये क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ उसके भाई-बन्द रहते हैं, महाबलिपुर क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ वह डूबा था, त्रावनकोर भी क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ शारदा थी और वह उससे लड़ आया ? जब वह नहीं रहेगा, तब ये स्थान भी नहीं रहेंगे····ये सब इसीलिये हैं कि इनमें वह है और अब वह इन सबसे भागा जा रहा है····क्या यह सब सत्य है ? क्या वे स्थान सत्य हैं ? क्या वे सब लड़ाई-झगड़े, प्यार, तिरस्कार, सत्य हैं ? क्या वह खुद सत्य है ? गाड़ी उसे खींचती हुई दौड़ी चली आ रही है, उसे लगता है कि कुछ भी सत्य नहीं है, शायद गाड़ी का दौड़ना भी सत्य नहीं है।····'[2]

बौद्धिकता प्रधान विश्लेषणात्मक पद्धति का एक रूप विद्रोहात्मक भी है। इसमें नीति-आचार के प्रति विद्रोह, विविध मूल्यों के प्रति विद्रोह तथा सामाजिक परंपराओं के प्रति विद्रोह की भावना लक्षित होती है। 'पथ की खोज' नामक उपन्यास से इस प्रकार का एक उदाहरण देखिए—'संयम और आत्म-निग्रह के कठोर आदर्श कुछ लोगों को बहुत ऊँचे जान पड़ते हैं। जीवन में उनकी आवश्यकता है, इससे कोई विवेकशील व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता····किन्तु उन्हें जीवन का एकान्त लक्ष्य बना डालना मैं अस्वाभाविक और अस्वास्थ्यकर समझता हूँ—अहन्ता की पुष्टि का एक अस्वस्थ, अनैसर्गिक तरीका। ····सैकड़ों पौराणिक आख्यानों के नायक ऋषि-मुनियों की कथाएँ ऐसे आत्म-निग्रह या आत्म-दमन की व्यर्थता सिद्ध करती हैं। और आज जब कि विचारशील लोगों को ईश्वर और परलोक दोनों

१. 'परख' (श्री जैनेंद्र कुमार), पृष्ठ १०३।
२. 'शेखर : एक जीवनी' (श्री 'अज्ञेय'), भाग २, पृष्ठ ९।

की सत्ता में घोर सन्देह हो गया है, वैसे आदर्शों की शिक्षा निर्दय मजाक-सा जान पड़ता है····।'[1]

(ग) यथार्थ-परक विश्लेषणात्मक पद्धति—

यह पद्धति यथार्थवाद के विविध पहलुओं का आधार लेकर विकसित हुई। यों तो इसके प्रारम्भिक सूत्र भारतेन्दु युगीन उपन्यास-साहित्य में भी उपजे देखे जा सकते हैं। परन्तु वास्तविक रूप में इसका आरम्भ प्रेमचन्द-युग से हुआ। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती युग में तो यथार्थ-परक विश्लेषणात्मक पद्धति मिलती है, वह एक प्रकार के राष्ट्र-प्रेम की भावनाओं के आवरण के भीतर मिलती है। प्रेमचन्द ने जिस यथार्थवाद की नींव डाली उसमें भी आदर्शवादी दृष्टिकोण के पोषक कुछ तत्व विद्यमान थे, परन्तु आगे चलकर इनका भेद स्पष्ट हो गया और ये स्वतन्त्र रूप से विकास को प्राप्त हुई। हाँ, इनके स्वतन्त्र रूपों में आगे चलकर जो भेद पाया गया, वह यह कि आदर्शवादी दृष्टिकोण एक मर्यादित ढंग से प्रस्तुत हुआ तथा यथार्थवाद ने कहीं-कहीं अपनी निर्धारित सीमा का अतिक्रमण कर 'अतियथार्थवाद' का रूप ग्रहण कर लिया।

प्रेमचन्द द्वारा प्रयुक्त यथार्थ-परक विश्लेषणात्मक पद्धति जन-यथार्थ पर आधारित थी, जबकि अन्य उपन्यासकारों ने वैयक्तिक पर भी बल दिया है। 'गोदान' से इस प्रकार का एक उदाहरण देखिए—'एक तो जाड़े की रात, दूसरे माघ की वर्षा। मौत का सा सन्नाटा छाया हुआ था। होरी भोजन करके पुनिया के मटर के खेत की मेड़ पर अपनी मड़ैया में लेटा हुआ था। चाहता था, शीत को भूल जाय और सो रहे; लेकिन तार-तार कम्बल, फटी हुई मिर्जई और शीत के झोंकों से गीली पुआल, इतने शत्रुओं के सम्मुख आने का नींद में साहस न था। आज तमाखू भी न मिला कि उसी से मन बहलाता। उपला सुलगा लाया था, पर शीत में वह भी बुझ गया। बेवाय फटे पैरों को पेट में डालकर, हाथों को जाँघों के बीच में दबाकर और कम्बल में मुँह छिपाकर अपनी ही गर्म साँसों से अपने को गर्म करने की चेष्टा कर रहा था।··········कम्बल तो उसके जन्म से भी पहले का है। बचपन में अपने बाप के साथ वह इसी में सोता था, जवानी में गोबर को लेकर

१. 'पथ की खोज' (डा० देवराज), दूसरा भाग, पृष्ठ ३८६।

इसी कम्बल में उसके जाड़े कटे थे और बुढ़ापे में आज वही बूढ़ा कम्बल उसका साथी है; पर अब वह भोजन को चबानेवाला दाँत नहीं, दुखनेवाला दाँत है। जीवन में ऐसा तो कोई दिन ही नहीं आया कि लगान और महाजन को देकर कभी कुछ बचा हो।'[1]

इसी प्रकार जयशंकर 'प्रसाद' ने भी जन-यथार्थ विषयक अपने दृष्टिकोण की गहनता का परिचय दिया है। उनके 'कंकाल' और 'तितली' नामक उपन्यासों में ऐसे अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं, उदाहरण के लिए—'दशाश्वमेध घाट वाली चुंगी चौकी से सटा हुआ जो पीपल का वृक्ष है, उसके नीचे कितने ही मनुष्य कहलानेवाले प्राणियों का ठिकाना है। पुण्य-स्नान करनेवाली बुढ़ियों की बाँस की डाली में से निकलकर चार-चार चावल सबों के फटे अंचलों में पड़ जाते हैं। उनसे कितनों के विकृत अंग की पुष्टि होती है। काशी में बड़े-बड़े अनाथालय, बड़े-बड़े अन्न-सत्र हैं और उनके संचालक स्वर्ग में जानेवाली आकाश-कुसुमों-सी सीढ़ी की कल्पना छाती फुलाकर करते हैं। पर इन्हें तो झुकी हुई कमर, झुर्रियों से भरे हाथों वाली, रामनामी ओढ़े हुए अन्नपूर्णा की प्रतिमाएँ ही दो दानें दे देती हैं।'[2]

कहीं-कहीं इस पद्धति का एक रूप राजनैतिकता की पृष्ठभूमि लेकर भी विकसित हुआ है। विविध राजनैतिक दर्शनों तथा विचारधाराओं का पोषण या खंडन विश्लेषणात्मक रूप में करना इसका उद्देश्य होता है। उदाहरणार्थ श्री राहुल सांकृत्यायन के एक उपन्यास का पात्र ब्राउन एक स्थान पर कहता है—'श्रमजीवी क्रांति सिर्फ मजदूर-सभाओं के पूर्ण संगठन से नहीं हो सकती। खासकर इंग्लैंड में तो उसका होना बिल्कुल असंभव है। शांति के समय सरकार अपनी सारी शक्ति को आंतरिक विद्रोह को दबाने के लिए इस्तेमाल कर सकती है। उस समय जनता को हथियारों का उतना सुभीता नहीं होता जितना कि युद्ध के समय। परतंत्र राष्ट्रों की तरह श्रमिक क्रांति को भी सफलता युद्ध के समय ही हो सकती है। मेरी समझ में इस युद्ध का सबसे सुन्दर परिणाम रूस की यही साम्यवादी

१. 'गोदान' (श्री प्रेमचन्द), पृष्ठ १५८।
२. 'कंकाल' (श्री जयशंकर प्रसाद')।

क्रांति है। क्रांति कहीं भी होगी उसमें अपार जन-धन की हानि तथा विपत्तियों के प्रचंड प्रहार होंगे ही। इसमें लोग भूलें भी कर सकते हैं, क्योंकि क्रांति की शिक्षा के लिए बाकायदा कालेज और विश्वविद्यालय थोड़े ही स्थापित हो सकते हैं। मुझे विश्वास है कि रूस ही में प्रथम और स्थायी साम्यवाद स्थापित होके रहेगा। मार्क्स ने श्रमजीवी क्रांति का क्षेत्र सफल उद्योग-प्रधान देशों को बतलाया था। उसका ख्याल था कि उन देशों के श्रमजीवी संख्या और संगठन में बहुत बड़े हैं और वहाँ अधिक जनतंत्र हैं, जिसके कारण विचारों के प्रचार में अधिक सुभीता है।'............[1]

यथार्थपरक विश्लेषणात्मक पद्धति का विकास ऐतिहासिक यथार्थवाद का आश्रय लेकर भी हुआ है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में इसका समावेश सर्वाधिक सफलतापूर्वक हुआ है। उनके नवीनतम ऐतिहासिक उपन्यास 'माधव जी सिन्धिया' से ऐसा एक उदाहरण दिया जा रहा है—
'नजीब ऐसे साम्राज्य के वजीर का नौकर हो गया जिसमें कोई भी मनचला किसी दिन मालिक बन जाने की कल्पना कर सकता था। मुगल साम्राज्य अपने अच्छे से अच्छे दिनों में एक विशाल सैनिक छावनी थी जिसका मुखिया—बादशाह—ईरानी और बाबुली शान की साधना से, भूमि और धन के भूखे हिंदू-मुसलमान सामंतों की सहायता द्वारा, असंख्य जन-साधारण की आँखों में चकाचौंध लगाता हुआ अपने ही बड़प्पन से घुटता रहता था। यह विशाल सैनिक छावनी मध्य-एशिया के बर्बरों के निरंतर प्रवाह और प्रबल बादशाह के दृढ़ हाथों से ही कायम रह सकती थी। जनता को शान्तिपूर्वक खेती और रोजगार करने तथा करों के देने से ही मतलब था। जब कोई अत्याचारी या निर्बल बादशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठा तब वह सकपकाई और जब कोई प्रबल सबल बैठा तब उसने उसकी जय मनाई। उसके धर्म पर आघात किया तो वह उखड़ पड़ी।'[2]

(घ) आदर्शपरक विश्लेषणात्मक पद्धति—

इस पद्धति को अपने विकास में सर्वाधिक पोषण कलात्मक रूप में प्रेमचन्द द्वारा मिला। हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में साहित्य की मर्यादा के अनुसार आदर्शवादी

१. 'जीने के लिये' (श्री राहुल सांस्कृत्यायन), पृष्ठ २१०।
२. 'माधव जी सिन्धिया' (श्री वृन्दावनलाल वर्मा), पृष्ठ ३९।

दृष्टिकोण के आरोप का श्रेय भी उन्हीं को है। वास्तव में यह पद्धति तब तक सफल नहीं कही जा सकती, जब तक इसे यथार्थ की आधार-शिला न मिले। कोरा आदर्श कोई सार्थकता नहीं रखता। प्रेमचन्द जी की एक बहुत बड़ी सफलता यह भी थी कि उन्होंने एक ऐसी सुनिश्चित सीमा-रेखा के आधार पर अपनी कृतियों में इसका प्रयोग किया है। इस दृष्टि से, उनके लगभग सभी उपन्यासों में समाज के यथार्थ पक्षों के उद्घाटन के पश्चात् एक ऐसे आदर्श की स्थापना के संकेत मिलते हैं, जो जीवन को स्वस्थता की ओर अग्रसर करनेवाले होते हैं।

प्रेमचन्द ने उपर्युक्त पद्धति में आदर्शवाद के साथ ही मानववादी विचारों को समावेशित किया है। 'गोदान' में मेहता के एक वक्तव्य द्वारा उन्होंने इसकी स्पष्ट व्याख्या की है। वह कहता है—'मेरे जीवन का क्या आदर्श है.......मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में देखना चाहता हूँ। जो प्रसन्न होकर हँसता है, दुःखी होकर रोता है और क्रोध में आकर मार डालता है। जो दुःख और सुख दोनों का दमन करते हैं, जो रोने को कमजोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं, उनसे मेरा कोई मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है, सरल, स्वच्छन्द! जहाँ कुत्सा, ईर्ष्या और जलन के लिए कोई स्थान नहीं। मैं भूत की चिंता नहीं करता, भविष्य की परवा नहीं करता। मेरे लिए वर्तमान ही सब-कुछ है। भविष्य की चिंता हमें कायर बना देती है, भूत का भार हमारी कमर तोड़ देता है। ....और जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है, इस पर तो मुझे हँसी आती है। वह मोक्ष और उपासना की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही उपासना है और मोक्ष है। ज्ञानी कहता है, ओठों पर मुस्कराहट न आये, आँखों में आँसू न आये। मैं कहता हूँ, अगर तुम हँस नहीं सकते, जोर से रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं हो, पत्थर हो।'[1]

आदर्शपरक विश्लेषणात्मक पद्धति का एक रूप उपेंद्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' में मिलता है, जिसमें देवनगर की स्थापना और उसके आदर्श की कल्पना की गयी है। देवा जी की कल्पना ऐसे नव-समाज के आदर्श का

१. 'गोदान' (श्री प्रेमचन्द), पृष्ठ २६८।

स्वप्न देख रही थी जहाँ 'पोलिटिकल आंदोलन भी चलते रहें, पर एक ग्रुप आजादी के ऐसे दीवानों का भी होना चाहिए जो अपने भाइयों में जाकर उन्नति का संदेश दें; उनकी जिंदगी को सँवारें, सरल साहित्य प्रकाशित करें, भ्रम दूर करें, भाई को भाई से अलग करने वाले धर्म की जगह सच्चे, शाश्वत और साझे ईश्वरीय धर्म का प्रचार करें। हमारी बीमारियाँ अगनित हैं—बुरी रस्में, अशिक्षा, सांप्रदायिकता, पक्का हो जानेवाला दास-स्वभाव, बेसमझ जातियाँ, चारदीवारी में बंद निकम्मी करके बैठा दी गयी स्त्रियाँ, बेपरवाही का शिकार रुलने-बिलखने वाले बच्चे—यह लिस्ट बड़ी लंबी है, लेकिन हमें काम में जुट जाना है और जितनी भी बुराइयाँ हम दूर कर सकें, करके देशवासियों को आजादी के योग्य बनाना है। याद रखिए कि आप बड़े बुद्धिमान हों या आपका धन अपार हो, आप निर्भीक हों या व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र; पर जब तक आपके इर्द-गिर्द भूख, नंग, अशिक्षा और गरीबी है आप कभी सुखी नहीं रह सकते।'[1]

(५) फ्लैश बैक पद्धति

कथा के विकास की इस पद्धति का समावेश आधुनिक युग के उपन्यासों में ही सफलतापूर्वक हुआ है। इस पद्धति के अनुसार उपन्यासकार कथा कहते-कहते अकस्मात् प्रसंग के सूत्र को किसी विगत घटना के सूत्र से जोड़ देता है, जिससे कथा की गति विकास की ओर अग्रसर होती है।

'अज्ञेय' के 'शेखर: एक जीवनी' में यह पद्धति प्रखर रूप में मिलती है। लेखक उपन्यास के प्रथम शब्द 'फाँसी!' को ही लिखकर पाठकों को एक विचित्र मानसिक परिस्थिति में डाल देता है। पाठकों के हृदय में इस पहले शब्द को पढ़कर एक अनोखी अनुभूति जागती है। फिर उपन्यासकार फ्लैशबैक पद्धति के आधार पर कथा-सूत्र को प्रधान पात्र के विगत-जीवन से सम्बन्ध करके उसे इस प्रकार समाप्ति पर पहुँचा देता है—'प्रणाम यमुना, प्रणाम पूर्व दिशा, प्रणाम वैशाख के फूले हुए पलाश और बबूल, प्रणाम, झाऊ के उदास मर्मर और धूल के बगूले, प्रणाम, दो पैरों से लाख बार रौंदे हुए रेतीले नदी तट; प्रणाम, बही हुई

१. 'बड़ी बड़ी आँखें' (श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क'), पृ० ६८।

मुट्ठी भर राख····मैं सोचता था, कि यदि ऐसा न होकर वैसा होता, और वैसा होता, और वैसा होता, और वैसा होता, तो···· ·······पर आज सोचता हूँ कि नहीं, आज लगभग माँग रहा हूँ कि यदि फिर कुछ हो तो ऐसा ही हो, छाया, हम-तुम भी ऐसे ही हों—अलग पर सदा एक-दूसरे की ओर अग्रसर होने में सचेष्ट, साधारण अभिधा में गैर, पर वास्तव में अखण्ड विश्वास में बँधे, धमनी के एक छाया, तुम्हें भूलने नहीं जाता, तुम साथ चलो—पहले मौसी के पास और गौरा के पास, फिर—आगे कर्म में विस्मरण नहीं है, शशि, कर्म में तुमको चिरन्तन प्रेरणा—चिरन्तन क्योंकि मुक्ति और मोक्षदा··········· ।'[1]

इसी पद्धति का परिष्कारयुक्त एक रूप 'नदी के द्वीप' में मिलता है। उपन्यास के प्रथम परिच्छेद में ही प्रमुख पात्र भुवन रेल से यात्रा करता दिखाया जाता है। जब वह गाड़ी पर चढ़ जाता है तब उपन्यासकार परिचय-रूप में लिखता है—'भुवन ने भी भीतर प्रवेश करके दरवाजा बंद किया और एक सीट पर सिमट कर बैठ गया। उसके विस्मय की जड़ता कुछ कम हुई तो उसकी स्मृति धीरे-धीरे पिछले कुछ घंटों की दृश्यावली के पन्ने उलटने लगी।'[2]

स्मृति की यही विगत-उन्मुखता फ्लैश बैक पद्धति का आधार है। इसका परिचय कई प्रकार से मिलता है। इसी उपन्यास में आगे चलकर लेखक कहता है—'स्पष्ट ही केवल यात्रा का प्रत्यावलोकन काफी नहीं है; थोड़ा और पीछे देखना होगा। और पीछे देखने में—या क्रम से विश्लेषणपूर्वक देखने में—उसे झिझक क्यों है, वह अनमना क्यों है ? सप्ताह भर से कम का सामान्य परिवार—कौन उसमें ऐसे छायावेष्टित स्थल हैं जिनमें जिज्ञासा की किरण के पहुँचने से वहाँ पलती कोई छुईमुई अनुरागानुभूति मर जायगी !' और फिर इन पंक्तियों के साथ कथा का सूत्र अतीत की ओर लौटता है।

उपर्युक्त उद्धरण कथा के मध्य में विगत के सूत्र को जोड़ने के उदाहरण हैं, जिनसे विगत की घटनाओं या कथा को प्रारंभ किया गया है। परंतु एक विशेष पात्र की स्मृति भी सूत्र के इस जागरण का कारण हो सकती है, जैसे 'नदी के

१. 'शेखर : एक जीवनी' (श्री 'अज्ञेय'), भाग २, पृष्ठ २४९।
२. 'नदी के द्वीप' (श्री 'अज्ञेय'), पृ० ४।

द्वीप' में परिवार-प्रवाह में खोया हुआ भुवन एकाएक चौंकता है—'और रेखा ?' और फिर उपन्यासकार लिखता है—'भुवन को याद आया, तीन दिन पहले चंद्र के यहाँ उसने पहली बार रेखा को देखा था। परिचय के समय उसने लक्ष्य किया था कि रेखा के पास रूप भी है और बुद्धि भी है, किन्तु बुद्धि मानों तीव्र संवेदना के साथ गुँथी हुई है और रूप एक अदृश्य, अस्पृश्य, कवच-सा पहने हुए है, पर इस आरंभिक धारणा को उसने तूल नहीं दिया था। प्रचलित धारणा है कि बुद्धि जीवी स्त्री के आवेग शिथिल होते हैं, और अगर किसी को चट से 'फ्रिजिड वूमन' का बिल्ला दे दिया जा सकता है तो उसे लेकर माथा-पच्ची कौन करे ? फलतः परिचय के साधारण शिष्टाचार के बाद भुवन अपने में खिंच गया था और रेखा बुद्धि-प्राण मानव-जीवन के गिरोह में खो गयी थी…… ।'[१]

इन स्मृति-चित्रों को ताजा करने के पश्चात् उपन्यासकार कहता है—'काफी पीते-पीते ये सब बातें चल - चित्र सी उसके आगे घूम गयीं।'

श्री जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास 'त्यागपत्र' में यही पद्धति मिलती है। आरंभ में उपन्यास का प्रमुख पात्र, जो एक जज है, अपनी बुआ के प्रति अपने कर्तव्य का पालन न कर सकने के कारण असंतोष व्यक्त करता है और उन्हीं स्वर्गीया बुआ के लिए अपनी भावनाओं का परिचय देता है। इसी के साथ वह अपनी अतीत-गाथा कहना आरंभ कर देता है। उपन्यास के अन्त तक वही सूत्र प्रधानतः रहता है। अन्त में फिर लेखक उसे वर्तमान अथवा प्रारंभिक कथा-सूत्र से जोड़ देता है।

उनके 'कल्याणी' नामक उपन्यास में भी इस पद्धति को समावेशित किया गया है। परंतु इस उपन्यास में कथा का वर्णन करनेवाला पात्र उपन्यास का नायक नहीं है। आरंभ में कथा-सूत्र को उठाता हुआ वह कहता है—'जब कभी उधर से निकलता हूँ, मन उदास हो आता है। कोशिश तो करता हूँ कि फिर उधर जाऊँ ही क्यों। लेकिन बेकार। सच बात यह है कि अगर मैं इस तरह एक-एक राह मूँदता चलूँ तो फिर खुली रहने के लिये दिशा किधर और कौन शेष रह जायगी। यों सब रुक जायगा। पर रुकना नाम जिंदगी का नहीं है। जिंदगी नाम चलने का है।…………देखता हूँ कि दुनियाँ दुनियाँ रहती। कोई उठ जाता

१. 'नदी के द्वीप' (श्री 'अज्ञेय'), पृ० ४।

है तो उसके अभाव में ठरहने का अवकाश उसे नहीं। उसे खुद अपना चक्कर है। इससे दुनियाँ में उदास होना गलत है। पर चित्त पूरी तरह बस में जो नहीं होता। वह कभी एकदम बेबस हो जाता है। तब बीती बातें याद आती हैं। यह जानकर भी कि वे बीती बातें हैं, क्या उन्हें एकदम टालते बनता है।'[१]

इतने उपक्रम के पश्चात्—'यही मकान था। ऐसे कोई बहुत ज्यादा दिनों की बात नहीं है'—कहकर मूल कथा का प्रारंभ होता है, जो फिर अंत तक चलती रह वर्तमान स्थिति पर पहुँचने के बाद समाप्त हो जाती है।

श्री इलाचंद जोशी के उपन्यास 'लज्जा' में इसी कथा-पद्धति का प्रयोग हुआ है। उपन्यास के प्रारम्भ में लेखक ने प्रमुख पात्री की मानसिक स्थिति का विवरण और उसकी पीड़ा का परिचय दिया है—'घृणा! घृणा! मेरी सारी आत्मा आज घृणा के भाव से ओत-प्रोत है। मुझ हत्यारी नारी ने आज समस्त प्रकृति को सारे विश्व को अपने अन्तस्थल की घृणा से लीप-पोत कर एकाकार कर दिया है। इस अनन्त सृष्टि का अस्तित्व ही आज मेरे लिए केवल घृणा को लेकर है। स्त्री का रूप देखते ही घृणा से मेरा खून खौलने लगता है, पुरुष की छाया से भी मेरा हृदय जर्जरित हो उठता है। दिन के कोलाहल से मैं बेतरह ऊब उठती हूँ, रात्रि की विजन शांति से मेरा दिल दहल जाता है। अनन्त सुख-दुखमय जीवन-धारा की विचित्र लहरी-लीला देख-देखकर मेरी आत्मा भड़क उठती है, और महा-मृत्यु की कल्पना से भी मेरी रग-रग में निविड़ उदासीनतामय घृणा व्याप्त हो जाती में। हाय मेरे भगवान्! इस घृणामयी नारी की क्या गति होगी! किस विकराल अन्धकारमय, अनन्तशून्यमय, निविड़ अवसादमय गहन गह्वर की ओर इस क्रूरा, उत्तेजिता, हिंसामयी रमणी को तुम ढकेले जाते हो! हे मेरे अदृश्य के देवता! इस विपुल शून्य की अनन्त छाया में क्या कहीं भी मेरे लिए त्राण नहीं है?'[२]

इसी प्रकार मानसिक अन्तर्द्वन्द्व और पश्चात्ताप की स्थिति का वर्णन करने के बाद प्रमुख-पात्री—'दुख की ज्वाला से तप्त और पाप की यातनाओं से उत्तेजित

१. 'कल्याणी' (श्री जैनेंद्र कुमार), पृष्ठ १।
२. 'लज्जा' (श्री इलाचंद जोशी), पृष्ठ ३।

इस पापिनी की रामकहानी को धैर्यपूर्वक सुननेवाले सहृदय पाठक कितने मिलेंगे ?'—कहकर अपनी अतीत-कथा कहना प्रारंभ कर देती है।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' में भी इस पद्धति का प्रयोग हुआ है। उपन्यास का नायक संगीतसिंह अपने हृदय की खोई हुई शांति प्राप्त करने के लिए देवनगर में जाकर निवास करने लगता है। वहाँ पहुँचकर जब वह देवा जी से बातचीत करने के पश्चात् कुछ स्थिरता का अनुभव करने लगता है, तब एक दिन अपना मानसिक विश्लेषण करता हुआ कहता है—'पत्नी की मृत्यु के बाद सहसा मेरा मन जो शहर से भाग चलने को बेताब हो उठा तो उसका कारण यही न था कि मुझे अपनी बीवी से बेहद मुहब्बत थी और बड़ी लम्बी तकलीफ-देह बीमारी से उसका देहांत हुआ था, बल्कि बड़ी-छोटी, लगभग नजर-अन्दाज कर दी जानेवाली एक घटना थी, जिसे मैं भुला न सका था।'[1]

अब उपन्यासकार को उस घटना का मार्मिक वर्णन करने का अवसर मिल जाता है और वह कथा के अब तक गतिमान सूत्र को ज्यों का त्यों कुछ समय के लिए छोड़ देता है, तथा पिछले सूत्र को उठाता है—'उसके मरने के तीन दिन पहले, जब मैं उसकी चारपाई की पट्टी पर बैठा उसके बालों पर स्नेह-सिक्त करुणा से हाथ फेर रहा था और देख रहा था कि उस लम्बी तकलीफ-देह बीमारी ने कैसे अपने अदृश्य दाँतों से, बिना किसी प्रकार के घाव किये उसे अन्दर-ही-अन्दर खा डाला है और सोच रहा था कि यदि मैं सम्पन्न होता तो क्या उसे स्विट्जरलैंड न ले जाता··· ···· ···कि अचानक उसने अपनी बेआवाज हँसी के साथ बड़े ही धीमे स्वर में पूछा—'देवा जी, नरक और स्वर्ग में क्या आपका जरा भी विश्वास नहीं ?'[2]

इस पूरे खंड के वर्णन के पश्चात् लेखक उस टूटे हुए सूत्र को फिर आगे की कथा की ओर जोड़कर बढ़ता है—'सोच-सोचकर मेरा दिमाग घूम गया। मेरी नौकरी बीवी की बीमारी ही में छूट गई थी। घर से जाने की कोई जल्दी न थी, लेकिन उन स्मृतियों से परेशान होकर कस्बा छोड़, मैं शहर आ गया था।' यहाँ यह सूत्र स्मृतियों का आश्रय लेकर विकसित होता है और फिर तुरंत ही उपन्यासकार वर्तमान कथा पर आ जाता है।

१. 'बड़ी-बड़ी आँखें' (श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क'), पृष्ठ १४।
२. वही, पृष्ठ १४।

डा० देवराज के लघु उपन्यास 'बाहर-भीतर' में भी यह पद्धति समावेशित हुई है। कथा का नायक अपने जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त करने के बाद भी कुछ अभाव-सा अनुभव करता है, यद्यपि उसकी सफलताएँ उसे प्रायः भर सा देती हैं। अपनी मानसिक दशा का परिचय देने के बाद वह कथा के सूत्र को उठाता हुआ कहता है—'वे बातें, जिन्हें मैं भुला देना चाहता हूँ, क्यों बरबस याद आती हैं। वे चित्र, जिन्हें मैं अब नहीं देखना चाहता, क्यों बार-बार स्मृति-पटल पर उभर आते हैं ? मेरा अतीत मेरे वर्तमान को क्यों इस बुरी तरह घेरे हुए है, जैसे बीत चुकने पर वह अभी विद्यमान है, मर जाने पर भी जीवित है ? अतीत ! कौन कहता है कि अतीत अस्तित्ववान् नहीं है, कि वर्तमान में ओत-प्रोत नहीं हैं, स्पंदित नहीं है ? और यह स्मृति, यह मानो जीवन का ही नहीं, मृत्यु का भी उपकरण है। स्मृति मेरी अपनी है, फिर भी जैसे उसका एक निराला अस्तित्व है—मुझसे भिन्न, उस पर मेरा कुछ अधिकार नहीं है।'[1]

इतनी प्रस्तावना के बाद वह अपने जीवन के दस वर्ष पीछे की स्मृतियों को सँजोने लगता है और उनका क्रम अन्त तक अनवरत् गति से चलने के पश्चात् कथा को समाप्ति तक पहुँचाता है।

इस प्रकार से कथा के विकास की यह पद्धति, अपने विविध रूपों में आधुनिक युग के उपन्यासों में समावेशित हुई है। जैसा कि ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रकट है, इसका समावेश उपन्यासों में प्रायः दो प्रकार से हुआ प्रतीत होता है। एक तो पूर्ण रूप में, जहाँ इसे कथा के प्रारंभ में उपस्थित किया जाता है और अंत तक मूल कथा के विकास के पश्चात् उसे प्रारंभ से सम्बद्ध करके समाप्त किया जाता है। तथा दूसरे अंश रूप में। इसके अनुसार कथा के प्रारम्भ या मध्य में सहसा किसी पात्र की स्मृतियाँ जाग्रत हो उठती हैं, और वह कुछ समय के लिए अतीत में खोने लगता है। प्रथम प्रकार के उपन्यासों में श्री 'अज्ञेय' कृत 'शेखर: एक जीवनी', श्री जैनेन्द्र कुमार कृत 'त्यागपत्र' तथा 'कल्याणी' आदि, श्री इलाचंद्र जोशी कृत 'लज्जा' तथा द्वितीय प्रकार के उपन्यासों में श्री 'अज्ञेय' कृत 'नदी के द्वीप' श्री उपेंद्रनाथ

१. 'बाहर भीतर' (डा० देवराज), पृष्ठ ३ ।

'अश्क' कृत 'बड़ी-बड़ी आँखें' तथा डा० देवराज कृत 'बाहर-भीतर' आदि उपन्यासों के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनमें उपर्युक्त पद्धति के रूपों को देखा जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिंदी उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में कथा-विकास की जो पद्धतियाँ लक्षित होती हैं, उनमें उन्हीं पद्धतियों के रूप मिलते हैं, जिनकी चर्चा इस अध्याय में की गयी है। इन पद्धतियों के विकास को देखने पर यह प्रतीत होता है कि विविध युगों में भिन्न-भिन्न कथा-पद्धतियों की प्रधानता रही है। परवर्तीयुगों में प्रत्येक पूर्ववर्ती पद्धति का विकास नवीन रूपों का आधार ग्रहण करके हुआ है। साथ ही, युगीन प्रवृत्तियों के प्रभाव के फलस्वरूप, इनके विकास-क्रम के बीच अनेक नवीनतर तत्वों का भी समावेश होता रहा है।

अध्याय ६

रचना-उद्देश्य के अनुरूप कथा का संगठन

कथानक का वर्गीकरण

हिन्दी उपन्यास के उद्गम-सूत्रों तथा विकास-युगों पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विषयों की बहुलता और विविधता के होते हुए भी उसमें उद्देश्य की दृष्टि से बहुत भेद-विभेद नहीं है। फिर भी सामान्यत: उन्हें निम्नलिखित छ: भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. शिक्षा-नीति
२. मनोरंजन
३. कुरीति-निवारण अथवा समाज-सुधार
४. मनोविश्लेषण
५. आंचलिक चित्रण
६. हास्य

इन विविध विषयों के अनुसार उपन्यास का विषय-गत विभाजन करने पर यह ज्ञात होता है कि इनके शिल्प-रूपों में भी इनके रचना-उद्देश्य की भिन्नता की दृष्टि से विशिष्टता मिलती है। जिन कथाओं का उद्देश्य किसी भी प्रकार की नीति-शिक्षा देना है, उनमें कथा-शिल्प का विशिष्ट रूप मिलता है। तुलनात्मक दृष्टि से जिनका उद्देश्य मनोविश्लेषण या आंचलिक चित्रण करना है उनमें कथा का स्वरूप भिन्न है। इसी प्रकार उन कथाओं का शिल्प, जिनका उद्देश्य हास्य की सृष्टि करना है, उन कथाओं से भिन्न है जिसका उद्देश्य कुरीति-निवारण अथवा समाज-सुधार है। इसलिए, यहाँ हम उपर्युक्त विभाजन के अनुसार उनकी रचना-पद्धतियों तथा कथा-शिल्प के रूपों को देखने का प्रयत्न करेंगे।

(१) शिक्षा-नीति

इस वर्ग के अन्तर्गत दो प्रकार की कृतियाँ आती हैं। एक तो वे, जिनका उद्देश्य नीति का उपदेश देना है और दूसरे वे, जिनका उद्देश्य किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा देना है। जहाँ तक नीति-कथाओं का सम्बन्ध है, उनका प्राचीन साहित्य 'पंचतंत्र' तथा 'हितोपदेश' आदि के रूप में उपलब्ध होता है। 'पंचतंत्र' में वे कथाएँ पाँच भागों में संगृहीत हैं, जिनकी प्रत्येक कथा में निष्कर्ष रूप में कोई न कोई नीति सम्बन्धी उपदेश मिलता है। ये नीति-उपदेश भारतीय नीति-शास्त्र के उन सिद्धान्तों पर आधारित हैं, जिनका प्रतिपादन मनु, शुक्र तथा चाणक्य आदि भारतीय नीति-शास्त्रियों ने किया है।

जैसा कि अभी कहा गया, 'पंचतंत्र' पाँच भागों में विभाजित है, जो इस प्रकार हैं—

(क) मित्र-भेद
(ख) मित्र-सम्प्राप्ति
(ग) काकोलूकीयम
(घ) लब्धप्रणाशम्
(ङ) अपरीक्षितकारकम्

इनमें से प्रत्येक 'तंत्र' के आरम्भ में एक प्रारम्भिक कथा भूमिका-स्वरूप है, जिसमें पृष्ठभूमि तैयार की जाती है। इसका आरम्भ वर्णनात्मक शैली में होता है, उदाहरणार्थ प्रथम तंत्र के आरम्भ में 'महिलारोप्य नाम के नगर में वर्धमान नाम का एक वणिक्-पुत्र रहता था। उसने धर्मयुक्त रीति से व्यापार में पर्याप्त धन पैदा किया था; किन्तु उतने से संतोष नहीं होता था; और भी अधिक धन कमाने की इच्छा थी। छः उपायों से ही धनोपार्जन किया जाता है—भिक्षा, राज-सेवा, खेती, विद्या, सूद, और व्यापार से। इनमें से व्यापार का साधन ही सर्वश्रेष्ठ है। व्यापार के भी अनेक प्रकार हैं। उनमें से सबसे अच्छा यही है कि परदेश से उत्तम वस्तुओं का संग्रह करके स्वदेश में उन्हें बेचा जाय। यही सोचकर वर्धमान ने अपने नगर से बाहर जाने का संकल्प किया। मथुरा जानेवाले

मार्ग के लिए उसने अपना रथ तैयार करवाया। रथ में दो सुन्दर सुदृढ़ बैल लगवाये। उनके नाम थे—संजीवक और नन्दक।'[1]

प्रारंभिक कथन के अन्तिम भाग में कथाओं के सूत्र को प्रारम्भ करने से पहले कोई नीति-वाक्य कहकर उसके समाधान के रूप में आगे कथा-क्रम आरम्भ करने के लिए भूमि तैयार की जाती है, यथा—'करटक ने उत्तर दिया—'दमनक ! कारण कुछ भी हो, हमें क्या ? दूसरों के काम में हस्तक्षेप करना ठीक नहीं। जो ऐसा करता है, वह उसी बन्दर की तरह तड़प-तड़प कर मरता है, जिसने दूसरे के काम में कौतूहलवश व्यर्थ ही हस्तक्षेप किया था।'

दमनक ने पूछा—'यह क्या बात कही तुमने ?'
करटक ने कहा—'सुनो—'[2]

इसके बाद कथाओं का सूत्र आरम्भ होता जाता है। परन्तु शिल्प की दृष्टि से इस प्रारम्भिक कथन में तथा उसके बाद आनेवाली विविध कथाओं में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि उनका प्रारम्भ भी वर्णनात्मक शैली से होकर अन्त संवाद रूप में, प्रश्न और समाधान में द्वितीय कथा आरम्भ कर देने से होता है। यह क्रम 'तंत्र' के अन्त तक चलता रहता है, जिसमें कथा-शैली फिर वर्णनात्मक रूप धारण कर लेती है, उदाहरणार्थ, प्रथम तंत्र के अन्त में है—'मित्र-हत्या के बाद पिंगलक को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, किन्तु दमनक ने आकर पिंगलक को फिर राजनीति का उपदेश दिया। पिंगलक ने दमनक को फिर अपना प्रधान-मन्त्री बना लिया। दमनक की इच्छा पूरी हुई। पिंगलक दमनक की सहायता से राज्य-कार्य करने लगा।'[3]

पाँच तंत्रों में से पहला, तीसरा, चौथा तथा पाँचवाँ सुखान्तक है, जिसमें नीति-मूल होने पर भी अन्त में कोई नीति-वाक्य अथवा उपदेश नहीं है, परन्तु दूसरे में अन्त सुखप्रद होते हुए भी निष्कर्षात्मक पंक्तियाँ जोड़ी गयी मिलती हैं,

१. 'पंचतंत्र' (रूपांतरकार—श्री सत्यकाम विद्यालंकार), पृष्ठ १३।
२. वही, पृष्ठ १५।
३. वही, पृष्ठ ९४।

जैसे—'मित्रता में बड़ी शक्ति है। मित्र संग्रह करना जीवन की सफलता में बड़ा सहायक है। विवेकी व्यक्ति को सदा मित्र-प्राप्ति में यत्नशील रहना चाहिये।'[1]

'पंचतंत्र' की ही परिपाटी पर उसी उद्देश्य से आगे चलकर 'हितोपदेश' की रचना हुई। उसके चार खंड हैं—

(क) मित्र-लाभ

(ख) सुहृद्-भेद

(ग) विग्रह

(घ) सन्धि

'हितोपदेश' की रचना श्री नारायण पंडित ने राजपुत्रों को शिक्षा देने के लिए की थी। इसका आरम्भ भी वर्णनात्मक शैली से होता है और अन्त में वह सम्वाद-रूप ग्रहण करके भावी कथा-सूत्र के लिये मार्ग प्रशस्त करती है। उदाहरणार्थ प्रारंभ इस प्रकार है 'गोदावरी के तट पर सेमर का एक विशाल वृक्ष था। उसकी शाखाओं पर भाँति-भाँति के पक्षी रहते थे। उसी वृक्ष पर लघुपतनक नाम का एक कौवा भी रहता था। एक दिन प्रातःकाल उसे एक शिकारी दिखायी पड़ा। उस शिकारी को देखकर वह ऐसे डरा मानो उसी का काल मनुष्य-रूप में आ रहा हो। वह सोचने लगा—यह अपशकुन आज न जाने क्या अनर्थ करेगा?'[2] तथा अन्त इस प्रकार होता है—'भाइयों, मैं फिर कहता हूँ कि इन दानों से दूर रहना चाहिये। कहीं लोभ में फँसकर हमारा भी वही हाल न हो जो लोभ के कारण एक राहगीर का हुआ था।'

'राहगीर की क्या कथा है? कबूतरों ने पूछा। चित्रग्रीव ने राहगीर की कथा सुनायी………… ।'[3]

प्रथम खंड के अन्त में आशीर्वाद के रूप में गुरू तथा राजकुमारों का वार्तालाप कथा-समाप्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है—कथा सुनने के बाद राजपुत्र बोले—'गुरुदेव, आपकी कृपा से इस नीतिपूर्ण कहानी को सुनकर हमें प्रसन्नता हुई।'

१. 'पंचतंत्र' (रूपान्तरकार, श्री सत्यकाम विद्यालंकार), पृष्ठ १३०।
२. 'हितोपदेश' (प्रकाशक, राजपाल ऐंड संस, दिल्ली), पृष्ठ १२।
३. वही, पृष्ठ १३।

विष्णु शर्मा—'तुम्हारी ही भाँति भगवान् सबको सुख और शान्ति प्रदान करे।'[1]

इसके पहले खंड में कोई प्रारम्भिक कथन नहीं है, परन्तु दूसरे, तीसरे और चौथे खंडों में संक्षिप्त वार्तालाप के रूप में आगे की कथा का उद्देश्य और विषय स्पष्ट किया गया है। उदाहरण के लिए दूसरे खंड के आरम्भ में यह इस प्रकार है—'राजपुत्रों ने विष्णु शर्मा को प्रणाम करके कहा—'गुरुदेव! हमने मैत्री के भाव समझ लिये। अब कृपया आप हमें कोई दूसरा प्रसंग सुनाइये।'

विष्णु शर्मा बोले—'राजपुत्रों! अब हम आप लोगों को मित्रों में भेद डालने वाली शेर, बैल और सियार की नीति-कथा सुनाते हैं।'

राजपुत्र बोले—'वह क्या कथा है गुरुदेव!'

विष्णु शर्मा बोले—'सुनो—'[2]

अंतिम खंड की समाप्ति पर गुरु राजकुमारों को अपना आशीर्वाद देकर प्रजा-पालन का सन्देश देकर विदा करते हैं—'विष्णु शर्मा बोला—'राजपुत्रों, मैंने तुम्हें सन्धि-नीति भी सुनायी। अब आप लोग और क्या सुनना चाहते हैं?'

राजपुत्र—'गुरुदेव, आपकी कृपा से हमें नीति का समुचित ज्ञान हो गया है। अब हमें आप कृपा करके अपना आशीर्वाद दीजिये।'

विष्णु शर्मा—'ऐसा है तो आओ, हम लोग कल्याण के लिये अपने आराध्य देव से प्रार्थना करें। तदनंतर तुम अपने राज्य में जाकर अपनी प्रजा का पालन-पोषण करो।'[3]

'परीक्षा-गुरु' भी, जो हिंदी का सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है, इसी उद्देश्य से लिखा गया था। इस उपन्यास में ऐसे अनेक उद्धरण मिल सकते हैं। लेखक ने स्थान-स्थान पर देशी-विदेशी मान्य ग्रन्थों तथा इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं के उदाहरण देकर औचित्य की सार्थकता सिद्ध की है, जैसे—'इसलिए दूसरे की प्रसन्नता के हेतु अधर्म करने का किसी को अधिकार नहीं है इसी तरह अपने या

१. 'हितोपदेश' (भाषान्तरकार, श्री 'आनन्द'), पृष्ठ ४१।
२. वही, पृष्ठ २।
३. वही, पृष्ठ १९४।

औरों के लाभ के लिए दूसरे के वाजबी हकों मैं अंतर डालने का भी किसी को अधिकार नहीं हैं। जिस्समय महाराज रामचंद्र जी नें निर्दोष जनकनंदनी का परित्याग किया जानकी जी को कुछ थोड़ा दुःख था ? परन्तु वह गर्भनाश के भय से अपना शरीर न छोड़ सकी हाँ जिस्तरह उन्नें अकारण अत्यन्त दुःख पानें पर भी कभी रघुनाथ जी के दोष नहीं विचारे थे इस तरह सब प्राणियों को अपनें विषय में अपराधी के अपराध क्षमा करनें का पूरा अधिकार है और इस तरह अपनें निज के अपराध का क्षमा करना मनुष्य मात्र के लिए अच्छे से अच्छा गुण समझा जाता है परन्तु औरों को किसी तरह की अनुचित हानि हो वहाँ यह रीति काम मैं नहीं लाई जा सक्ती।'[1]

भारतेन्दु-युग में बहुत से ऐसे उपन्यासकार हुए हैं, जिन्होंने प्रधान रूप से तो शिक्षा देने अथवा नीति के उपदेश के उद्देश्य से उपन्यास-रचना नहीं की, परन्तु उनकी रचनाओं में प्रसंग रूप से इनका समावेश हुआ है। ऐसे उपन्यासकारों में पंडित बालकृष्ण भट्ट, श्री देवकीनंदन खत्री तथा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक-युग में नीति-विषयक मूल्यों के पुनर्निधारण दृष्टि से 'चित्रलेखा' एक उल्लेखनीय प्रयत्न है। पाप और पुण्य, नीति और अनीति, सत्य और असत्य, यथार्थ और भ्रम आदि की समस्याओं और नीति-सम्बन्धी नवीन मूल्यों की स्थापना को आधार बनाकर चलने वाला यह उपन्यास शिल्प के वाह्य रूपों में उपर्युक्त के ही अनुसार है।

इसमें सबसे पहले एक शंका के रूप में उपन्यास आरंभ करते हुए एक प्रश्न उपस्थित किया जाता है—'श्वेतांक ने पूछा—'और पाप ?'

महाप्रभु रत्नाम्बर मानों एक गहरी निद्रा से चौंक उठे। उन्होंने श्वेतांक की ओर एक बार बड़े ध्यान से देखा—'पाप ? बड़ा कठिन प्रश्न है वत्स ! पर साथ ही बड़ा स्वाभाविक ! तुम पूछते हो, पाप क्या है।'[2]

यह अंश उपन्यास की 'उपक्रमणिका' का प्रारंभिक अंश है, जिसमें नीति-

१. 'श्रीनिवास ग्रंथावली' (डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ २६३।
२. 'चित्रलेखा' (श्री भगवतीचरण वर्मा), उपक्रमणिका, पृष्ठ ५।

कथानक-पद्धति के अनुसार एक प्रश्न उपस्थित किया जाता है। इस अंश की समाप्ति इन पंक्तियों से होती है—'दूसरे दिन कुटी खाली पड़ी थी। गुरु साधना के शुष्क क्षेत्र में और शिष्य अथाह संसार में निकल पड़े थे।'[1]

वर्णनात्मक शैली में 'उपक्रमणिका' के रूप में प्रस्तुत किये गये इस अंश के पश्चात् इसी शैली में कथा का व्यावहारिक आरम्भ हो जाता है। वह एक-से-दूसरे सूत्र तक विस्तार पाती हुई समाप्ति तक पहुँचती है। कथा का अन्त होने पर समाधान के रूप में 'उपसंहार' शीर्षक से एक अंश को निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत किया जाता है। अपने शिष्यों से उनके विचार सुनने के बाद रत्नाम्बर कहते हैं—'तुम दोनों विभिन्न परिस्थितियों में रहे और तुम दोनों की पाप की धारणाएँ भिन्न-भिन्न हो गयी हैं। तुम लोग जा रहे हो—तुम्हारी विद्या पूर्ण हो चुकी। अब अपना अन्तिम पाठ मुझसे सुने जाओ।............संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।............संसार में इसलिए पाप की एक परिभाषा नहीं हो सकी—और न हो सकती है। हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं, जो हमें करना पड़ता है।..........यह मेरा मत है—तुम लोग इससे सहमत हो या न हो, मैं तुम्हें बाध्य नहीं करता और न कर सकता हूँ। जाओ और सुखी रहो। यह मेरा तुम्हें आशीर्वाद है।'[2]

नीति-कथा-रूपों की भाँति इसमें भी प्रारंभिक अंश, समाप्ति अंश तथा मध्य-कथा की रचना हुई है, जो इसका निर्धारित रूप है। साथ ही अन्त निष्कर्षात्मक तथा आशीर्वादात्मक है, जो इस विषय की कथा-रचना का मुख्य उद्देश्य होता है।

आधुनिक युग में भी ऐसे उपन्यासों की संख्या कम नहीं है, जो इस उद्देश्य से लिखे गये हैं। प्रेमचन्द तथा उनके युग के अधिकांश उपन्यासों में उपदेशात्मकता के तत्व विद्यमान हैं। इनमें से प्रेमचन्द, विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि बहुत से उपन्यासकार ऐसे हैं जिनकी कुछ औपन्यासिक कृतियों में इनकी बहुलता भी हो गयी है। इस प्रवृत्ति को आधुनिक नैतिक मूल्यों के पुनर्निर्धारण के सन्दर्भ में विशेष रूप से प्रधानता दी गयी है।

१. 'चित्रलेखा' (श्री भगवतीचरण वर्मा), उपक्रमणिका, पृष्ठ ८।
२. वही, पृष्ठ १९४।

(२) मनोरंजन

हिन्दी कथा-साहित्य की सर्वप्रथम रचना 'रानी केतकी की कहानी' थी, जिसकी रचना का उद्देश्य मनोरंजन ही था। भारतेन्दु युग में जितने उपन्यास लिखे गये, उनमें से भी अधिकांश की रचना का यही उद्देश्य था। श्रीयुत वृन्दावनलाल वर्मा के विचार से उपन्यास केवल मनोरंजन के लिए नहीं हैं। और जहाँ तक उपदेशात्मकता का संबंध है, उनका विचार है कि उपदेश भी उपन्यास में नहीं होना चाहिए। इस दृष्टि से फिल्मों के साथ उपन्यास की तुलना संभव है। वर्मा जी का विचार है कि पूर्ण रूप से केवल मनोरंजन के ही उद्देश्य से न तो फिल्म ही बनाया जाना चाहिए और न उपन्यास की ही रचना होनी चाहिए। उपदेशात्मकता की ध्वनि अवश्य प्रत्यक्षत: फिल्म से निकल सकती है, जब कि उपन्यास से नहीं निकलनी चाहिए।[1] पुडोवकिन ने अपनी पुस्तक[2] में यह विवेचना की है कि साहित्य और फिल्म दोनों में ही सम्पादन-कौशल का कितना महत्व होता है। बुचानन ने कथात्मक फिल्मों के विषय में विस्तार से विचार किया है और कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं।[3]

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने यह स्वीकार किया है कि उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन है, परन्तु वह नीतिपूर्णता के भी समर्थक हैं। उन्होंने लिखा है—'इसमें संदेह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन है। परन्तु मनोविनोद के लिए अनाचार से पूर्ण उपन्यासों की ही जरूरत है, यह कहना अनुचित है। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं, जिन्हें ऐसी ही बातें पसन्द आती हैं, जो समाज की दृष्टि में हेय हैं। पर अधिकांश लोगों का ऐसी बातों से मनोविनोद होता है, जो बिल्कुल स्वच्छ रहती हैं।'[4]

१ श्री वृन्दावनलाल वर्मा के एक पत्र के आधार पर।

२. 'Film Technique' By V. I. Pudovkin, (Translated and Annotated by Ivor Montagu).

३. 'Film Making—From Script to Screen' By Andrew Buchanan.

४. 'साहित्य परिचय' (प्रकाशक, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई), पृष्ठ ९४।

वास्तव में हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम, मनोरंजन की दृष्टि से, उपन्यास-रचना करने वाले बाबू देवकीनन्दन खत्री थे। उनके युग के ही गोपालराम गहमरी ने भी केवल इसी उद्देश्य से अपनी औपन्यासिक कृतियों की रचना की थी। ये दोनों उपन्यासकार जासूसी, तिलिस्मी तथा ऐय्यारी आदि विषयों पर उपन्यास लिखते थे। ये उपन्यास वास्तव में जनता का मनोरंजन करने में समर्थ हुए तथा इनका जनता द्वारा बहुत अधिक स्वागत किया गया। इनमें से खत्री जी के उपन्यासों के कथानक तिलिस्मी हुआ करते थे तथा गहमरी जी के जासूसी। यों सन् १८८८ में ठाकुर जगमोहन सिंह ने 'श्यामा स्वप्न' तथा सन् १८९३ में पंडित अंबिकादत्त व्यास ने 'आश्चर्य वृत्तांत' की रचना भी इसी उद्देश्य से की थी।

'चंद्रकांता' तथा 'चंद्रकांता संतति' की रचना यों तो मूलतः मनोरंजन के ही लिए हुई थी, परन्तु इसका एक और भी उद्देश्य था, जो लेखक ने 'चंद्रकांता' की भूमिका में स्पष्ट किया है—'सबसे ज्यादा तो यह है कि ऐसी किताबों को पढ़ने वाला जल्दी किसी के धोखे में न पड़ेगा।'[1]

खत्री जी के उपन्यासों में प्रेम-व्यवहार, षड्यंत्र-रचना, ऐय्यारी, तथा जासूसी से भरी हुई आश्चर्यपूर्ण घटनाओं की ही प्रधानता है। इस दृष्टि से यह उल्लेखनीय बात है कि इन उपन्यासों के कथानक जहाँ एक ओर रोचकता से पूर्ण हैं, वहाँ उनका सूत्र-गठन भी कुशलतापूर्वक हुआ है। अनेक प्रकार की कौतूहलजनक घटनाओं का समावेश और निर्वाह इतने सधे हाथों से किया गया प्रतीत होता है कि कथा-संगठन में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पायी है। इन उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता तथा कथानक के विकास पर अधिक बल नहीं दिया गया है, क्योंकि किसी प्रकार की शिक्षा आदि देना इन उपन्यासों का उद्देश्य नहीं था। इनका उद्देश्य केवल पाठकों का मनोरंजन करना था और इस दृष्टि से उनमें केवल पाठकों के कौतूहल को बनाये रखने का प्रयत्न ही मुख्य होता है।

भारतेन्दु-युग के अधिकांश उपन्यासों के कथानक रचना-उद्देश्य के अनुसार ही अधिक से अधिक रोचक बनाये गये हैं। इनमें कौतूहलजनक आश्चर्यपूर्ण

१. 'चंद्रकांता' (श्री देवकीनंदन खत्री), भूमिका।

घटनाओं के साथ सामान्य प्रेम-भावनाओं को भी प्रश्रय दिया गया है, जिससे पाठक को उनमें आकर्षण प्रतीत हो। यों मनोरंजन का लक्ष्य तो प्रधान होता ही था।

आधुनिक-युग में सर्वप्रथम प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। उनके 'गोदान' उपन्यास में विशेष हर्ष के अवसरों पर मनोरंजन के लिए स्वाँग आदि का आयोजन किया जाता है। इनमें व्यंग्य रूप में अन्याय का परिचय देने के लिए नकल उतारी जाती है। इस उपन्यास में ऐसे ही एक अवसर पर ग्रामीण-जन एक प्रहसन खेलते हैं। प्रहसन का आरंभ इस प्रकार होता है—एक किसान ठाकुर के पास आकर, उसके पैरों पर गिरकर सिसकते हुए उससे कुछ रुपये माँगता है। काफी टालने के बाद अंत में ठाकुर उसे दस रुपये उधार देने को तैयार होता है। किसान से कानूनी कागज पर हस्ताक्षर कराने के पश्चात् वह केवल पाँच रुपये ही उसके हाथ पर रखता है। किसान को आश्चर्य होता है। वह पूछता है—

'यह तो पाँच ही हैं, मालिक।'
'पाँच नहीं दस हैं, घर पर जाकर गिनना।'
'नहीं सरकार, पाँच हैं।'
'एक रुपया नजराने का हुआ कि नहीं?'
'हाँ सरकार।'
'एक तहरीर का।'
'हाँ सरकार।'
'एक कागज का?'
'हाँ सरकार।'
'एक दस्तूरी का?'
'हाँ सरकार।'
'एक सूद का?'
'हाँ, सरकार।'
'पाँच नगद। दस हुए कि नहीं?'
'हाँ, सरकार। अब यह पाँचों भी मेरी ओर से रख लीजिये।'
'कैसा पागल है।'
'नहीं सरकार', एक रुपया छोटी ठकुराइन का नजराना है, एक रुपया बड़ी

ठकुराइन का। एक रुपया छोटी ठकुराइन के पान खाने को, एक रुपया बड़ी ठकुराइन के पान खाने को। बाकी बचा एक, वह आपके क्रिया-कर्म के लिए।'[१]

हिंदी उपन्यास का प्रवृत्तिगत अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि मुख्यत: मनोरंजन के उद्देश्य से उपन्यास-रचना करनेवाले लेखक बहुत कम हुए हैं। भारतेन्दु-युग में इस धारणा का प्रचार अवश्य था कि उपन्यास-रचना का उद्देश्य केवल मनोरंजन भी हो सकता है। परंतु चूँकि उस युग में ही ऐसे उपन्यास ही अधिक संख्या में लिखे गये, जिनमें शिक्षा, नीति, उपदेशात्मकता, तथा सुधार आदि की भावनाओं की प्रधानता थी, अत: यह मत अधिक ग्राह्य नहीं हुआ। परवर्ती युगों में तो यह तत्व उपन्यास में गौण रूप से ही अधिकांशत: समावेशित हुआ है। हाँ, हास्य-तत्व का आश्रय लेकर इसका एक भिन्न रूप अवश्य वर्तमान युग में विकासशील है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

(३) कुरीति-निवारण अथवा समाज-सुधार

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में सर्वप्रथम लाला श्री निवासदास ने 'परीक्षा गुरु' की रचना करके सुधार-विषयक उपन्यासों की परम्परा का प्रवर्त्तन किया। इसमें एक भले मित्र के द्वारा एक व्यक्ति के उद्धार की कहानी है, जो कुसंगति में पड़कर ऋणी हो गया था। इसकी कथा में रसात्मकता नहीं है। चरित्र-चित्रण अवश्य सामयिक उपन्यासों से भिन्न प्रकार का है। शैली वर्णनात्मक है। फिर भी समाज के वर्गों और मनोवृत्ति का परिचय कहीं-कहीं मिल जाता है। उदाहरण के लिए—'मदन मोहन का पिता पुरानी चाल का आदमी था। वह अपना बूता देखकर काम करता था और जो करता था वह कहता नहीं फिरता था। उसने केवल हिन्दी पढ़ी थी, वह बहुत सीधा-सादा मनुष्य था..........वह लोगों की देखा-देखी नहीं, अपनी बुद्धि से व्यापार करता था..........इस समय जिस तरह बहुधा मनुष्य तरह-तरह की बनावट और अन्याय से औरों की जमा मारकर साहूकार बन बैठते हैं, सोने-चाँदी की जगमगाहट के नीचे अपने घोर पापों को छिपाकर सज्जन

१. 'गोदान' (प्रेमचन्द)।

बनने का दावा करते हैं..........ऐसा उसनें नहीं किया था..........वह आप कभ
बढ़कर न चला।"[1]

यह उपन्यास शिक्षा-प्रद है तथा यह ध्वनि स्थान-स्थान पर इसके अंशों से निकलती भी दिखायी देती है। इसके बाद लिखे गये शिक्षा-प्रद उपन्यासों में पंडि बालकृष्ण भट्ट लिखित 'नूतन ब्रह्मचारी' उल्लेखनीय है। इसमें यह दिखाया गय है कि किस प्रकार से एक युवक के सद्-आचरण से प्रभावित होकर एक ऐसे डाक का सुधार हुआ, जिसने जीवन भर में कभी दया नहीं की थी तथा जो अत्यन्त कठोर और क्रूर था। राधाकृष्ण दास लिखित 'निस्सहाय हिन्दू' में गो-वध क समस्या को उठाया गया है। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय लिखित 'ठेठ हिन्दी क ठाठ' में अनमेल विवाह की समस्या पर विचार किया गया है, तथा उसके कुफल क ओर संकेत किया गया है।

पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ने उपन्यासों में प्रेम-तत्व का समावेश तो किय ही है, उन्हें शिक्षा-प्रद बनाने का भी प्रयत्न किया है। उन्होंने अपने दृष्टिकोण के विषय में लिखा है—'प्रेम और प्रेमतत्व को सभी चाहते हैं, पर इसका उपाय बहुत कम लोग जानते होंगे, प्रेमिक प्रेम पाने के लिए व्याकुल तो होते हैं; सभी अपने लिए दूसरे को पागल करना चाहते हैं, पर अभी तक इसका उपाय बहुतों ने नहीं जाना है। इसका अभाव केवल उपन्यास ही दूर करता है इसीलिए प्राचीनतम कवियों ने और साम्प्रदायिक यूरोपीय कवियों ने उपन्यास की सृष्टि की जो बात झूठ-सच से नहीं होती, तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र से नहीं बनती, वह प्रेम के विज्ञान 'उपन्यास' से सिद्ध होती है। ....इसके पढ़ने से मनुष्य के हृदय के ऊपर बड़ा असर होता है, और सब बात बनती है।..........'[2]

समस्या-प्रधान उपन्यासों में प्रेमचन्द के लिखे हुए उपन्यास बहुत महत्व के हैं। इनके उपन्यासों के प्रमुख विषय विधवा-समस्या, वेश्या-समस्या, दहेज-समस्या, अनमेल विवाह की समस्या, शोषण की समस्या आदि हैं। वर्तमान युग में मनोविज्ञान से संबंध रखनेवाली समस्याओं की बहुलता के कारण उपन्यास के कथा-संगठन को नयी दिशा मिली।

१. 'श्रीनिवास ग्रन्थावली' (सं० डा० श्रीकृष्ण लाल), पृष्ठ ३०८।
२. 'सुखशर्वरी' (श्री किशोरीलाल गोस्वामी), निदर्शन।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में सर्वप्रथम 'सेवासदन' में समाज-सुधार की भावनाओं का समावेश बहुलता से मिलता है। इसमें अनेक सामाजिक कुरीतियों के कुप्रभाव को दिखाया गया है। इसमें एक समाज-सुधारक शर्मा जी एक स्थान पर विट्ठलदास से कहते हैं—'.......आप अगर एक घण्टे के लिए मेरे साथ दालमण्डी चलें तो आपको मालूम हो जायगा कि जिसे आप ज्वालामुखी पर्वत समझे बैठे हैं, वह केवल बुझी हुई आग का ढेर है। अच्छे और बुरे आदमी सब जगह होते हैं। वेश्याएँ भी इस नियम से बाहर नहीं हैं। आपको यह देखकर आश्चर्य होगा कि उनमें कितनी श्रद्धा, पाप-जीवन से कितनी घृणा, अपने जीवनोद्धार की कितनी अभिलाषा है। मुझे स्वयं इस पर आश्चर्य होता है। उन्हें केवल एक सहारे की आवश्यकता है जिसे पकड़कर वह बाहर निकल आवें। पहले तो वह मुझसे बात तक न करती थीं, लेकिन जब मैंने उन्हें समझाया कि मैंने यह प्रस्ताव तुम्हारे उपकार के लिए किया है, जिससे तुम दुराचारियों, दुष्टों तथा कुमार्गियों की पहुँच से बाहर रह सको, तो उन्हें मुझ पर कुछ-कुछ विश्वास होने लगा। नाम तो न बतलाऊँगा, लेकिन कई धनी वेश्याएँ धन से मेरी सहायता करने को तैयार हैं। कई अपनी लड़कियों का विवाह करना चाहती हैं। इस समय एक ऐसे अनाथालय की आवश्यकता है, जहाँ वेश्याओं की लड़कियाँ रखी जा सकें और उनकी शिक्षा का उत्तम प्रबंध हो।'[1]

उपन्यास-साहित्य में जिन समस्याओं अथवा कुरीतियों की ओर संकेत किया जाता है, उनका आधार सामयिक-सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं। इस विषय से संबंध रखनेवाले सहस्रों उदाहरण विविध औपन्यासिक कृतियों में से दिये जा सकते हैं, परंतु यहाँ उनकी आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि इनके पीछे उपन्यासकार की सुधार-भावना होती है, जो किसी सामाजिक समस्या पर अपने विचार प्रकट करने का अवसर कथा-कृति में निकाल लेता है। यह प्रवृत्ति प्रायः प्रत्येक विकास-युग के कथा-साहित्य में मिलती है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में कुरीति-निवारण अथवा समाज-सुधार के उद्देश्य से लिखे गये उपन्यासों की परम्परा पर एक दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि

१. 'सेवासदन' (प्रेमचन्द), पृष्ठ २९० ।

स्थूल रूप से कुछ विशेष प्रकार की समस्याओं को प्रारंभिक युग के उपन्यासों में उठाया गया था। कथा-साहित्य के परवर्ती विकास-युगों में उन्हीं समस्याओं के अन्य पहलुओं से संबंध रखनेवाले प्रश्नों को किंचित् विस्तृत आधार-भूमि पर प्रस्तुत किया गया। उदाहरण के लिए भारतेंदु-युग में बाल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह आदि की जो समस्या-प्रवृत्ति दिखायी देती है, परवर्ती युगों में इसमें अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह, दहेज की समस्या, वेश्या-समस्या, संयुक्त परिवार की समस्या आदि का भी समावेश हो गया। इसी प्रकार राजनैतिक समस्याओं में स्वराज्य, क्रान्ति, शोषण, वैचारिक स्वतन्त्रता आदि की समस्याएँ हैं जिनका समावेश उपन्यासों में बहुलता से हुआ है। परन्तु वर्तमान युग के हिन्दी उपन्यास में मनोवैज्ञानिक समस्याओं को ही प्रधानता दी गयी है, जिसका आधार मनोविश्लेषणात्मक खोज के फलस्वरूप मान्य सिद्धान्त हैं। इनके विषय में आगे लिखा जा रहा है।

(४) मनोविश्लेषण

मनोविश्लेषणात्मक उद्देश्य से हिन्दी में जो उपन्यास लिखे गये हैं उनका शिल्प सर्वथा नवीन रूपों को ग्रहण किये हुए प्रतीत होता है। इस दृष्टि से जो सबसे बड़ा परिवर्तन इस प्रवृत्ति के अंतर्गत आने वाले उपन्यासों में दिखायी पड़ता है, वह यह है कि कथा-रचना में नाटकीय तत्वों की सर्वथा अप्रधानता होने लगी, जब कि आधुनिक युग के पूर्व के उपन्यास-साहित्य में इनका समावेश बहुलता से होता था। उपन्यास के कथा-विकास की दृष्टि से इन तत्वों का समावेश उन स्थलों पर होता था, जहाँ लेखक किसी विशेष बात को कहना या दिखाना चाहता था और कथा के कलात्मक विकास द्वारा वह संभव नहीं होता था। परंतु अब इन तत्वों का स्थान मनोविश्लेषण ने ले लिया है, जिसके माध्यम से मानव-चरित्र की विविध परिस्थितियों में प्रतिक्रियाओं का निदर्शन अधिक स्पष्टता से सम्भव है। मनोविश्लेषण-शास्त्र के तत्वों के समावेश की दृष्टि से खोजा जाय, तो आधुनिक युग के अधिकांश उपन्यासों में ये तत्व विद्यमान मिलेंगे। हिन्दी के सर्वप्रमुख उपन्यासकार प्रेमचन्द के उपन्यासों में सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक दृष्टि की निहिति के संकेत मिलते हैं। परन्तु उद्देश्य की दृष्टि से वे उपन्यास इस वर्ग में नहीं आते।

जिन उपन्यासों को मनोविश्लेषणात्मक कहा जाता है, उनमें कथानक के प्रति अनिवार्य रूप में आग्रह नहीं होता। हो सकता है कि उनका कथानक सुगठित हो, जैसे इलाचन्द जोशी के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में; और हो सकता है कि उनका कथानक पूर्णता छिन्न-भिन्न हो, उदाहरण के लिये 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी', तथा जैनेन्द्र कुमार लिखित 'त्यागपत्र' में। इसी प्रकार इस कोटि के अन्तर्गत आनेवाले उपन्यासों के कथानकों में काल-विस्तार भी अनिवाय नहीं होता। इनमें केवल कुछ वर्षों; कुछ महीनों, कुछ दिनों और यहाँ तक कि कुछ घंटों तक ही उसका विस्तार मिलता है। इसी के अनुसार पात्रों की संख्या भी घटती रहती है। शिल्प की सफलता की दृष्टि से भी इस प्रकार के उपन्यासों में कम-से-कम पात्रों का रहना ही अच्छा होता है, जिनमें प्रधान पात्र एक ही होता है।

प्रमुख मनोविश्लेषक उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार ने अपने सर्वोत्कृष्ट उपन्यास 'सुनीता' की प्रस्तावना में कहा है—'पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी-चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। अत: तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे-से-छोटे खंड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भो सकते हैं। जो ब्रह्मांड में है, वही पिंड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े उपन्यास की जरूरत मुझे नहीं लगो। थोड़े में समग्रता क्यों न दिखायी जा सके ?'[1]

'सुनीता' के पहले अध्याय में बड़ी सरलता से हरिप्रसन्न की ओर संकेत कर देने के पश्चात् उपन्यासकार बराबर बड़े कलापूर्ण ढंग से उसी का प्रसंग उठाता है। उदाहरणार्थ दूसरे अध्याय के प्रारम्भ में 'अब जब पक्की सड़क की राह चलते श्रीकान्त गृहस्थ वकील बन गया है तब सोचता है कि अरे, वह हरिप्रसन्न कहाँ है ? वह भला है कि गृहस्थी में नहीं है, और वकालत में नहीं है। क्या अब भी वह जीवन के साथ परीक्षण करने में वैसा ही उदात्त है ? वैसा ही उद्यत है ? मैं तो जिम्मेदार नागरिक बन गया हूँ। परीक्षण हमारे लिए नहीं है। कानू । सम्मत

१. 'सुनीता' (श्री जैनेंद्रकुमार), प्रस्तावना।

नागरिकता हमारे लिए है।'[1] और इसी प्रकार तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में उसका प्रसंग उठाया जाता है—श्रीकान्त हरिप्रसन्न को पत्र लिखता है। चौथे अध्याय में भी वह हरिप्रसन्न को भेजे गये खत के वापस आ जाने पर चिन्तन करता है क्योंकि वह चाहता है कि 'घर में कुछ ऋतु बदले, नहीं तो वहाँ अलसता और जड़ता-सी छा जाती है। बहुतेरी बार ऐसा हो गया है कि एक कमरे में होने पर भी कई मिनट तक उसे सुनीता से कहने को कुछ नहीं सूझा है, और सुनीता भी चुपचाप रही है। तब दम घुट गया है। ऐसा क्यों हो जाना चाहिए। इसका कोई समर्थन, कोई कारण उसके मन को नहीं मिलता।'[2] और यहाँ तक कि पाँचवें अध्याय में प्रयाग में वह हरिप्रसन्न को देख ही लेता है, यद्यपि वह उसे दूर से ही देख पाता है। छठे अध्याय के आरम्भ में ही श्रीकान्त लौटकर हरिप्रसन्न को खोजने चल देता है। सातवें अध्याय में वह दिल्ली आकर हरिप्रसन्न को ढूँढने का प्रयत्न करता है और वह उसे मिल ही जाता है।

किसी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उपन्यास के प्रारम्भिक सात अध्यायों में लगातार उपन्यासकार ने क्यों इस प्रकार हरिप्रसन्न का प्रसंग ही छेड़ा और कथा को किसी अन्य मार्ग से आगे नहीं बढ़ने दिया। वास्तव में मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास के कथा-शिल्प की यही विशेषता होती है। उपन्यासकार कथा का एक मुख्य आधार-सूत्र बना लेता है। फिर वह उसी को तब तक गति देता रहता है, जब तक उसका लक्ष्य-बिन्दु नहीं आ जाता। यही कारण है कि उपन्यासकार ने बिना इस बात की चिन्ता किये हुए कि पाठकों को बराबर वही हरिप्रसन्न का प्रसंग आने पर और कथा में कोई विकास न होने पर झुँझलाहट प्रतीत होगी, उस प्रसंग को तब तक उसी रूप में उठाये रखा है। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में कथा-विकास भी इसी रूप में होता है।

'सुनीता' में उपन्यास के प्रारंभ में लगातार सात अध्यायों तक केवल एक पात्र—हरिप्रसन्न—का प्रसंग मिलने के बाद भी आगे के दसियों अध्यायों में उसी का प्रसंग रहता है। सन्देह होता है कि क्या उपन्यासकार को और कुछ नहीं

१. 'सुनीता' (श्री जैनेन्द्र कुमार), पृष्ठ ७।
२. वही, पृष्ठ ११।

कहना है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। उपन्यासकार को बहुत-कुछ कहना होता है, वह उस सबको कहता भी है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उसे लम्बी-चौड़ी कहानी के रूप में और उसी के माध्यम से कहा जाय। लेखक ने पहले ही कह दिया है कि 'कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। अतः तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है।' उपन्यासकार का यह विश्वास है कि इस विश्व के छोटे-से-छोटे खंड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्मांड में हैं, वही पिंड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े केन्वास की जरूरत मुझे नहीं लगी, थोड़े में समग्रता क्यों न दिखायी जा सके ?''[1]

परन्तु इस विवरण से यह अर्थ न समझना चाहिए कि मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास का कथानक किन्हीं औपचारिक विधियों से ही विस्तार पाता है। वास्तव में उपन्यासकार कथानक-विकास की दृष्टि से आनेवाली रूढ़ियों की उपेक्षा करके सूक्ष्म तत्वों के विवेचन के लिए भी अवसर पा लेता है। 'सुनीता' से एक स्थल देखिए—'और वह पत्नी है, फिर भी नारी है। कौन अपने आप में पूर्ण है ? कौन विमुखता में, नकार में पूर्ण होना चाहता है ? और उसकी उम्र अभी है भी कितनी ? उसमें क्या जगत् के प्रति उत्सुकता सर्वथा शान्त हो गयी है ? वह कब वैचित्र्य के प्रति जिज्ञासु और सामर्थ्य के प्रति उन्मुख नहीं रही है ? वह क्या हाड़-मांस की नहीं है ? वह पत्नी है, पर नारी है। वह पति में ही नहीं, स्वयं भी है। तभी तो यह आग्रहपूर्वक श्रीकान्त के स्मरण और प्रतिस्मरण की उसमें अदम्य, हठीली चेष्टा है। वह जिसका निमन्त्रण हरिप्रसन्न के द्वारा उसे मिल रहा है, क्या रहस्यमय नहीं है ?—इतने ही से नारी-हृदय उस ओर बिना खिले कैसे रहे ? स्वयं यह हरिप्रसन्न ही क्या रहस्यमय नहीं है ?—तब उस भेद को भी क्यों न नारी-हृदय में घुसकर पा लेना चाहे।'[2]

इस उपन्यास में, जो वर्णनात्मक शैली में लिखा गया है, उपन्यासकार ने

१. 'सुनीता' (श्री जैनेन्द्र कुमार), प्रस्तावना, पृष्ठ ४।
२. वही, पृष्ठ १६०।

मनोविश्लेषण के आधार पर कथा में घुमाव-फिराव उत्पन्न किये हैं। लेखक में सूत्र उपजाने और गूढ़ संकेत देने की असाधारण क्षमता है। प्रारंभिक पंक्तियों में ही वह उपन्यास में दो मित्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्ठता का आभास देकर एक नींव-सी डाल देता है—'श्रीकान्त ने अनिवार्य बी० ए० किया। एल-एल० बी० किया, शादी की और प्रैक्टिस शुरू कर दी। पर हरिप्रसन्न की याद दूर नहीं होती। वह पाठ में खलल डालती है।'

ऊपर कहा गया है कि मनोविश्लेषक उपन्यासों में कथानक सूत्र-बद्ध नहीं होता, छिन्न-भिन्न होता है। परन्तु इस प्रकार के उपन्यासों में इस सूत्रहीनता से कोई अन्तर नहीं आता, वरन् उनकी कलात्मकता में ही वृद्धि होती है। 'परख' की भूमिका में लेखक ने लिखा है—'मैंने जगह-जगह कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी हैं। वहाँ पाठक को थोड़ा कूदना पड़ता है और मैं समझता हूँ, पाठक के लिए यह थोड़ा अभ्यास वांछनीय होता है—अच्छा ही लगता है। .... कहीं एक साधारण भाव को वर्णन से फुला दिया है, कहीं लम्बा-सा रिक्त (Gap) छोड़ दिया गया है ; कहीं बारीकी से काम लिया है, कहीं लापरवाही से ; कहीं हलकी-धीमी कलम से काम लिया है, कहीं तीक्ष्ण और भागती से। मैं समझता हूँ, यह सब-कुछ चित्र में खूबी और असलियत लाने के लिये जरूरी हो जाता है। यह कम-ज्यादे रंग की शोभा रंग-बिरंगेपन में और स्वाद देती है।'[1]

अभी कहा गया है कि मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में पात्रों की संख्या कम ही होती है। इस दृष्टि से उसके शिल्प में जो अन्तर आ जाता है वह यह कि घटनाओं की बहुलता और जटिलता के स्थान पर पात्रों की अनुभूतियों और मानसिक उतार-चढ़ाव का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण होता है। इस प्रकार के विश्लेषण मनुष्य की अन्तःचेतना के भीतर खोयी उसकी विवश इच्छाओं, उसकी मानसिक विकृतियों की विवृति और इनके माध्यम से परम्परागत रूढ़ि-ग्राहिता की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता की ओर संकेत करने में सहायक होते हैं। अधिकांशतः ये वृत्तियाँ मनोविश्लेषण-प्रधान होती हैं, जिनका आधार

१. 'परख' (श्री जैनेन्द्र कुमार), भूमिका, पृष्ठ ५।

नैतिक मूल्य होते हैं। अन्ततः इनके पीछे मनुष्य के उचित दिशा में बौद्धिक विकास और नव-मानव-मूल्यों की स्थापना की भावना ही होती है।

मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास में बौद्धिक अनुभूतियों और ग्रन्थियों की विवृति की चेष्टा रहती है। किसी समाज के विविध पक्षों का सर्वांगीण चित्रण अथवा विवेचन उसका उद्देश्य नहीं रहता। उसका आधार नवीन नैतिक दृष्टिकोण होता है, जो प्रायः आस्था-अनास्था के संघर्ष और उनके फलस्वरूप निर्धारित नये मान होते हैं। बौद्धिक जटिलताओं का निदर्शन और वैयक्तिक चेतना को जागरित करने के कारण स्वतः उसका एक संघर्षात्मक स्थिति में पड़कर विकास होता है और इसीलिए घटना-आयोजन का अभाव और पात्रों की कमी के होते हुए भी मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास विकास को प्राप्त होता है। मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में मानव-चरित्र और उसकी प्रतिक्रियात्मक संभावनाओं के सूक्ष्म अंकन को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(५) आंचलिक चित्रण

हिन्दी उपन्यास में आंचलिक चित्रण का प्रारंभ बाबू वृन्दावनलाल वर्मा तथा बाबू शिवपूजन सहाय[1] के उपन्यासों के द्वारा हुआ था। इन दोनों उपन्यासकारों ने अपने विविध उपन्यासों में बुंदेलखंड तथा बिहार के प्रदेशों की जो कलात्मक झाँकी प्रस्तुत की, वह अनुपम है। यद्यपि इन उपन्यासकारों की कृतियों का महत्व दूसरे कारणों से है, परंतु इन प्रवृत्तियों का उपन्यास में समावेश हो जाने से इनकी परंपरा को आगे विकास की राह मिली।

ऊपर जिन दो उपन्यासकारों का उल्लेख किया गया है, उनके उपन्यासों का उद्देश्य आंचलिक चित्रण नहीं था। पूर्णतः आंचलिक चित्रण के उद्देश्य से लिखे गये उपन्यासों में श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' लिखित 'मैला आँचल' तथा 'परती परिकथा' नामक दो उपन्यास ही उल्लेखनीय हैं, जिन्हें 'आंचलिक उपन्यास' की संज्ञा दी जाती है।

१. देखिए—'देहाती दुनिया'।

आंचलिक उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उनकी कथा का क्षेत्र बहुत सीमित रहता है। उदाहरण के लिए 'मैला आँचल' तथा 'परती-परिकथा' नामक उपन्यासों की कथा क्रमशः 'पूर्णिया' तथा 'परानपुर' तक ही सीमित है। 'मैला आँचल' की भूमिका में लेखक द्वारा कहा गया है—'यह है मैला आँचल, एक आंचलिक उपन्यास। कथांचल है पूर्णिया। पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है। इसके एक ओर है नेपाल, दूसरी ओर पाकिस्तान और पश्चिमी बंगाल। विभिन्न सीमा-रेखाओं से इसकी बनावट मुकम्मल हो जाती है जब हम दक्खिन में संथाल परगना और पश्चिम में मिथिला की सीमा-रेखा खींच देते हैं। मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर इस किताब का कथा-क्षेत्र बनाया है।'[1]

'मैला आँचल' में एक स्थान पर कहलाया गया है—'तो भाई, हम तो हिन्दुस्थान, 'भारथवरश' की बात नहीं जानते। हम अपने गाँव की बात जानते हैं। आप भला तो जग भला, हम तो इसी में गाँव का कल्याण देखते हैं कि सभी भाई, क्या गरीब क्या अमीर, सब भाई मिलकर एकता से रहें। न कोई जमीन छुड़ावे और न कोई ग़लत दावा करे। जैसे पहले जोतते आबादते थे, आबाद करें, बांट दें। न रसीद माँगें, न नकदी के लिए दर्खास्त दें। दोनों को समझना होगा। क्योंकि हरगौरी बाबू! सुनते हो तो? अपने मैनेजर से जाकर कह देना कि हुजूर अब भी होश करें। यदि इस तरह रैयतों के साथ दुश्मनी करेंगे, कम से कम हमारे यहाँ के रैयतों से, तो फिर बात बिगड़ जावेगी। सभी बात तो हमारे ही हाथ में है। हम अभी गवाही दे दें कि, हाँ हुजूर आली! यह सब फर्जी काम हम से करवाया गया है, और कुल कागज-पत्तर, चिट्ठी-चपाती, रुक्का-परवाना दिखला दें तो बस खोय सहित कबूतराय नमः।'[2]

'परती : परिकथा' में उपन्यास के कथा-क्षेत्र 'परानपुर' के विषय में लिखा है—'परानपुर की प्रतिष्ठा सारे जिले में है। सबसे उन्नत गाँव समझा जाता है। इस इलाके में सबसे उन्नत गाँव है परानपुर। किन्तु जिस तरह बाँस बढ़ते-बढ़ते

१. 'मैला आँचल' (श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु'), भूमिका।
२. वही।

अन्त में झुक जाता है, उसी तरह यह गाँव भी झुका है। ·······लोग यहाँ दस वर्ष के लड़के से भी बात करते समय अपना पाकेट एक बार टटोलकर देख लेते हैं। फारबिसगंज की किसी दूकान में चले जाइये, ज्यों ही मालूम हुआ कि परानपुर का ग्राहक आया है। दूकानदार अपनी बिखरी हुई चीजों को समेटना शुरू कर देता है········। हाकिम-हुक्काम भी यहाँ के लोगों से बातें करते समय इस बात का खयाल रखते हैं कि सिर्फ एक गाँव में, एक ही वर्ष के अन्दर सरकार के तीन-तीन विभागों के अधिकारियों की आँखों में धूल झोंकी गयी।········ट्रेन के चैकर जानते हैं, परानपुर के लोग टिकट लेकर गाड़ी में नहीं चलते। चार्ज करनेवाले चैकर को रोड़े और पत्थरों से भाड़ा चुकाते हैं ये··········।'[1]

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आंचलिक उपन्यास के रचयिता के लिये अपने कथा-क्षेत्र की एक-एक इंच से भली-भाँति परिचित होना आवश्यक है। उस प्रदेश की लोक-कथाएँ, लोक-परम्पराएँ, रीति-रिवाज, आचार-विचार, समाज-व्यवहार, भाषा-बोली, व्यक्ति-समाज का अत्यन्त घनिष्ठ परिचय अनिवार्य है। अन्य उपन्यासों की भाँति इस प्रकार के उपन्यासों में विविध आन्तरिक अनुभूतियों का सूक्ष्मता से अंकित होना आवश्यक नहीं है, विविध दार्शनिक समस्याओं से उलझना आवश्यक नहीं है, किसी सामाजिक विधि का विरोध करना आवश्यक नहीं हैं, किसी विशिष्ट समस्या का आलोड़न करके कोई निष्कर्षात्मक निदान प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है, किन्हीं नीति-सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन करना आवश्यक नहीं है या किन्हीं नये मानव-मूल्यों का अन्वेषण करना आवश्यक नहीं है। आवश्यक यह है कि अपने निर्दिष्ट प्रदेशांचल के व्यावहारिक जीवन का सच्चा खाका उपस्थित किया जाय।

आंचलिक उपन्यास किसी जीवन-दर्शन का आग्रह लेकर नहीं चलते। उनकी रचना का आधार बहुत-कुछ वैसा ही होता है, जैसे किसी हलचल से भरे हुए गाँव का पर्यवेक्षण तटस्थ दृष्टि से करके उसका ज्यों का त्यों अंकन कर दिया जाय। यही कारण है कि इस कोटि के अन्तर्गत आनेवाले उपन्यासों में पात्रों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है, स्थानीय शब्दों के प्रयोगों की अधिकता से भाषा में

१. 'परती : परिकथा', (श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु')।

क्लिष्टता आ जाती है, घटना-सूत्र उलझ जाता है, तथा उसकी कथात्मक-एकता भी सुरक्षित नहीं रह पाती।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कथा-क्षेत्र के साथ ही साथ आंचलिक उपन्यासों के पात्रों की भी अपनी सीमाएँ होती हैं। उनका कार्य-क्षेत्र वही रहता है, जो कथा-क्षेत्र के रूप में पूर्व-निर्धारित हो। उपन्यास की भाषा, सामान्य भाषा नहीं रह जाती, वह विशेष रूप से प्रादेशिक हो जाती है। वर्णनों में स्थानीय रंगों का बाहुल्य हो जाता है।

ये उपन्यास प्राय: वर्णनात्मक शैली में लिखे जाते हैं। इनकी कथा में सूत्र-बद्धता के गुण का अभाव होता है, क्योंकि रचना-उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उपन्यासकार को विविध स्थानीय विशेषताओं की पृष्ठभूमि में कथा का खंडात्मक विभाजन करने के पश्चात् उन्हें उसी प्रकार से खंड रूप में प्रस्तुत करना पड़ता है। इन्हीं कुछ कारणों से आंचलिक उपन्यासों की कथा का रूप-गठन कुछ असाधारण-सा हो जाता है।

(६) हास्य

हास्य-सृष्टि[1] के उद्देश्य से जो उपन्यास लिखे जाते हैं, उनके कथानक के

१. ठैकरे तथा बर्गसाँ ने हास्य के स्वरूप और श्रेष्ठता के विषय में इस प्रकार से अपने विचार प्रकट किये हैं—

(a) 'The humorous writer professes to awaken and direct your love, your pity, your kindness, your scorn for untruth, pretension, imposture for linderness for a weak; the poor, the oppressed, the unhappy. A literary man of the humorous turn is pretty sure to be of philanthropic nature, to have a great sensibility to be easily moved to pain or pleasure, keenly to appriciate the varieties of temper of people round about him and sympathise in their laughter, love, amusement and tears. The best humonr is that which is flavoured throughout with loveliness and kindness.'

(Thackeray—'Humour and Humourist's')

रूप भी परिवर्तित हो जाते हैं। यों हास्य का पुट उन उपन्यासों में भी मिलता है, जिनका उद्देश्य हास्य की सृष्टि करना नहीं भी होता। विशेष रूप से हास्य-सृष्टि के उद्देश्य से भारतेन्दु काल में कोई उपन्यास नहीं लिखा गया। यही कारण है कि इस काल के उपन्यासों में हास्य-तत्व का समावेश मुख्यता से नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए बालकृष्ण भट्ट ने अपने उपन्यास 'सौ अजान, एक सुजान' में इस तरह के कई स्थलों की सृष्टि की है, जैसे—'हवा के साथ लड़नेवाली कोई कर्कशा न लड़ेगी तो खाया हुआ अन्न कैसे पचेगा, यह सोचकर अपने पड़ोसियों पर वाण से तीखे और रूखे वचनों की वर्षा कर रही है।'

वास्तव में उपन्यास-साहित्य में हास्य के पूर्णता से आग्रह की दृष्टि से श्री जी० पी० श्रीवास्तव[१] का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इनका लिखा हुआ 'लतखोरी लाल' नामक हास्य-उपन्यास आत्म-कथात्मक-शैली में लिखा गया है। शिल्प की दृष्टि से इसमें यह विशिष्टता मिलती है कि वर्णनात्मक तत्व अपेक्षाकृत कम हैं तथा संवाद-तत्वों की प्रधानता हो गयी है। यह तत्व अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गया है, परंतु हास्य की सृष्टि का उद्देश्य इसी के माध्यम से पूरा हुआ है। इसमें नाटकीय रूप से हास्य की अवतारणा करने का जो प्रयत्न किया गया है, वह बहुत ही साधारण है। हाँ, जी० पी० श्रीवास्तव कृत 'गंगा जमुनी'

(b) 'Laughter must be something of this kind, a sort of social gesture. By the fear which it inspires, it restrains eccentricity, keeps constantly awake and in mutual contact certain activities of a secondary order which might retire into their shell and to go to sleep, and, in short, softens down whatever the surface of the social body may retain of mechanical inelasticity.'

(Henri Bergson—'Laughter', pp. 20)

१. हास्य की उपयोगिता के विषय में श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने बताया है कि— '········बुराई रूपी पापों के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरा गंगाजल नहीं है। यह वह हथियार है जो बड़े-बड़ों के मिजाज चुटकियों में ठीक कर देता है। यह वह कोड़ा है जो मनुष्यों को सीधी राह से बहकने नहीं देता। मनुष्य ही नहीं, धर्म और समाज का भी सुधारने वाला है, तो यही है।'

—'हास्य-रस' (श्री जी० पी० श्रीवास्तव), पृष्ठ १२।

हास्य-प्रधान न होते हुए भी हास्य के आंशिक रूप से समावेश की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसमें एक स्थान पर प्रेम के विषय में लिखा गया है—'हत् तेरे प्रेम की। न जाने किस कम्बख्त का शाप पड़ा है कि तेरा रास्ता कभी सीधा नहीं रहने पाता। कभी बेचैनी तड़पाती है, कभी रुलाई सताती है, कभी बेवफाई रुलाती है, कभी डाह जलाती है, कभी बदनामी जान लेती है और फिर विरह और वियोग तो सत्यानास ही करके छोड़ते हैं।'[१]

'निराला' जी के उपन्यासों में भी हास्य-तत्व आंशिक रूप से मिलता है। उदाहरण के लिए 'बिल्लेसुर बकरिहा' का एक अंश देखिए—'बिल्लेसुर बिना टिकट कटाये कलकत्ते वाली गाड़ी पर बैठ गये। इलाहाबाद पहुँचते-पहुँचते चैकर ने कान पकड़ कर उतार दिया। बिल्लेसुर हिन्दुस्तान की जलवायु के अनुसार सविनय कानून भंग कर रहे थे, कुछ बोले नहीं, चुपचाप उतर आये—लेकिन सिद्धान्त नहीं छोड़ा।'[२]

इसी अनुपात में 'निराला' लिखित अन्य उपन्यासों में भी हास्य-तत्व मिलते मिलते हैं जैसे—'सबेरे जब जगा तब घर में बड़ी चहल-पहल थी; साले साहब रो रहे थे, ससुर जी खुड्डी में गिर गये थे, नौकर नहला रहा था। घर में तीन जोड़े बैल घुस आये थे। श्रीमती जी लाठी लेकर हाँकने गयी थीं, एक के ऐसी जमायी कि उसकी एक सींग टूट गयी..........महरी पानी भरने गयी थी, रस्सी टूट जाने के कारण पीतल का घड़ा कुएँ में चला गया था।'[३]

'उग्र' जी ने भी कहीं-कहीं हास्य-सृष्टि की चेष्टा व्यंग्यात्मकता के मिश्रण से भी है, जैसे—चारों ओर डंडाशाही, ईंटाशाही, छुराशाही, तलवारशाही, औरंगशाही और नादिरशाही का बोलबाला था। धूर्त नौकरशाही, अपवित्र नौकरशाही और इन सब खुराफातों की जड़ नौकरशाही उस समय घूँघट में मुँह छिपाये है।'[४]

इस दृष्टि से बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में हास्य-तत्व का समावेश

१. 'गंगा जमुनी' (श्री जी० पी० श्रीवास्तव)।
२. 'बिल्लेसुर बकरिहा' (श्री 'निराला')।
३. 'कुल्ली भाट' (श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'), पृष्ठ ५२।
४. 'चन्द हसीनों के खतूत' (श्री पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र')।

बहुत स्वाभाविक रूप में मिलता है। उसमें यह तत्व अनावश्यक तथा अस्वाभाविक रूप से ठूँसा गया नहीं प्रतीत होता तथा उसमें व्यंग्य का भी समावेश है। उदाहरण के लिए 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' नामक उनके वृहत् ऐतिहासिक उपन्यास में एक स्थान पर राजा गंगाधर राव रानी से कहते हैं कि गाना नाचना आदि विद्याएँ यदि स्त्रियाँ ढंग से सीखें तो शरीर और मन दोनों के लिए काफी कसरत पा सकती हैं। यह सुनकर रानी उत्तर देती है—'हाँ स्वराज्य स्थापित है। अब सिवाय हँसने-खेलने के नर-नारियों के लिये और काम ही क्या है? देखिये न किस आराम के साथ ''ाँसी राज्य का पंचमांश से अधिक अँग्रेजों के हाथ में दे दिया गया। आपका वह मित्र गार्डन भी नाटक-शाला में आता होगा?'

राजा कहते हैं—'अंग्रेज लोग खूब हँसते-खेलते और नाचते-गाते हैं।'

रानी फिर व्यंग्य करती हैं—'और नाचते-गाते ही पूरे हिन्दुस्तान को रौंदते चले जाते हैं। खेल तो बढ़िया है।'

वह राजा से यह भी पूछती हैं—'आप के यहाँ के भाट केवल प्रशंसा और यश-गान ही करते हैं या कभी-कभी कड़खा भी सुनाते हैं?'[1]

'मिस्टर तिवारी का टेलीफोन' सरयूपंडा गौड़ लिखित हास्य-उपन्यास है, जिसका शिल्प भी अनोखा है। इस उपन्यास के कथानक की रचना बीस टेलीफोन वार्त्ताओं के आधार पर हुई है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसमें भी सम्वाद-तत्वों का प्राधान्य है, जो हास्य-उपन्यास का एक आवश्यक अंग है। आधुनिक युग में मेहमानों के आगमन द्वारा उठी हुई विपत्तियों के विषय में इस उपन्यास के नायक कहते हैं—'उस दिन हमारे घर घोर दुर्भाग्य से कुछ मेहमान आ गये थे। ये मेहमान सज्जन क्या बला हैं और उनके शुभागमन से कैसी दुर्गति घरवालों को उठानी पड़ती है, इसकी हालत उस गरीब से पूछो जिसका घर महीने में पन्द्रह बार इन भलेमानसों के कदम मुबारक से आबाद नहीं बर्बाद होता है। मेहमान क्या आये गरीब की शामत आयी।'[2]

'सेठ बाँकेमल' अमृतलाल नागर का लिखा हुआ हास्य-उपन्यास है। इसकी

१. 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' (श्री वृन्दावनलाल वर्मा)।
२. 'मिस्टर तिवारी का टेलीफोन' (श्री सरयूपंडा गौड़), पृष्ठ ६।

शैली जीवन-कथात्मक है। इसका हास्य अपेक्षाकृत प्रौढ़ और कलापूर्ण है। इस उपन्यास से एक प्रसंग देखिए—'भैया, मुंगाराम डांग्डर ऐसा गजब का था कि एक बार लाट-साब को छींके आने लगीं सुसरी। वो जागें तो छींकें, और सोवें तो छींकें, छिन-छिन में ऐसी छींकें सुसरी कि कै महीने में लाटनी साली खुसकेंट हो गई। महाराज विलायत से और लंदन से और जर्मनी, अमरीका, अफरीका, चीन और सारी दुनिया तक के सारे डांग्डर बुलवा लीने विस्ते.........पौंचे साब मूँगाराम। जाते ही लाटनी की नाक पकड़ी। दो मिनट देख-भाल के मूँगाराम ने कही—जरा एक कैंची मँगा सको हो आप? लाटनी सुसरी खुसकेंट हो गई भयौ। बिन्ने कही—कहीं, नाक तो नहीं काटेगो यह मेरी? और लाट साहब भी भैयो से ही सोचे कि जो नाक कट गई तो वे नकटी मेम साली को लिए कहाँ-कहाँ घूमूँगो.........मूँगाराम ने क्या कीनो भैया, कि नाक में कैंची डाल कै एक बाल खेंच लीना और सबको दिखा के कही—ये लो साब, ये छींक निकल आई। बात ऐसी थी कि जब ये साँस लेवे थीं तो बाल भी ऊपर चढ़े था, इसी से ये छींकें आयें थीं सुसरी।'[1]

पूर्ण रूप से हास्य-सृष्टि से लिखे गये उपन्यासों में सरयूपंडा गौड़ लिखित 'मिस्टर तिवारी का टेलीफोन', विन्ध्याचलप्रसाद गुप्त लिखित 'चाँदी का जूता' अरुण लिखित 'नवाब लटकन', द्वारकाप्रसाद लिखित 'गुनाह बेलज्जत', परिपूर्णानंद वर्मा लिखित 'मगन रहु चोला' तथा 'मेरी हजामत', 'बेढब बनारसी' कृत 'मिस्टर पिगसन की डायरी', अमृतलाल नागर लिखित 'सेठ बाँकेमल', केशवचन्द्र वर्मा लिखित 'काठ का उल्लू और कबूतर' तथा 'मोहब्बत, मनोविज्ञान और दाढ़ी-मूँछ', भगवतीचरण वर्मा लिखित 'अपने खिलौने' तथा कृष्णचन्द्र लिखित 'एक गधे की आत्मकथा' आदि कृतियों के नाम उल्लेखनीय हैं।

केशवचन्द्र वर्मा लिखित 'काठ का उल्लू और कबूतर' तथा कृष्णचन्द्र लिखित 'एक गधे की आत्म-कथा' हिन्दी में हास्य-रस की नवीनतम प्रवृत्तियों के परिचायक उपन्यास हैं। उनमें से प्रथम में शिल्प के विकसित रूप मिलते हैं तथा दूसरे में आत्म-कथानक शैली का प्रयोग किया गया है। ये दोनों उपन्यास समाज

१. 'सेठ बाँकेमल' (श्री अमृतलाल नागर), पृष्ठ ५९।

के विविध वर्गों के प्रति व्यंग्य के रूप में लिखे गये हैं, परन्तु उद्देश्य प्रधानतः हास्य की सृष्टि का ही रहा है। 'काठ का उल्लू और कबूतर' में कहीं-कहीं इसी तत्व के साथ दार्शनिक तथा राजनैतिक मत-वादों के प्रति व्यंग्यात्मकता के तत्व को भी समाविष्ट किया गया है। एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

'मेरे दोस्त पीढ़े ! तुझे यह जानकर खुशी होगी कि टेबुल ने भी जड़वादी होना स्वीकार कर लिया है। मैंने यह तय कर लिया है कि अब मैं लकड़ी जाति की तरक्की के लिये अपना जीवन दे डालूँगा। मुझे अब दुनियाँ में किसी चीज से मुहब्बत नहीं है और अब से मैं अपने को लकड़ी जाति का एक सेवक ही मानूँगा। और ए साथी पीढे, अपने जड़वादी होने की खुशी में मैंने एक रेशमी टेबुल-क्लाथ फाड़ दिया है और मालिक की उँगली से वह खून निकाल लिया है, जो उसने लकड़ी जाति के लोगों से चूसा था।'[1]

ऊपर श्री भगवतीचरण वर्मा के नये हास्य-प्रधान उपन्यास 'अपने खिलौने' का उल्लेख किया गया है, जो सन् १६५८ में प्रकाशित हुआ है और उनके उपन्यासों में नवीनतम है। इसमें हास्य के तत्वों को वर्णनात्मक शैली के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के अंश कथानक में रोचकता-वृद्धि की दृष्टि से तो महत्व के होते ही हैं, हास्य की सृष्टि में सहायक भी होते हैं। एक उदाहरण दिया जा रहा है—'विलायती शार्क-स्किन का नया सूट पहनकर अशोक ड्रेसिंग टेबिल के सामने अपनी शक्ल पर मन ही मन प्रसन्न हो रहा था कि डाली ने दौड़ते हुए उस पर छलांग मारी। डाली पानी से तर लान पर चहलकदमी करके लौट रहा था और किसी कदर मौज में था। नतीजा यह हुआ कि बर्फ ऐसे सूट पर सफेद पंजों के दाग पड़ गये। अशोक का पहला काम हुआ डाली को जमीन पर पटक देना और इसके पहले कि डाली उठकर भागे, अशोक ने उसकी गरदन पकड़कर घूँसों और मुक्कों से उसकी मरम्मत शुरू कर दी।'[2]

संक्षेप में, हिन्दी उपन्यास के प्रारंभिक युगों के साहित्य में हास्य-सृष्टि का का समावेश बहुत कम होता था। नाटक तथा नौटंकी आदि के प्रभाव के फलस्वरूप

१. 'काठ का उल्लू और कबूतर' (श्री केशवचंद्र वर्मा), पृष्ठ ४५।
२. 'अपने खिलौने' (श्री भगवतीचरण वर्मा), पृष्ठ १६।

जिस प्रकार के हास्य का समावेश उपन्यासों में मिलता था, वह कलात्म नहीं होता था। बाद में धीरे-धीरे हास्य-तत्वों की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षि होने लगा। परन्तु इसका समावेश कलापूर्ण और संतुलित ढंग से आधुनिक यु के उपन्यासों में ही मिलता है। प्रेमचन्द, विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक 'सुदर्शन', 'निराला', अन्नपूर्णानंद, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचर वर्मा, अमृतलाल नागर, जी० पी० श्रीवास्तव तथा केशवचंद्र वर्मा आ ऐसे बहुत से उपन्यासकार हैं, जिन्होंने अपनी औपन्यासिक कृतियों में इसक समावेश सफलतापूर्वक किया है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास के विकास इतिहास में जिन प्रधान रचना-उद्देश्यों की परम्परा मिलती है, उनमें से वे मुख्य हैं, जिनकी चर्चा पिछले पृष्ठों में की गयी है। इनमें से विविध युगों विविध रचना-उद्देश्यों को ही उपन्यास-साहित्य में विशिष्टता दी गयी है। य कारण है कि भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के उपन्यासों के कथा-रूपों क विकास हुआ है।

अध्याय ७

कथा-शिल्प के अभिनव प्रयोग और ज्योति-स्तम्भ

कथा-शिल्प के अभिनव प्रयोग और ज्योति-स्तम्भ

हिन्दी उपन्यास का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में हुआ था। उस युग से लेकर अब तक अनेक श्रेष्ठ उपन्यासकार हुए हैं, जिनकी कृतियों से यह साहित्यांग समृद्ध हुआ है और हिन्दी साहित्य के गौरव की वृद्धि हुई है। परन्तु इन अनेक उपन्यासकारों में से कुछ ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने उपन्यास-रचना के क्षेत्र में अभिनव शिल्प-प्रयोग किये और उसकी नवीन धाराओं को विकास की नयी दिशाएँ दीं। ये उपन्यासकार एक अर्थ में विविध 'स्कूलों' के के प्रवर्त्तक उपन्यासकार हैं। कथा-शिल्प के क्षेत्र में केवल प्रयोग की नवीनता की दृष्टि से ही नहीं, वरन् औपन्यासिक क्षेत्र का 'मील के पत्थर' के रूप में मान्यता प्राप्त होने की दृष्टि से भी ये उपन्यासकार हिन्दी उपन्यास के ज्योति-स्तंभ हैं। यहाँ इन्हीं उपन्यासकारों तथा उनके द्वारा प्रवर्तित कथा-परंपरा में आने वाले अन्य कथा-कारों की प्रमुख कथा-कृतियों के आधार पर उनके द्वारा प्रयुक्त शिल्प-रूपों के अध्ययन की चेष्टा की जायगी। वास्तव में हिन्दी उपन्यास के कलात्मक और साहित्यिक दृष्टि से रूप-विकास का श्रेय इन्हीं उपन्यासकारों को है।

श्रीनिवास दास

जीवन-परिचय तथा प्रमुख रचनाएँ—लाला श्रीनिवास दास का जन्म संवत् १९०७ में तथा मृत्यु संवत् १९४४ में हुई थी। इनका स्थान भारतेंदु-युग के प्रमुख नाटककारों तथा उपन्यास-लेखकों में है। इनकी शिक्षा-दीक्षा घर पर ही हुई थी तथा यह हिंदी, संस्कृत, फारसी तथा अँग्रेजी भाषाओं के जानकार थे। अनेक मौलिक पुस्तकों की रचना करने के साथ-साथ इन्होंने 'सदादर्श' नामक पत्र का संपादन भी

किया। इनके लिखे हुए ग्रंथों में 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नामक नाटक तथा 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास विशेष प्रसिद्ध हैं।

हिंदी में मौलिक उपन्यासों की परम्परा का प्रवर्त्तन करनेवाले श्रीनिवास दास ही हैं। उन्होंने 'परीक्षा-गुरु' नामक उपन्यास लिखा है, जो अपने विषय की एक नवीन कृति थी। लाला श्रीनिवास दास ने इसके निवेदन में लिखा है—'अब तक नागरी और उर्दू भाषा में अनेक तरह की अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं परन्तु मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गई इसलिए अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी, परन्तु नई चाल होने से ही कोई चीज अच्छी नहीं हो सक्ती बल्कि साधारण रीति से तो नई चाल में तरह-तरह की भूलें होनें को संभावना रहती है और मुझको अपनी मंद बुद्धि से और भी अधिक भूलें होने का भरोसा है इसलिए मैं अपनी अनेक तरह की भूलों से क्षमा मिलने का आधार केवल सज्जनों की कृपा रखता हूँ।

'यह सच है कि नई चाल की चीज देखने को सबका जी ललचाता है परंतु पुरानी रीति के मन में समाये रहतें और नई रीति को मन लगाकर समझनें में थोड़ी महनत होने से पहले पहल पढ़नेंवाले का जी कुछ उलझनें लगता है और मन उछट जाता है इस्से इस्का हाल समझ में आने के लिए मैं अपनी तरफ से यहाँ कुछ खुलासा किया चाहता हूँ—

'पहले तो पढ़नेवाले इस पुस्तक में सौदागर की दुकान का हाल पढ़ते ही चकरावेंगे क्योंकि अपनी भाषा में अब तक वार्तारूपी जो पुस्तकें लिखी गई हैं उन्मैं अक्सर नायक, नायका वगैरै का हाल ठेठसै सिलसिलेवार लिखा गया है जैसे 'कोई राजा, बादशाह, सेठ साहूकार का लड़का था उस्के मन मैं इस बात सै यह रुचि हुई और उस्का यह परिणाम निकला' ऐसा सिलसिला इस्मैं कुछ भी नहीं मालूम होता। लाला मदनमोहन एक अँग्रेजी सौदागर की दुकान मैं अस्बाब देख रहे हैं लाला ब्रजकिशोर, मुंशी चुन्नीलाल और मास्टर शिंभूदयाल उनके साथ हैं। इन्मैं मदनमोहन कौन, ब्रजकिशोर कौन, चुन्नीलाल कौन और शिंभूदयाल कौन हैं? इन्का स्वभाव कैसा है? परस्पर संबंध कैसा है? हरेक की हालत क्या है? यहाँ इस्समय किस लिए इकट्ठे हुए हैं? यह बातें पहलै सै कुछ भी नहीं जताई गई। हाँ पढ़नेंवाले धैर्य सै सब पुस्तक पढ़ लेंगे तो अपनें, अपनें मौके पर सब भेद खुल्ता

चला जायगा और आदि से अंत तक सब मेल मिल जायगा परन्तु जो साहब इतना धैर्य न रक्खेंगे वह इस्का मतलब भी नहीं समझ सकैंगे।'[1]

'परीक्षा गुरु' में दिल्ली के एक कल्पित धनाढ्य व्यक्ति की कथा है। जैसा कि इस युग के कुछ अन्य उपन्यासों के विषय में कहा गया है, इस उपन्यास में भी प्रत्येक प्रकरण के आरम्भ में तथा मध्य और अन्त में भी कहीं-कहीं विविध पद्य-उद्धरण तथा नीति-वाक्य अथवा सूक्ति रूप में कुछ गद्य-उद्धरण दिये गये हैं। उदाहरण के लिए प्रथम प्रकरण में लेखक ने लिखा है—'चतुर मनुष्य को जितनें खर्च मैं अच्छी प्रतिष्ठा अथवा धन मिल सक्ता है मूर्ख को उस्सै अधिक खर्चनें पर पर भी कुछ नहीं मिल्ता—लार्ड चेस्टर फील्ड।' यों लेखक ने निवेदन में यह स्पष्ट कर दिया है कि इस पुस्तक की रचना करते समय संस्कृत के महाभारत आदि, फारसी के गुलिस्ताँ वगैरह तथा अँग्रेजी के स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों से सहायता ली गयी है।

प्रारम्भ में लाला मदनमोहन, लाला ब्रजकिशोर, मुंशी चुन्नीलाल तथा मास्टर शंभूदयाल के एक अँग्रेजी सौदागर की दूकान पर जाकर माल खरीदने से इस उपन्यास का प्रथम प्रकरण शुरू हुआ है। बीच में बातचीत के दौरान में एक दोहा इस प्रकार कहा गया है—

> धनी दरिद्री सकल जन हैं जग के आधीन।
> चाहत धनी विशेष कछु तासों ते अति दीन॥

लाला मदनमोहन और अँग्रेज व्यापारी की बातचीत से कथा का यह प्रारंभिक सूत्र आगे बढ़ता है। किंतु लेखक स्वयं वार्तालाप से संतुष्ट न होकर अनावश्यक रूप से ये पंक्तियाँ जोड़ देता है—'इस बचन मैं मिस्टर ब्राइट अपनें अस्बाब की खरीदारी के लिए लाल मदनमोहन को ललचाता है परन्तु अपनें रुपे के वास्तै मीठा तकाजा भी करता है। चुन्नीलाल और शिंभूदयाल के कारण उस्को मदनमोहन के लेन देन में बहुत कुछ फायदा हुआ परन्तु उस्के पचास हजार रुपे इस समय मदनमोहन की तरफ बाकी हैं और शहर मैं मदनमोहन की बाबत तरह तरह की चर्चा फैल रही है

१. 'श्रीनिवास ग्रंथावली' (सं० डा० श्रीकृष्ण लाल), पृ० १५४।

बहुत लोग मदनमोहन को फिजूल खर्च, दिवालिया बताते हैं और हकीकत मैं मदनमोहन का खर्च दिन पर दिन बढ़ता जाता है इस्सै मिस्टर ब्राइट को अपनी रकम का खटका है इसीलिए उस्ने इन कौंचों का सौदा इस्समय अटकाया है और तीसरे पहर मास्टर शिम्भूदयाल को अपनें पास बुलाया है।'

उपन्यास के बीच-बीच में शेक्सपीयर तथा बायरन आदि कवियों के विविध प्रसंगों-अंशों के अनुवाद दिये गये हैं। इसी प्रकार मनुस्मृति, हितोपदेश आदि से भी कुछ अंश प्रस्तुत किये गये हैं। यह बात स्वीकार करनी होगी कि इस उपन्यास का कथानक इस युग में लिखे गये अन्य बहुत से उपन्यासों की अपेक्षा कहीं सुगठित है और उसका निर्वाह भी अपेक्षाकृत कलात्मक ढंग से किया गया है यद्यपि स्वतंत्र-रूप से देखने में इसमें संगठनात्मकता का अभाव प्रतीत होता है। अवश्य जिन उद्धरणों की ऊपर चर्चा की गयी है, वे अस्वाभाविक ढंग से कथा में समाविष्ट किये गये प्रतीत होते हैं और साथ ही कथा में नाटकीय तत्वों की भी कमी नहीं है। उपन्यास में भावमयता बहुत अधिक है और सामान्य रूप से प्राय: प्रत्येक पात्र किसी न किसी प्रसंग में भावुक होकर कुछ न कुछ कहने लगता है। उदाहरण के लिए इस उपन्यास का एक अंश देखिए जब दो व्यक्तियों में किसी कारण से सन्देह उपजता है—'तो क्या आपको इस्समय यह संदेह हुआ कि मैंने बहकाने वालों पर रखकर अपनी तरफ सै आपको 'रुपे का दोस्त' और 'मतलब का दोस्त' ठैराया है ?' लाला मदनमोहन गिड़गिड़ा कर कहने लगे 'हाय ! आपने मुझको अब तक नहीं पहचाना मैं अपनें प्राण सै अधिक आपको सदा समझता रहा हूँ इस संसार मैं आपसै बढ़कर मेरा कोई मित्र नहीं है जिस्पर आपको मेरी तरफ सै अब तक इतना संदेह बन रहा है मुझको आप इतना नादान समझते हैं। क्या मैं अपने मित्र और शत्रु को भी नहीं पहचानता ? क्या आप सै अधिक मुझको संसार में कोई मनुष्य प्यारा है ? मैं अपना कलेजा चीरकर दिखाऊँ तो आपका मालूम हो कि आपकी प्रीति मेरे हृदय में कैसी अंकित हो रही है।'

कथानक में इस प्रकार के भावुकतापूर्ण प्रसंग इतने अधिक हैं कि उनके कारण उसकी गंभीरता और ठोसपन समाप्त हो गया है। साथ ही प्रत्येक घटना की प्रभावात्मकता पर भी इसका असर पड़ा है। लाला मदन मोहन की फिजूलखर्ची को ही उपन्यास में आदि से अन्त तक दिखाया गया है और इस प्रकार एक लघु आकार वाले कथानक को फैलाकर तीन सौ से अधिक पृष्ठों का उपन्यास लिखा

गया है। यही कारण है कि कथानक का न कोई केन्द्र-बिंदु है और न उसमें क्रम-विस्तार ही लक्षित होता है। प्रासंगिक वर्णन इस प्रकार के हैं, जिनका न कोई संबंध मूल कथा से है और न वे कथानक के विकास में ही सहायक होते हैं। बीच-बीच में पात्र-गण वाल्मीकि की रामायण तथा पुराण आदि से इस प्रकार के उदाहरण देने लग जाते हैं कि चरित्र-विकास की दृष्टि से यह हास्यास्पद लगता है। उपन्यास के बीच में लेखक ने पूरा एक अध्याय चार-पाँच पात्रों का परिचय देने में व्यय किया है और फिर पिछली कथा के विकास की ओर ध्यान दिया है। यह तथा इस प्रकार के अन्य भी शैली तथा संगठन के दोष मिलते हैं। इस प्रकार के जितने भी परिचयात्मक अंश, हैं वे बहुत क्षीण हैं। प्रसंगवश यूरोपीय इतिहास की भी अनेक घटनाएँ अनावश्यक रूप से लिखी गयी हैं।

हिंदी कथा-साहित्य को एक नवीन रूप देने वालों में लाला श्रीनिवास दास का नाम सबसे पहले आता है। सर्वप्रथम इन्होंने ही ऐसे विषयों पर उपन्यास लिखने की परम्परा का प्रवर्त्तन किया, जो अब तक अछूते-से थे। इनकी कथा-कृति में साधारण प्रेम-व्यापार और अनुरक्ति आदि का प्राबल्य नहीं मिलता है। यही कारण है कि लाला श्रीनिवास दास के लिखे हुए 'परीक्षा गुरु' नामक उपन्यास से हिंदी उपन्यास की एक परम्परा का प्रारम्भ होता है, जिसका अनुसरण भारतेन्दु युग के अनेक कथाकारों ने किया। इस कथा-परम्परा में आनेवालों में ठाकुर जगमोहन सिंह, पंडित अंबिकादत्त व्यास, तथा पंडित बालकृष्ण भट्ट के नाम उल्लेखनीय हैं।

ठाकुर जगमोहन सिंह ने 'श्यामा-स्वप्न' नामक उपन्यास की रचना की, जिसमें प्रकृति-चित्रण संबंधी अनेक सुन्दर वर्णन मिलते हैं। उदाहरण के लिए—'ऐसे दण्ड-कारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकलकर अनेक दुर्गम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य-जल से पावन करती, पूर्व समुद्र में गिरती है।'

शिल्प-विधान की दृष्टि से इस उपन्यास की विशेषता यह है कि यह रचना गद्य-प्रधान चार खंडों की एक कल्पना मात्र है। जिस प्रकार रात्रि के चार प्रहर होते हैं—इस स्वप्न में भी चार प्रहर के चार स्वप्न हैं। इस प्रकार भावपूर्ण वर्णनात्मक शैली में श्यामा और श्यामसुन्दर की प्रेम-कथा का ढाँचा तैयार किया गया है और उसे कल्पना का आधार दिया गया है।

इस परम्परा में आने वाले दूसरे उपन्यासकार पंडित अंबिकादत्त व्यास हैं। उनका लिखा हुआ 'आश्चर्य वृत्तांत' छोटे-छोटे प्रसंगों का संग्रह है, जिसे उपन्यास कहा जाता है। जैसा कि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है, यह आश्चर्यजनक घटनाओं और चामत्कारिक तत्वों से पूर्ण कथा है। इसके लिखने में लेखक का उद्देश्य यह था कि ऐसा किस्सा सुनाऊँ कि सुनने वाले भी दंग रह जायँ। इस कथा-कृति में विलक्षण घटनाओं की अधिकता है, जिसके कारण रोचकता काफी मिलती है।

उपर्युक्त परंपरा में आनेवाले उपन्यासकारों में बालकृष्ण भट्ट का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने 'सौ अजान एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक दो उपन्यासों की रचना की। ये दोनों उपन्यास शिक्षा-प्रद हैं, जिनमें उपदेशात्मकता की भावना की प्रधानता हो गयी है। 'सौ अजान एक सुजान' के अंत में इन्होंने लिखा है—'अंत में हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढ़कर, आशा करते हैं, सुजान बने; इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चंद्र था और आप लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा।'

इस प्रकार श्रीनिवास दास द्वारा प्रवर्तित यह कथा-परम्परा अपने लघु-विकास-काल में ही विविध विषयों का समावेश अपने आप में करती हुई विकास की ओर अग्रसर हुई। आगे चलकर उसने हिंदी उपन्यास को एक विस्तृत विषय-क्षेत्र प्रदान किया, जिससे उसका विविध धाराओं में होकर विकास हुआ।

देवकीनन्दन खत्री

जीवन-परिचय तथा प्रमुख रचनाएँ—

बाबू देवकीनंदन खत्री की सर्वप्रथम साहित्यिक औपन्यासिक कृति 'चंद्रकांता' सन् १८९१ में प्रकाशित हुई थी। उसके बाद इनके लिखे हुए 'नरेंद्र मोहिनी', 'कुसुम-कुमारी', 'वीरेंद्र वीर' 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चंद्रकांता संतति' आदि अनेक उपन्यास प्रकाशित हुए। हिंदी के प्रारंभिक युगीन उपन्यासकारों में जितनी ख्याति खत्री जी को मिली, उतनी और किसी उपन्यास-लेखक को नहीं।

बाबू देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य

ही था, रस-संचार अथवा चरित्र-निर्माण आदि नहीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनके उपन्यासों के महत्व के कारणों की ओर संकेत करते हुए लिखा है—'ये वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या किस्से हैं, जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं। इससे वे साहित्य की कोटि में नहीं आते। पर हिंदी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनंदन खत्री का स्मरण इस बात के लिये बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किये, उतने किसी ग्रंथकार ने नहीं। 'चंद्रकांता' पढ़ने के लिये ही न जाने कितने उर्दू-भाषी लोगों ने हिंदी सीखी। 'चंद्रकांता' पढ़ चुकने पर वे 'चंद्रकांता' की किस्म की कोई किताब' ढूँढ़ने में परेशान रहते थे। शुरू-शुरू में 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिंदी के लेखक हो गये। 'चंद्रकांता' पढ़कर वे हिंदी की और प्रकार की साहित्यिक पुस्तकें भी पढ़ चले और अभ्यास हो जाने पर कुछ लिखने भी लगे।[1]

खत्री जी के उपन्यासों में कथा का आधार तिलिस्म और ऐय्यारीपूर्ण कौतूहल-वर्द्धक आश्चर्य-जनक घटनाएँ ही हैं। इनके महत्व के विषय में आलोचकों में मतभेद है। पंडित गणेशप्रसाद द्विवेदी का विचार है कि '........ .... केवल परिणाम को देखते हुए तो इनकी तुलना एडगर वैलेस से ही हो सकती है। क्योंकि 'डिक्टेट' कर उपन्यास प्रकाशित करने वाला हिंदी में तो अभी तक दूसरा कोई नहीं हुआ। फिर फैले हुए और जटिल कथानक को, और उसकी बिखरी हुई असंख्य घटनाओं को एक असाधारण सूत्र में पिरोते हुए इतनी बड़ी कहानी कहना एक असाधारण शक्ति की अपेक्षा करता है, और वह शक्ति खत्री जी में थी, यह मानना पड़ेगा। क्योंकि एक ही मौलिक कहानी लेकर जिसमें चंद्रकांता नायिका है, यह तीनों पुस्तकें लिखी गयी हैं। 'संतति' में चंद्रकांता की संतान को हम मुख्य पात्रों के रूप में देखते हैं, कुछ-कुछ ड्यूमा के 'थ्री मुस्केटियर्स' और 'ट्वेंटी इअर्स आफ्टर' के ढंग पर। अन्तर यही है कि ड्यूमा का कथानक ठोस इतिहास का आधार लेकर चलता था और खत्री जी को एकमात्र कल्पना की उड़ान का भरोसा था।[2]

देवकीनन्दन खत्री के विषय में श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने लिखा है—

१. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल), पृष्ठ ३९९।
२. 'हिन्दुस्तानी' में श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी का निबंध।

'चंद्रकांता' का विधाता साधारण प्रतिभा का मानव न रहा होगा। उसकी बुद्धि की प्रशंसा सभी सहृदय करते हैं और करेंगे। घटनाओं का एक जटिल, सघन, दुरूह जाल दूर तक फैलाकर, फिर अंत में अपनी विलक्षण स्मृति के बल पर इन फैले हुए तथ्यों को समेट लेना साधारण व्यक्ति का कार्य नहीं। इसी से आज भी ये रचनाएँ कुछ न कुछ आश्चर्य और कुतूहल का विषय बनी हुई हैं।'[1]

खत्री जी ने अपने युग में उपन्यास की विकास-धारा को एक नया मोड़ दिया। इसका फल यह हुआ कि उनके द्वारा प्रवर्तित कथा-परम्परा का अनुसरण उनके समकालीन तथा परवर्ती अनेक उपन्यासकारों ने किया। इस दृष्टि से इनके साथ दूसरा नाम किशोरीलाल गोस्वामी का लिया जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने उन्हें ही साहित्य की दृष्टि से पहला हिंदी-उपन्यासकार माना है। उन्होंने लिखा है—'उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पंडित किशोरीलाल गोस्वामी हैं, जिनकी रचनाएँ साहित्य-कोटि में आती हैं। इनके उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूप-रंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा-बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है। गोस्वामी जी संस्कृत के अच्छे जानकार, साहित्य के मर्मज्ञ तथा हिंदी के पुराने कवि और लेखक थे। संवत् १९५५ में उन्होंने 'उपन्यास' मासिक पत्र निकाला और इस द्वितीय उपन्यास-काल के भीतर ६५ छोटे-बड़े उपन्यास लिखकर प्रकाशित किये। अतः साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिंदी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए।'[2]

गोस्वामी जी के ऊपर खत्री जी का प्रभाव स्पष्ट है। यों विषय की दृष्टि से इनमें अधिक विविधता मिलती है। परंतु प्रभाव की दृष्टि से उनमें भी वे ही तत्व प्रधानता लिए हुए मिलते हैं, जो उनके ऐय्यारी और तिलिस्मी विषयों के उपन्यासों में हैं। घटना-वैचित्र्य और कौतूहल-सृष्टि के उद्देश्य उनके सभी उपन्यासों की रचना के पीछे प्रतीत होते हैं।

देवकीनंदन खत्री की कथा-परम्परा में तीसरा महत्वपूर्ण हस्ताक्षर श्री गोपालराम गहमरी का है। इन्हें हिंदी में जासूसी उपन्यासों की नींव डालने का श्रेय प्राप्त है।

१. 'हिंदी उपन्यास' (श्री शिवनारायण श्रीवास्तव), पृष्ठ ७३।

२. 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ ४५९।

इन्होंने सन् १८६४ से जासूसी उपन्यास लिखना प्रारंभ किया था। एक जासूसी पत्रिका का प्रकाशन-कार्य भी इन्होंने आरंभ किया था, जो काफी समय तक प्रकाशित होती रही। कला की दृष्टि से इनके उपन्यास खत्री जी के उपन्यासों से श्रेष्ठ समझे जाते हैं। गहमरी जी के उपन्यासों की एक विशेषता यह भी है कि तिलिस्मी, ऐय्यारी तथा अन्य जासूसी उपन्यासों की अपेक्षा वे वास्तविक जीवन के अधिक निकट हैं। किंतु इतना होते हुए भी इनमें खत्री जी के उपन्यासों की तरह भाव, मनोवेग तथा अन्तर्जगत के सूक्ष्म विश्लेषण नहीं हैं। इनमें बुद्धि का चमत्कार और कौशल ही प्रमुख आकर्षण है। इनके उपन्यासों के कथानक में भारतीय गार्हस्थ्य जीवन और उसकी समस्याओं को आधार बनाया गया प्रतीत होता है। साथ ही भारतीय नारी के चारित्रिक आदर्श और गौरव का परिचय देकर उन्हें उपदेशात्मक बनाने की प्रवृत्ति भी मिलती है। कथानक में काल्पनिक तत्वों का समावेश बहुलता से हुआ है।

उपर्युक्त कथा-परंपरा का आधुनिक-युग में विकास करनेवालों में बाबू देवकीनन्दन खत्री के सुपुत्र श्री दुर्गाप्रसाद खत्री प्रमुख हैं। उन्होंने देवकीनंदन खत्री के अधूरे उपन्यास 'भूतनाथ' को भी पूरा किया है। इनके उपन्यासों की विशेषता यह है कि एक ओर जहाँ उनमें पूर्ववर्ती कथा-परम्परा के अलौकिक तत्वों का आरोप मिलता है, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक कथा साहित्य की भी कुछ विशेषताएँ मिलती हैं, उदाहरण के लिए कथा का विश्वसनीय होना आदि। दुर्गाप्रसाद जी के लिखे हुए उपन्यासों में 'लाल पञ्जा', 'प्रतिशोध', रक्त मंडल' तथा 'सफेद शैतान' आदि प्रमुख हैं। इन उपन्यासों की संयुक्त विशेषता यह है कि इनमें उपन्यासकार ने छह ऐसे पात्रों का समावेश किया है, जो समान रूप से इन सभी उपन्यासों में मिलते हैं और जिनका उनमें महत्वपूर्ण स्थान होता है।

दुर्गाप्रसाद खत्री के उपन्यास इस कथा-परम्परा में आते अवश्य हैं, परंतु उनके उपन्यासों का क्षेत्र-विस्तार पूर्ववर्ती उपन्यासों से अधिक है। क्योंकि उनका कथा-क्षेत्र केवल रोमांचक और सनसनी खेजघटनाओं तक ही सीमित रहता था, परन्तु इनमें देश-प्रेम और क्रांतिकारी विचारों का भी समावेश हुआ है। इनमें जिन पात्रों की प्रमुखता है, वे जासूसी और ऐय्यारी के गुणों से संपन्न होने के साथ ही साथ सच्चे देश-प्रेमी भी हैं, जो निरंतर स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। उनके 'रक्तमंडल' नामक उपन्यास में एक देश के शत्रु को इस प्रकार की चेतावनी पत्र-रूप में भेजी जाती है—

'हम तुमको बहुत दिनों से जानते हैं। वक्त-बेवक्त सरकार की मदद करते रहने पर भी हम लोगों ने तुम्हें कभी कुछ नहीं कहा, क्योंकि हम लोग जानते हैं कि तुम बड़े भारी विद्वान् हो और मुल्क तुम्हें इज्जत की निगाह से देखते हैं।······· तुम्हें यकीन हो चाहे न हो, पर हम लोग ठीक कहते हैं कि जो हम कर रहे हैं, वह अपने देश के फायदे के लिए ही कह रहे हैं। हमारे काम में रुकावट डालने वाला चाहे कितना ही विद्वान क्यों न हो, पर देश का दुश्मन ही कहलायगा और उसे इस दुनिया से उठा देना ही मुनासिब होगा............।'[1]

दुर्गाप्रसाद खत्री लिखित उपर्युक्त चारों उपन्यासों में जिस पात्र की प्रमुखता है, वह है गोपाल शंकर। उसके चरित्र-विकास में ऐसे अनेक मोड़ आते हैं, जब उसके विचारों में अत्यन्त उथल-पुथल होने लगती है। उसके कुछ कथन उपन्यास में बहुत मार्मिक और प्रभावपूर्ण बन पड़े हैं। एक बार वह फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों से कहता है—

'अभी तक मैं सोचता था कि काली, भूरी, और पीली जातियों पर सफेद जाति का प्रभुत्व होना प्रकृति की दया है, इससे वह उन्नत होंगी और अपनी दशा सुधारेंगी, पर आज मैं समझ गया हूँ कि यह परमात्मा का शाप उन पर पड़ा है···· मैं जान गया हूँ कि क्रूरता और बर्बरता में आप लोग नादिरशाह और चंगेज से कहीं बढ़कर हैं। ये लोग तो केवल शरीर के आभूषण और पीठ के कपड़े उतार लिया करते थे, पर आप लोग तो शरीरों का रक्त तक खींच लेते हैं···········।'[2]

सन् १६३० तक हिंदी में इस परम्परा के उपर्युक्त प्रकार के ही उपन्यासों की प्रधानता रही। परन्तु सन् ३० के बाद विदेशी भाषाओं से भी जासूसी उपन्यासों के अनुवाद का कार्य आरंभ हुआ। इस प्रकार की अनुवादित रचनाओं में 'ब्लैक' और 'सैक्सटन' के अनुवादों को विशेष रूप से प्रसिद्धि मिली। लगभग २० वर्ष तक इन्हीं उपन्यासों की धूम रही। इसके बाद एक बार फिर इस कथा-परम्परा को आगे बढ़ाने के प्रयत्न में उसे पुरानी कड़ियों से जोड़ने की चेष्टा की गयी। परंतु इस समय के बाद से जो असंख्य उपन्यास लिखे गये, उनमें पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों की ही छाया प्रमुख रूप से लक्षित होती है।

१. 'रक्तमंडल' (श्री दुर्गाप्रसाद खत्री)।
२. वही।

प्रेमचंद

जीवन-परिचय तथा प्रमुख रचनाएँ—हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचंद जी का जन्म सन् १८८० में और मृत्यु सन् १९३६ में हुई। उनका वास्तविक नाम धनपत-राय था, परन्तु हिंदी-संसार में वह प्रेमचंद के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। उनकी लिखी हुई कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—उपन्यास—'सेवासदन', 'वरदान', 'प्रेमाश्रम', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'काया-कल्प' तथा 'गोदान' आदि; नाटक—'संग्राम', 'कर्बला' तथा 'प्रेम की वेदी'; कहानी-संग्रह—'मानसरोवर' (आठ भाग)।

प्रेमचन्द अपने युग के सर्वप्रमुख और प्रतिनिधि उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों की प्रधान विशेषताओं में से एक यह है कि उनमें एक क्रम-बद्ध विकास-रेखा दृष्टिगोचर होती है। उनके अधिकांश पात्र ऐसे हैं, जो काल्पनिक-जगत के जाल से खिंचकर यथार्थ जगत की व्यावहारिकता की ओर बढ़ते प्रतीत होते हैं। पूर्व-युगीन कथा-परम्परा के फलस्वरूप वे आदर्शवाद का अनुगमन करते-से जान पड़ते हैं, परन्तु इतना होने पर भी नवीन युग की समस्याओं के प्रति उदासीनता उनमें नहीं मिलती। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद ने सर्वप्रथम उपन्यास के क्षेत्र से उस अनावश्यक आदर्शवादिता का बहिष्कार किया, जो अब तक के उपन्यासों की एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है।

हिंदी उपन्यासों को नया मोड़ देनेवाले प्रेमचंद अपने युग के ही नहीं, हिंदी के सर्वोत्कृष्ट उपन्यासकार हैं। आधुनिक-युग में हिंदी उपन्यास की जो नयी प्रवृत्तियाँ देख पड़ती हैं, अपने बीज-रूप में वे प्रेमचंद के उपन्यासों में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान हैं। इसी प्रकार प्रेमचंद के उपन्यासों में जो समस्याएँ उठायी गयी हैं, वे व्यक्तिगत और पारिवारिक न होकर समाज-व्यापी हैं और सामाजिक सीमाओं का स्पर्श करती हैं। प्रेमचंद ने भारतीय नागरिक एवं ग्रामीण जीवन के अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों तथा उसके विविध पक्षों पर मानववादी दृष्टिकोण से विचार किया। यही कारण है कि उनकी कृतियाँ जनता का साहित्य हैं, जिनमें भारतीय सामाजिक जीवन प्रतिबिंबित होता है, ग्रामीण समाज, सामाजिक कुरीतियाँ, धार्मिक पाखंड, वेश्या-समस्या, अछूत-समस्या, राजनैतिक स्वतंत्रता, क्रांति का स्वरूप तथा समाज के विभिन्न वर्ग आदि उनके उपन्यासों के मुख्य विषय कहे जा सकते हैं।

प्रेमचन्द का सर्वप्रथम प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवासदन' (सन् १९१८) उनके

आदर्शवादी विचारों का परिचय देने तथा विविध समस्याओं के प्रति उनके दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण की दृष्टि से असाधारण महत्व का है। इस उपन्यास की कथा-वस्तु विविध सामाजिक समस्याओं पर आधारित है। इस उपन्यास का महत्व इस कारण और भी अधिक हो जाता है, जब यह ज्ञात होता है कि यह अपने विषय की प्रवर्त्तक कृतियों में से है। समाज की रूढ़िवादिता, स्त्री-शिक्षा की समस्या, अनमेल विवाह की समस्या, वेश्या-समस्या, दहेज की समस्या आदि पर इस उपन्यास में विचार किया गया है। ये समस्याएँ इसके पूर्व के उपन्यासों में भी मिलती हैं, परन्तु सामाजिक व्यवस्था की जिन कमियों की ओर इस कृति में संकेत किया गया है तथा जिस मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर दिया गया है, वह नवीन है।

इसके पश्चात् प्रेमचन्द के 'वरदान' नामक उपन्यास का प्रकाशन (सन् १९२०) हुआ। इस उपन्यास में प्रेमचन्द का आदर्शवादी दृष्टिकोण तो विद्यमान है, परन्तु जो सुधारवादी दृष्टि 'सेवासदन' में लक्षित होती है, वह इस उपन्यास में नहीं मिलती। फिर 'प्रेमाश्रम' (सन् १९२१) का प्रकाशन हुआ। 'प्रेमाश्रम' में 'सेवासदन' में प्रस्तुत की गयी कलात्मक प्रतिभा और भी निखरकर सामने आयी। 'सेवासदन' की भावभूमि नागरिक सामाजिक जीवन पर आधारित थी, जबकि 'प्रेमाश्रम' में ग्रामीण जीवन के चित्रण को प्रधानता है। उपन्यास में प्रेमचन्द ने एक पात्र से ग्रामीणों की स्थिति के विषय में कहलाया है—'दरिद्रता का उत्तरदायित्व उन पर नहीं बल्कि इन परिस्थितियों पर है, जिनके अधीन उनका जीवन व्यतीत होता है। और ये परिस्थितियाँ क्या हैं? आपस की फूट, स्वार्थ-परायणता और एक ऐसी संस्था का विकास जो उनके पाँवों की बेड़ी बनी हुई है। लेकिन जरा और विचार कीजिये तो यह तीनों टहनियाँ एक ही शाखा से फूटी हुई प्रतीत होंगी, और यह वही संस्था है जिसका अस्तित्व कृषकों के रक्त पर अवलंबित है। आपस में विरोध क्यों है? दुरवस्थाओं के कारण, जिनकी इस वर्तमान शासन ने सृष्टि की है। परस्पर प्रेम और विश्वास क्यों नहीं? इसलिए कि यह शासन इन सद्भावों को अपने लिए घातक समझता है और उन्हें पनपने नहीं देता। इस परस्पर विरोध का सबसे दुःखजनक फल क्या है? भूमि का क्रमशः अत्यंत अल्प भागों में विभाजित हो जाना और उसके लगान की अपरिमित वृद्धि।'[1]

१. 'प्रेमाश्रम' (प्रेमचन्द), पृष्ठ २११।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रेमचन्द ने सबसे पहले इसी उपन्यास में जमींदारी शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी। जमीन के पैतृक अधिकार का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा—'भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है इसलिए उसे किसान से कर लेने का अधिकार है, और प्रत्यक्ष रूप में ले या इससे कम आपत्तिजनक व्यवस्था करे। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य पदार्थ बनाने की स्वच्छंदता हो जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान समाज-व्यवस्था का कलंक-चिन्ह समझना चाहिए। जमींदार को समझना चाहिए कि वह प्रजा का मालिक नहीं वरन् उसका सेवक है।'[1]

इन पंक्तियों में अभिव्यक्त दृष्टिकोण ही उपन्यास का केन्द्रीय विचार है। लेखक ने ग्रामीण-समाज की समस्त दुरवस्था का मूल कारण जमींदारी की प्रथा को ही माना है। उपन्यास के अंत में उन्होंने एक पात्र के मुँह से अपनी काया-पलट का कारण बताते हुए कहलाया है—'मुझी को देखो। पहले बीस बीघे का काश्तकार था, १००) लगान देने पड़ते थे। दस-बीस रुपये साल नजराने के निकल जाते थे। अब जुमला २०) लगान है। नजराना नहीं लगता। पहले अनाज खलिहान से घर तक न आता था। आपके चपरासी, कारिंदे वहीं गला दबाकर तुलवा लेते थे। अब अनाज घर में भरते हैं और सुभीते से बेचते हैं। दो साल में कुछ नहीं तो तीन-चार सौ बचे होंगे। डेढ़ सौ की एक जोड़ी बैल लाये, घर की मरम्मत करायी, सायबान डाला। हँड़ियों की जगह ताँबे और पीतल के बर्तन लिये और सबसे बड़ी बात यह है कि अब किसी की धौंस नहीं, मालगुजारी दाखिल करके चुपके घर चले आते हैं। नहीं तो हरदम जान सूली पर चढ़ी रहती थी। अब अल्लाह की इबादत में जी लगता है, नहीं तो नमाज भी बोझ मालूम होती थी।'[2]

१. 'प्रेमाश्रम' (प्रेमचंद), पृष्ठ ६४३।
२. वही।

प्रेमचंद के सभी उपन्यासों में आकार की दृष्टि से सबसे बड़ा उपन्या 'रंगभूमि' है, जो सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास के द्वारा पहली बा उन्होंने अपने कथा-क्षेत्र का अधिक-से-अधिक विस्तार किया। भारतीय जनता व शोषण, देशी नरेशों व जमींदारों की स्थिति, अँग्रेजों के जाल, शासक-वर्ग व अत्याचारी मनोवृत्ति, तथा सत्याग्रह-आंदोलन आदि इस उपन्यास के विषय हैं हिंदी उपन्यास में गाँधी-वादी दर्शन और नीति के प्रवर्त्तन की दृष्टि से इस उपन्या का असाधारण महत्व है। इस दृष्टि से इस उपन्यास में 'सूरदास' नामक पात्र क चरित्र-चित्रण बहुत सफल हुआ है—'वह खेलाड़ी जिसके माथे पर कभी मौत नहं आयी, जिसने कभी कदम पीछे नहीं हटाया, जीता तो प्रसन्नचित्त रहा; हारा तो प्रसन्न चित्त रहा, हारा तो जीतने वालों से कीना नहीं रखा, जीता तो हारनेवालों प तालियाँ नहीं बजायीं, जिसने खेल में सदैव नीति का पालन किया, कभी धाँधल नहीं की, कभी द्वंद्वी पर छिपकर चोट नहीं की। भिखारी था, अपंग था, अंधा था दीन था, कभी भर पेट दाना नहीं नसीब हुआ, कभी तन पर वस्त्र पहनने को नह मिला; पर हृदय धर्म और क्षमा, सत्य और साहस का अगाध भंडार था। देह प मांस न था, पर हृदय में विनय, शील और सहानुभूति भरी हुई थी।'[1]

'रंगभूमि' की दूसरी महत्वपूर्ण समस्या मनोवैज्ञानिक है, जिसे लेखक ने विनय और सोफिया के प्रेम-व्यापार के आधार पर विस्तार देने का प्रयत्न किया है साथ ही, हमने हिंदी उपन्यासों में पात्रों के आत्महत्या करने की जिस परम्परा का उल्लेख पीछे किया है, 'रंगभूमि' में विनय से पिस्तौल द्वारा आत्म-हत्या कराकर उसे आगे बढ़ाया गया है।

कथानक की नवीनता की दृष्टि से 'कायाकल्प' महत्व का उपन्यास है, जिसका प्रकाशन सन् १९२४ में हुआ था। इसमें कुछ आध्यात्मिक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं और पुनर्जीवन विषयक कल्पनाएँ की गयी हैं। कथावस्तु की दृष्टि से यह प्रेमचंद का असाधारण उपन्यास है। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास की कथावस्तु उतनी संगठित नहीं रह सकी है, जितनी प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों की। जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखनेवाले इसमें इतने

१. 'रंगभूमि' (प्रेमचन्द), पृष्ठ ८९१।

चित्र प्रस्तुत किये गये हैं, कि प्रयत्न किया जाने पर भी कथा की एक-सूत्रता सुरक्षित नहीं रह सकी है। 'कायाकल्प' में जिन उपायों का अवलंबन करके चामत्कारिता उत्पन्न करने की चेष्टा की गयी है, वह भी भारतेन्दु युगीन कथा-प्रवृत्ति से बहुत भिन्न नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसमें चमत्कार-सृष्टि के लिए विविध तिलिस्मों की रचना की जाती थी और अनेक जासूसी तथा रहस्यमय कथा-संकेतों को प्रस्तुत किया जाता था, और इसमें पुनर्जन्म, योग, चिर यौवन-प्राप्ति के लिए की जानेवाली विविध क्रियाएँ आदि रखी गयी हैं। निश्चित रूप से यह कथावस्तु विलक्षण कही जानी चाहिए, क्योंकि इससे पूर्व इस प्रकार की किसी भी कथावस्तु को संभवतः इस रूप में किसी भी उपन्यास में प्रस्तुत नहीं किया गया था। सामुद्रिक विद्या तथा जड़ी-बूटियों का जो कुछ प्रभाव इस उपन्यास में दिखाया गया है, वह निश्चित रूप से किसी कथा-साहित्य की परम्परा न होकर रूढ़िवादी समाज के आचार-विचारों का परिचय देनेवाला ही कहा जाना चाहिये। एक दृष्टि से यह तत्कालीन हिंदू समाज के आस्था-जन्य विश्वासों का प्रतिरूप है। तिब्बत में निवास करनेवाले महात्माओं का अलौकिक शक्ति से संपन्न होना एक ऐसा ही सामान्य विश्वास कहा जा सकता है, जिसका तत्कालीन समाज में प्रचार था। स्पष्ट है कि 'कायाकल्प' का कथानक प्रधानतः आध्यात्मिक विषयों पर आधारित है। कथा-शिल्प की दृष्टि इसकी मुख्य विशेषता यह है कि इसमें कई जन्मों की कथाओं की पृष्ठभूमि तैयार की गयी है।

सन् १९२८ में 'निर्मला' तथा सन् १९२९ में 'प्रतिज्ञा' का प्रकाशन हुआ। 'निर्मला' की कथा दहेज, अनमेल विवाह, बाल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह आदि सामाजिक समस्याओं से संबंध रखती है। इस प्रकार की समस्याएँ प्रेमचंद के पूर्ववर्ती उपन्यासों का विषय भी रही हैं। परन्तु शिल्प की दृष्टि से इसमें उपन्यासों की अपेक्षा अधिक संगठनात्मकता मिलती है। कथा-विकास के उद्देश्य से पूर्ववर्ती उपन्यासकार जिन साधनों का आश्रय ग्रहण किया करते थे, वह इससे पूर्णतः भिन्न है। इसमें कहीं-कहीं स्वप्न आदि के आधार पर भावी संकेतों को प्रस्तुत किया गया है, जिनसे कथा की रोचकता तो बनी ही रही है, साथ ही उसमें शिल्प की दृष्टि से स्वाभाविक मोड़ भी आ सके हैं, जिनके कारण उसकी स्वाभाविकता भी नष्ट होने से बच गयी है। चूँकि इस उपन्यास की समस्याएँ प्रेमचन्दयुगीन कथा-साहित्य में प्रथम बार नहीं उठायी गयी हैं, अतः इस प्रकार

की शंकाओं का होना स्वाभाविक ही है कि यह कृति शिल्प-रूपों के विकास व दृष्टि से किस सीमा तक नयी कथा-परम्परा में आती है या अपने को प्राचीन रूप के प्रभाव से मुक्त कर सकी है। यह सन्तोष का विषय हो सकता है कि इसमें उ किन्हीं भी ढंगों का सहारा नहीं लिया गया है। यह दोष अन्य स्थानों पर तो सरलत से बचाया जा सकता है, परन्तु जहाँ मूल कथा में प्रासंगिक कथाओं के समाविष होने का प्रश्न है, यह उपन्यास वहाँ भी उन तत्वों से अपने आपको मुक्त र सका है।

सन् १९३१ में 'गबन' प्रकाशित हुआ, जो समस्या-प्रधान है और कलात्मक प्रौढ़ता की दृष्टि से भी महत्व का है। इस उपन्यास की कथात्मक-एकता सुरक्षि नहीं रह सकी है, जिसका कारण यह है कि कथा-क्षेत्र में संतुलन नहीं बना रह सक है। कथा-शिल्प की दृष्टि से इस उपन्यास का एक दोष अखरता है। वह यह वि जहाँ-जहाँ भी इस उपन्यास की कथा ने मोड़ लिया है, वहाँ कथा के स्वाभावि विकास की गति अवरुद्ध हो गयी है। विशेष रूप से यह दोष उ स्थलों पर खटकता है, जहाँ कथाकार एकाएक कथा में नवीन पात्रों की सृष्टि करने लगता है।

प्रेमचन्द की अन्तिम कृति 'गोदान' उनके समस्त उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ है इस उपन्यास का हिंदी-उपन्यास-साहित्य में अन्यतम स्थान है। किन्तु यहाँ 'गोदान के साहित्यिक मूल्यांकन करने का प्रयत्न करना उचित न होगा। यहाँ उसकी कथ में शिल्प के रूपों का अध्ययन ही करना चाहिए। यहाँ हम 'गोदान' के कथा-रूप क दो सन्दर्भों में देखने की चेष्टा करेंगे—

(१) पूर्ववर्ती कथा-साहित्य की परम्परा में—

इस सन्दर्भ में 'गोदान' का विश्लेषण करने से यह ज्ञात होगा वि यह उसी की नयी कड़ी है। इस कथन का आधार इस उपन्यास की कुछ नाटकीय ढंग से वर्णित की गयी घटनाएँ हैं। उदाहरण के लिए मेहता का पठान वेश में आना और पार्टी में सम्मिलित लोगों को आतंकित करना। इस प्रकार नाटकीय दृश्यों का समावेश तथा चमत्कार - सृष्टि पूर्ववर्ती कथा-साहित्य व एक प्रमुख विशेषता है, भले ही उसका आधार - स्तम्भ अन्य विषयों व कहा जाय।

इसी संदर्भ में 'गोदान' को आदर्शवादी परम्परा को आगे बढ़ानेवाला उपन्यास ठहराया जा सकता है। इसके अधिकांश पात्र, विशेष रूप से ग्राम-चरित्र, अपने आदर्शवादी सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में अपने यथार्थ रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं और यही उनकी महत्ता भी है कि वे अपने मान्य आदर्श के लिए अन्त तक जटिलताओं के विरुद्ध संघर्ष करते रहते हैं।

इसी सन्दर्भ में 'गोदान' को एक तीसरी दृष्टि से भी देखा जा सकता है। प्रासंगिक कथाओं के समावेश की दृष्टि से भी 'गोदान' में पूर्ववर्ती कथा-परम्परा के अवशेष देखे जा सकते हैं। 'गोदान' में जिन प्रासंगिक कथाओं को लिया गया है, उनके उद्देश्य भी सामान्यतः ठीक वे ही हैं, जो पूर्व युग उपन्यासों से इस प्रकार की कथाओं के समावेश करने में होते थे। प्रथम उद्देश्य मूल कथा के विकास में सहायक होता है और द्वितीय उद्देश्य विविध स्थलों पर कथा की स्वाभाविक गति अथवा गम्भीरता से थोड़ा हटाकर उसमें किसी नाटकीय दृश्य द्वारा हास्य का पुट लाना होता है। परन्तु जब हम 'गोदान' को इस दृष्टि देखते हैं और इसी परम्परा की कड़ी मानते हैं, तो यह न समझना चाहिए कि इसमें भी इन कथाओं के समाविष्ट होने से उन्हीं दोषों की सम्भावनाएँ हो गयी हैं, जिनकी पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में बहुलता होती थी। वास्तव में कथानक के बिखराव का यह दोष भी इस उपन्यास में कम मिलता है।

(२) नयी दिशा का निदर्शन करने के सन्दर्भ में—

इस संदर्भ में 'गोदान' एक बिल्कुल नयी दिशा का निदर्शन करने वाला उपन्यास प्रतीत होगा। इस दृष्टि से इसकी सर्वप्रथम उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें मूल तथा प्रासंगिक कथाओं का अभूतपूर्व समन्वय प्रस्तुत किया गया है। नीचे हम इसी कथन के कारणों की खोज करने का प्रयत्न करेंगे।

'गोदान' की मुख्य कथा ग्राम्य-जीवन पर आधारित है क्योंकि उसी का समग्र चित्रण इस कृति में हुआ है और उसी को इसका विषय भी माना जाता है। परन्तु तथ्य यह भी है कि उसमें जो नागरिक पात्र आते हैं, उनका भी महत्व कथा-विकास की दृष्टि से कम नहीं है। लेखक के कौशल का परिचय इस बात से मिलता है कि उसने ग्राम्य-जीवन के समग्र चित्रण को अपनी कथा का विषय बनाया है और कला-चातुर्य के बल पर उसमें नागरिक जीवन के विविध चित्रों को सम्मिलित

करने के पश्चात् भी उसकी एकात्मकता को सुरक्षित रखा है। दो जीवन-चित्रणों की सफल अभिव्यक्ति उपर्युक्त निष्कर्ष का प्रथम उपादान है।

प्राय: उपन्यासों में जिन प्रासंगिक कथाओं को समावेशित किया जाता है, उनकी अधिकता से कथा में बोझिलता का दोष आ जाता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस युग के अनेक उपन्यासों यह दोष स्पष्ट रूप से मिलता है। 'गोदान' इस दृष्टि से भी एक नयी परम्परा का प्रवर्तन करने वाली कथा-कृति है।

जिस औपन्यासिक कृति में दो कथाएँ समानान्तर विकास की ओर अग्रसर होती रहती हैं, यह स्वाभाविक समझा जा सकता है कि कहीं-न-कहीं उनमें पारस्परिक संघष अवश्य हो। इस संघर्ष की उत्पत्ति का मूल कारण यह होता है कि मूल और प्रासंगिक दोनों कथाओं के पात्र एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। समझा यह जाता है कि इससे कथा की एकसूत्रता बनी रहेगी और दोनों कथाओं का स्वाभाविक विकास भी होगा। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। क्योंकि सैद्धांतिक रूप से तो यह धारणा बना ली जाती है, परन्तु जब इसे व्यवहृत करने का प्रयत्न किया जाता है, तब कुछ ऐसी व्यावहारिक कठिनाइयाँ आकर उपस्थित हो जाती हैं, जिनसे निस्तार पाना कठिन होता है। यही कारण है कि ऐसे अधिकांश उपन्यास अशक्त कृतियाँ होकर रह जाते हैं। परन्तु जहाँ तक इस उपन्यास का सम्बन्ध है, यह निर्विवाद रूप से मान्य समझा जाता है कि इसकी मूल कथा तथा प्रासंगिक कथाओं में कहीं भी संघर्ष की विषम स्थिति नहीं उत्पन्न होने पाती। यह 'गोदान' की एक उल्लेखनीय शिल्प विशेषता है।

प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी अपेक्षा 'गोदान' के कथानक की एकसूत्रता अधिक सुरक्षित रह सकी है। यद्यपि इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कहीं-कहीं इस कृति में भी ऐसा भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि इन दोनों जीवन-चित्रणों की विडम्बनात्मक अभिव्यक्ति ही उपन्यासकार का उद्देश्य रहा होगा। परिस्थितिजन्य वैषम्य और जटिलताओं का चित्रण इस कृति में जिस प्रौढ़ स्तर का मिलता है, वह सम्भवत: इस युग की अन्य किसी भी औपन्यासिक कृति में नहीं। मूल रूप से देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि इस उपन्यास की कथा के दो अंश हैं। इसीलिए उन्हें मूल कथा और प्रासंगिक कथाएँ कहना अधिक उचित नहीं प्रतीत होता, यद्यपि सुविधा के विचार से ऐसा ही

करना पड़ता है। यथार्थ यह है कि इसमें दो कथाएँ स्वतन्त्र रूप से निरन्तर विकास की ओर अग्रसर होती रहती हैं और उनको तटस्थ दृष्टि से देखने पर स्वत: यह बोध नहीं होता कि ये दोनों मूल एवं प्रासंगिक कथाएँ हैं।

'गोदान' के कथा-शिल्प की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें ग्राम्य कथानक को इस ढंग से और इतने प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया गया है कि इसकी समता इस युग का कोई अन्य उपन्यास नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि अब तक ग्रामीण एवं नागरिक जीवन के कथानक को दो भिन्न वस्तुएँ माना जाता था। सामान्यत: यह भी एक धारणा मान्य हो चली थी कि यथार्थात्मकता की दृष्टि से तो ग्रामीण कथानक में भले ही कोई विशेषता उत्पन्न कर दी जाय, परन्तु जहाँ तक चामत्कारिकता का संबंध है, उसमें सम्भावनाएँ बहुत कम हैं, इस उपन्यास की रचना के बाद यह भ्रामक धारणा भी समाप्त हो गयी। प्रत्यक्ष रूप से भावी उपन्यास-साहित्य पर इसके कथा-शिल्प का कोई प्रभाव ढूँढ़ना कठिन है, परंतु परोक्ष रूप से, यह कहा जा सकता है कि ग्रामीण कथानकों से युक्त जो भी उपन्यास विशेष रूप से सफल सिद्ध हुए हैं, उन पर अवश्य इस कथा-कृति का प्रभाव पड़ा है, और परम्परा की दृष्टि से भी वह इसी की परम्परा को आगे बढ़ाती प्रतीत होती है। इस दृष्टि से इसका महत्व विशिष्ट है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के उपन्यासों के कथानक विस्तार-क्षेत्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उनकी प्रमुख उल्लेखनीय विशेषता है, उनका सुनिश्चित गति से विकसित होना। उनका ऐसा कोई भी उपन्यास नहीं है, जिसमें कथानक बिखर गया हो या उसका विकास किसी निश्चित योजना के अनुसार न हुआ हो। यों उनके 'रंगभूमि' तथा 'कायाकल्प' आदि उपन्यासों के कथानक किसी सीमा तक अवश्य अनावश्क रूप से विस्तृत हो गये हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों की दूसरी शिल्पगत विशेषता यह है कि उनमें घटनाओं का चयन कुछ इस रूप में होता है कि कथा की स्वाभाविकता के निर्वाह के साथ-साथ उसमें नाटकीयता के समावेश का भी यथासंभव बहिष्कार हुआ है। शिल्प की इस विशेषता के उनके उपन्यासों में विद्यमान रहने का ही यह परिणाम हुआ है कि वे भावना - प्रधान तथा नाटकीय तत्वों से आक्रांत उपन्यास नहीं बन पाये हैं। इसका कारण प्रेमचंद की कथा-निर्वाह की असाधारण क्षमता है।

प्रेमचंद के उपन्यासों के कथानक सादगी की दृष्टि से भी विशिष्ट हैं।

इसीलिये उनमें निर्माण-कौशल और क्रमिक-विकास-गति के साथ ही साथ स्वाभाविकता रहती है। उनके कथानक घटनाचक्र की जटिलता के फलस्वरूप किसी भूल-भुलैया में चक्कर नहीं काटते रहते। सुनिश्चित कथा-योजना का ही यह परिणाम हुआ है कि प्रासंगिक विषयों के बहुलता से समावेशित होने के बावजूद भी कथानक बोझिलता के दोष से बचे रह गये हैं। कथानक की यह संगठनात्मकता तथा योजना-बद्धता ही उनकी प्रभावात्मकता की वृद्धि में सहायक हुई है।

प्रेमचंद के उपन्यासों की चौथी शिल्पगत विशेषता यह है कि उनके कथानक अनावश्यक उलझाव से मुक्त हैं। वास्तव में पूर्व युग के उपन्यास-साहित्य में कथानक में अधिक से अधिक उलझाव उत्पन्न करने की प्रवृत्ति थी। यह प्रवृत्ति पूर्व युग के उपन्यासों की एक प्रमुख विशेषता कही जा सकती है। इस प्रवृत्ति के मूल में पूर्व युग के उपन्यासों का यह दृष्टिकोण था कि कथानक में जितना अधिक उलझाव व जटिलता होगी, उतने ही वे उत्सुकता-वृद्धि की दृष्टि से सफल सिद्ध होंगे। इसी धारणा का यह परिणाम हुआ था कि पूर्व युग के उपन्यास साहित्य में जासूसी और तिलिस्मी विषयों को आधार बनाकर अनेक उपन्यासों की रचना की गयी थी। यह कहना उचित न होगा कि इस प्रकार के उपन्यासों को प्रचार की दृष्टि से समझता नहीं मिली थी, यद्यपि यह सत्य है कि उनका साहित्यिक व कलात्मक दृष्टि से आपेक्षिक महत्व कम है। परन्तु यह एक उल्लेखनीय बात है कि यह धारणा अधिक समय तक मान्य न रह सकी और प्रेमचंद-युग तक आते-आते तो उसकी लगभग समाप्ति हो ही गयी। इस युग में यदि वह मिलती है तो केवल जासूसी उपन्यासों में—या कभी-कभी किन्हीं असाहित्यिक कोटि के उपन्यासों में। कथानक को इन दोषों से इस विकास-युग में मुक्त रखने की प्रवृत्ति का सूत्रपात् करने का श्रेय प्रेमचंद को ही है। उनके लगभग सभी उपन्यास यथार्थवादी आधार-भूमि पर लिखे गये हैं, जिनके कथानक किसी भी प्रकार के कथात्मक-उलझाव से मुक्त हैं और कोई भी कथात्मक रहस्यात्मकता उनमें नहीं मिलती। यही नहीं, उनमें पाठकों की उत्सुकता बनाये रखने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए भी इन कथात्मक विलक्षणताओं का आश्रय नहीं लिया गया प्रतीत होता। प्रेमचन्द-युग के अधिकांश उपन्यासों में कथा का जो ढाँचा इस नयी पद्धति के अनुसार इस प्रवृत्ति से साम्य रखनेवाला मिलता है, उसका आरम्भ प्रेमचन्द के ही उपन्यासों से समझना चाहिये।

प्रेमचंद के उपन्यासों की शिल्प विषयक पाँचवीं उल्लेखनीय विशेषता यह

है कि पात्रों को कहीं-कहीं ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है कि उन्हें भावी कथा का आभास मिलता है और उसकी आशंका से उनकी भावनाएँ व्यक्त होती हैं। पूर्व युग के उपन्यासकारों की यह धारणा थी कि कभी भी पाठक को भावी कथा का आभास नहीं मिलना चाहिए, अन्यथा उसका सारा कौतूहल समाप्त हो जायगा। यही कारण है कि वे अपने उपन्यासों में कथानक को विकास की ओर अग्रसर करते समय इस बात का अधिक से अधिक ध्यान रखते थे कि कहीं भी यह ध्वनि न निकले कि आगे की कथा इस प्रकार से आगे बढ़ेगी, या आगे इस प्रकार की घटनाएँ घटेंगी। अपनी इसी धारणा के कारण उन्होंने अपने उपन्यासों में उन कथा-संकेतों को समावेशित होने से रोका जिनके कारण यह आशंका हो सकती थी कि आगे की कथा का कोई संकेत मिल जाय। प्रेमचन्द-युग के विषय में उपर्युक्त बात नहीं कही जा सकती है। इस युग के उपन्यासों का शिल्प-गठन ही ऐसा है कि कथानक में ऐसे कथा-संकेतों की कमी नहीं रहती, जो उसके भविष्य की ओर इंगित करते हैं। जहाँ तक प्रेमचंद के उपन्यासों का सम्बन्ध है, उनमें पात्रों के चारित्रिक विश्लेषण तथा घटना-विन्यास की एक या अनेकरूपता से ही ऐसे संकेत मिलते रहते हैं, जो किसी सीमा तक यह निर्देश करने की क्षमता रखते हैं कि कथा का भविष्य में क्या रूप स्थिर होगा। उनमें कहीं भी ऐसा रहस्यपूर्ण वातावरण रचा गया नहीं मिलता, जो कथा के भावी स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट होने देने में बाधक सिद्ध हो। परन्तु ऊपर के कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि ये भावी-कथा-संकेत किसी साधारण रूप में प्रेमचंद के उपन्यासों में विद्यमान हैं। वास्तव में उन्हें इतने कलापूर्ण और भावना-प्रधान रूप में प्रस्तुत किया गया है कि उनका महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए कहीं तो ये संकेत स्वप्न के रूप में किसी पात्र को दिखायी पड़ते हैं और कभी किसी भावी अनिष्ट की आशंका के रूप में उसके सामने आते हैं। इस ढंग से कथा में दिये गये संकेत जहाँ एक ओर कथा के भावी-विकास की ओर संकेत करने में समर्थ होते हैं, वहाँ विविध प्रसंगों या स्थलों पर भावमयता की सृष्टि में भी सहायक होते हैं।[1] कहीं-कहीं तो

१. उदाहरण के लिये 'निर्मला' में वकील साहब जब घर छोड़ते हैं, तब लेखक कहता है—'पर यह कौन जानता था कि यह सारी लीला विधि के हाथों रची जा रही है। जीवन-रंगशाला का यह निर्दय सूत्रधार किसी अगम्य, गुप्त स्थान पर बैठा हुआ अपनी जटिल गुप्त लीला दिखा रहा है। यह कौन जानता था कि नकल असल होने जा रही है, अभिनय सत्य का रूप ग्रहण करने वाला है।'

इनका समावेश प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस रूप में हुआ कि पाठक का हृदय आन्दोलित होने लगता है और वह भी पात्रों के साथ ही उन्हीं के रंग में रँग जाता है तथा उनकी सहानुभूति की कल्पना कर आगे की आशंका से काँप या हर्ष की सिहरन से सिहर उठता है।

प्रेमचंद के उपन्यासों की छठवीं शिल्पगत विशेषता यह है कि उनके कथानक में सूत्रों और सामग्री का संगठन बहुत वैज्ञानिक ढंग से होता है। यह विशेषता पूर्व युग के उपन्यास-साहित्य में नहीं मिलती है। एक उपन्यासकार अपने उपन्यास के कथानक का निर्माण करते समय अनेक आधार-सूत्रों तथा प्रासंगिक विषयों और घटनाओं का संयोजन करता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से कुछ कठिनाइयाँ ऐसा करते समय आती हैं और थोड़ी देर के लिए उसे यह विचार करने लगना पड़ता है कि इन प्रासंगिक घटनाओं का सम्बन्ध मुख्य कथा-तत्व से किसी सीमा तक प्रत्यक्ष रूप में होना चाहिए और यह भी निर्धारण करना पड़ता है कि उनका योग प्रधान-कथा के विकास में किस सीमा तक इस प्रकार होना चाहिए कि वे उसके विकास में बाधा न देते हुए भी अपने तत्वों को सुरक्षित रख सकें। अवश्य ही किसी भी ऐसी भाषा के उपन्यास-साहित्य में, जिसमें उपन्यासों की परम्परा बहुत थोड़े वर्षों की हो और साथ ही अपना रूप-निर्धारण भी न कर पायी हो, इन सब कलात्मक दृष्टियों से कथानक को सुगठित बनाना थोड़ा कठिन हो जाता है। यह कठिनता इसलिए और भी बढ़ जाती है जब यह भी निश्चित हो कि इन प्रासंगिक विषयों का प्रभाव न केवल उपन्यास पर कथात्मकता की दृष्टि से पड़ेगा, वरन् चारित्रकता की दृष्टि से भी। परन्तु इस प्रकार के अनेक व्यावहारिक दोषों के समावेश को कथा-कृति में रोका जा सकता है यदि उपन्यासकार घटना-क्रम-निर्धारण तथा कथा-सामग्री के संयोजन में किंचित् सतर्कता से काम ले। यह विशेष ध्यान देने की बात है, क्योंकि प्रेमचंद जैसे सशक्त और समर्थ उपन्यासकार भी अपने आपको इस दोष से मुक्त नहीं रख सके हैं। 'सेवासदन' में सुमन के वेश्या-गृह का परित्याग करते समय लेखक ने जो हास्य की छटा दिखलाने का प्रयत्न किया है, वह न केवल अप्रासंगिक है वरन् कथा के प्रवाह और रस-प्रवाह की दृष्टि से भी अनौचित्यपूर्ण है। और जहाँ तक प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों का संबंध है; उनके लगभग सभी उपन्यासों में कहीं न कहीं एकाध ऐसे प्रसंग अवश्य आये हैं। शिल्प-विकास की दृष्टि से यह बात भी किसी सीमा तक नवीन मानी जा सकती है क्योंकि पूर्ववर्ती उपन्यासों

में या तो इसका समावेश ही नहीं होता था और यदि होता था तो सर्वथा अप्रासंगिक रूप से।

हिंदी के उपन्यासकारों में प्रेमचंद को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। उन्होंने उपन्यास-साहित्य को भावी विकास के लिए विविध-धाराओं से युक्त एक ऐसी दिशा दी, कि उसके विविध अंगों को समुचित रूप से पुष्पित होने का अवसर मिला। उनके उपन्यास अपने युग-जीवन के सजीव चित्र हैं। यही कारण है कि प्रेमचंद के समकालीन तथा परवर्ती उपन्यासकारों पर उनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। कुछ कथाकारों—उदाहरण के लिए जयशंकर 'प्रसाद', विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' तथा 'सुदर्शन' आदि—पर तो उनका इतना प्रभाव पड़ा है कि न केवल प्रकृति की दृष्टि से बल्कि भाषा-शैली और दृष्टिकोण के विचार से भी इन उपन्यासकारों की कृतियों में बहुत-सी परस्पर समानताएँ मिलती हैं। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद का अपना एक 'स्कूल' था, जिसका अनुसरण उनके समकालीन तथा उत्तरकालीन अनेक उपन्यासकारों ने किया। यहाँ उन्हीं कथाकारों की कृतियों के आधार पर देखने का प्रयत्न किया जा रहा है कि कथानक-निर्माण आदि की दृष्टि से प्रेमचंद की परम्परा में आने वाले कथाकार कौन से हैं।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से इस कथा-परम्परा में आने वाले सर्वप्रथम उपन्यासकार जयशंकर 'प्रसाद' हैं, जिनका पहला उपन्यास 'कंकाल' सन् १९२९ में प्रकाशित हुआ था। उस समय तक हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द के अतिरिक्त और किसी उपन्यासकार की ऐसी कृतियाँ न थीं, जिनसे किसी क्षेत्र में कोई प्रेरणा ली जा सकती। लेकिन चूँकि तब तक 'गोदान' का प्रकाशन नहीं हुआ था और प्रेमचन्द के साथ ही साथ अन्य अनेक उपन्यास भी आदर्शवाद की भावना से ओत-प्रोत रचनाओं का ही सृजन कर रहे थे, अतः यह किसी के लिए भी नयी बात ही होती कि वह यथार्थवाद को गौरव देता। यह विवादग्रस्त बात ही होगी, यदि किसी कृति को बिल्कुल आदर्शवादी और किसी को बिल्कुल यथार्थवादी कहा जाय, यद्यपि यह तथ्य है कि उस समय तक यथार्थ भावना बहुत कम उपन्यासों में मिलती थी। किसी सीमा तक इस प्रवृत्ति का कारण हिन्दी उपन्यास के पूर्व युग का प्रभाव भी था। इसलिए शुद्ध यथार्थ-अनुभूतियों पर ही कोई कृति यदि आधारित हो, तो उसे असामान्य ही मानना चाहिए। इस दृष्टि से यह स्वीकार करना होगा कि प्रेमचन्द के अतिरिक्त जयशंकर 'प्रसाद' ही दूसरे

उपन्यासकार थे, जिन्होंने यथार्थवाद पर समान रूप से गौरव दिया। यह उपन्यास सामयिक असन्तोष के विरुद्ध विद्रोह की आवाज फूँकता है। कहा जा सकता है कि यह हिन्दी के यथार्थवादी उपन्यासों की प्रवर्त्तक पूर्व-कथा-कृतियों में है। परन्तु परम्परागत उपन्यासों के कथा-निर्माण की दृष्टि से देखने पर 'कंकाल' भारतेन्दुयुगीन सुधारवादी आदर्श का दृष्टिकोण को लेकर रचे गये उपन्यासों की कोटि में आना दिखायी देगा। इसमें भी दो कथाओं को समानान्तर विकास की ओर अग्रसर किया गया है। उत्तरी भारतवर्ष के अनेक धार्मिक-ऐतिहासिक नगरों के जीवन को यथार्थ रूप में उभारा गया है और मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति इसमें की गयी है। स्पष्ट है कि यह प्रेमचन्द के उपन्यासों की आधार-भूमि से बिल्कुल भिन्न है। जैसा कि अभी कहा गया है इसमें दो कथाएँ समान रूप से विकसित हुई हैं। इन दो कथाओं के साथ ही साथ अनेक प्रासंगिक कथाएँ भी हैं। भारतेन्दुयुगीन उपन्यासों की कथा में जो जो घटना-वैचित्र्य मिलता है, उसका इस उपन्यास में अभाव नहीं है। ऐसे ही कुछ कारण हैं, जिनके फलस्वरूप कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होने लगता है कि कथानक का विकास स्वाभाविक रूप में नहीं हो पा रहा है। कुछ स्थलों पर तो भारतेन्दु-युग के तिलिस्मी उपन्यासों के समान ही घटनाओं का ज्वार उठता प्रतीत होता है। लेकिन यह घटना-वैचित्र्य लेखक के वर्णाश्रम-धर्म पर प्रहार करने के उद्देश्य से ही समाविष्ट हुआ है। 'कंकाल' के कथानक के निर्माण के पीछे यही उद्देश्य है। फिर भी यह भावप्रधान कथानक से भिन्न है।

जयशंकर 'प्रसाद' का दूसरा उपन्यास 'तितली' भी इसी परंपरा में आता है, जिसका प्रकाशन सन् १९३४ में हुआ। इससे पूर्व उनका 'कंकाल' नामक उपन्यास प्रकाशित हो चुका था। उनके उपन्यासों में यथार्थवाद का आरोप कुछ आदर्शवादी आलोचकों को अखरा था और उन्होंने उसका विरोध भी किया था। इसमें सफलापूर्वक पारिवारिक समस्याओं की पृष्ठभूमि में भारतीय ग्राम्य और नागरिक जीवन का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इसकी कथा में ग्राम-सुधार आदि की भावनाएँ भी हैं, जो प्रेमचन्द के 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' आदि उपन्यासों की सुधार-भावना से प्रेरित हैं। परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि 'तितली' की अपेक्षा 'कंकाल' की कथा अधिक सुगठित नहीं है। साथ ही 'तितली' में उस यथार्थवादी दृष्टिकोण का भी अभाव है, जिसका 'कंकाल' में प्राधान्य था। यह ठेठ आदर्शवादी परम्परा के अन्तर्गत आनेवाली कृति है, जो भारतेन्दु-युगीन

उपन्यासों द्वारा प्रशस्त होकर प्रेमचन्द युग में आयी थी। भारतीय आदर्श और ग्राम-सुधार की भावना से प्रेरित होकर लिखी गयी यह कृति प्रेमचन्द के कुछ उपन्यासों से कथानक की दृष्टि से पर्याप्त साम्य रखती है। यों इस प्रकार के कथानक को ग्रहण कर जो उपन्यास लिखे गये, उनका प्रसार प्रेमचन्दोत्तर युग तक है। इसके कथानक में भी 'प्रसाद' के पहले उपन्यास के समान ही मूल कथा के समानान्तर ही दूसरी कथा चलती है और साथ में अनेक प्रासंगिक कथाओं का विविध स्थानों पर समावेश होता चलता है। यद्यपि घटनाओं का जो बाहुल्य और वैभिन्य 'कंकाल' में मिलता है, वह इसमें नहीं है। इसमें गौण और प्रासंगिक कथाओं के प्रति अधिक से अधिक उदासीनता दिखायी गयी है।

प्रेमचन्द स्कूल दूसरे उपन्यासकार विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक' हैं, जिनके उपन्यासों में सामान्यतया वे ही कथात्मक प्रवृत्तियाँ देख पड़ती हैं, जो प्रेमचन्द के उपन्यासों में है। परन्तु कलात्मकता की दृष्टि से इन दोनों उपन्यासकारों में पर्याप्त वैचित्र्य है। जहाँ तक युगीन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, यह ठीक प्रेमचन्द युग के उपन्यासकार कहे जायँगे। इस युग में लिखे गये उपन्यासों के कथानक आदि का अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि उनमें असामान्य कथा-विषय कम हैं और सामान्य कथा-विषय अधिक। यही कारण है कि कथात्मक-नवीनता की ओर कदम उठाने का साहस बहुत कम औपन्यासकों ने किया है। इस युग के उपन्यासों में इस प्रकार के जिन कथानकों का बाहुल्य है, कौशिक के उपन्यासों में भी उसका अभाव नहीं है। यद्यपि यह भिन्न बात है कि कौशिक के उपन्यासों में घटनाओं की बहुलता का अपेक्षाकृत कम प्रसार है। 'माँ' में व्यंग्यात्मक शैली से पूर्ण कथानक को प्रस्तुत किया गया है और यह बताया गया है कि यदि माता मूर्ख होती है, तो उसकी मूर्खता के कारण अनेक दुष्परिणाम सामने आते हैं और यदि वह योग्य होती है, तो इसका परिणाम भी शुभ होता है। इस दृष्टि से प्रेमचन्दयुगीन आदर्शात्मक कथा-तत्वों का इसमें अभाव नहीं है, जो भारतेन्दु काल से ही उपन्यासों का एक प्रमुख विषय बन गया था। परंतु यहाँ एक बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि इसके कथानक का विकास बहुत ही भावात्मक शैली में हुआ है। परम्परागत तथा ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से ही इसका महत्व अधिक कहा जायगा।

इस परंपरा में आने वाला विश्म्भरनाथ शर्मा का दूसरा उपन्यास 'भिखारिणी'

है। जैसाकि इस उपन्यास के नाम से स्पष्ट है, इसका कथानक एक भिखारिणी की जीवन-गाथा पर आधारित है। स्पष्ट ही इसमें अनेक करुण भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। नये फैशन के युवकों की चरित्र-भ्रष्टता आदि को भी इसका एक विषय बनाया गया है। रामनाथ इसका एक ऐसा ही पात्र है जो अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। उपन्यासकार की धारणा यह है कि ऐसे ही व्यक्ति समाज में भ्रष्टाचार के प्रसार का मूल कारण होते हैं। वह भिखारिणी को दान देते समय उसके यौवन को ही देखकर दया प्रकट करता है। इस प्रकार के विषय जिन उपन्यासों में उभर कर सामने आते हैं, उनमें कथानक घटनाओं से भरा हुआ तो रहता है, परन्तु उसकी घटनाएँ प्रमुख नहीं रह जातीं, बल्कि जिन पात्रों के चरित्रों पर उसके द्वारा प्रकाश पड़ता है, उनकी चारित्रिक विशेषताएँ उभरने लगती हैं। ऐसे उपन्यासों में कथानक का महत्व भी चरित्र-चित्रण की अपेक्षा घट जाता है। इस दृष्टि से इसमें भिखारिणी का चरित्र स्पष्ट रूप से विकास को प्राप्त होता रहता है। विविध स्थानों पर उसके हृदय की भावमयता पाठकों के हृदय को तरंगित कर देती है। लेकिन ऐसे कथानकों के सम्बन्ध में यह बात भी निश्चय है कि उनमें यथार्थ का अभाव-सा ही दिखायी देता है। चूँकि इस प्रकार के कथानक सामान्य रूप से किसी भी लेखक के आदर्शवादी दृष्टिकोण का ही पोषण करते हैं, अत: आदर्श की वह भावना कथानक को आक्रान्त कर देती है और पात्रों के विकास की स्वाभाविक अथवा अस्वाभाविक गति के फलस्वरूप वह बोझिल भी हो जाता है। 'कौशिक' के इन उपन्यासों के कथानक पर ठीक यही बात लागू होती है। उनमें घटनाओं की बहुलता और उलझाव कम तो है, परन्तु यह दोष आदर्शवादी अनावश्यक स्थापनाओं के कारण आ गया है। इसी कारण सरल कथानक भी सरल नहीं प्रतीत होते और उनमें कथा-अवरुद्ध सी हो जाती है। उपदेशात्मकता और आदर्शवादिता के बोध से कथानक की घटनाएँ भी यथार्थ रूप में सामने नहीं आतीं। इस प्रकार के कथानक में दूसरी विशेषता यह पायी जाती है कि उसमें जटिल कथावस्तु की भाँति प्रासंगिक और अतिरिक्त कथाओं का परिचय पग-पग पर नहीं मिलता है। उनमें साधारणत: एक ही मूल कथा होती है, और वही समयानुसार विस्तार को प्राप्त होती रहती है। यही कारण होता है कि इस प्रकार का कथानक असम्बद्धता आदि दुर्गुणों से सदैव मुक्त रहता है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में भारत के ग्रामीण व नागरिक समाज के

विविध वर्गों का चित्रण करके एक नये मार्ग का प्रवर्त्तन किया था। उनके बाद के बहुत से उपन्यासकारों ने उनमें से अपनी-अपनी रुचि के अनुसार चुनाव कर अपने उपन्यासों के कथानक की रचना की। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने इसी परंपरा को आगे बढ़ाया। इनके उपन्यासों का विषय भारतीय समाज का उच्च वर्ग है। यही कारण है कि इनके उपन्यास जिस प्रकार की कथावस्तु के आधार पर रचे गये हैं, उनमें सामान्य रूप से उच्चवर्गीय समाज के ही प्रतिनिधि पात्र बहुलता से मिलते हैं। प्रवृत्ति के विचार से यह कहा जा सकता है कि यह प्रेमचन्द के बहुत निकट हैं। कथानक के चुनाव की दृष्टि से प्रतापनारायण श्रीवास्तव के इन उपन्यासों का ऐतिहासिक महत्व है; क्योंकि इन्होंने एक सर्वथा नवीन विषय-वस्तु के आधार पर ही अपने कथानकों का निर्धारण किया। उनका सर्वप्रथम उपन्यास 'विदा' है। सामान्यत: उनकी प्रारम्भिक कृतियों में इसी का महत्व सर्वाधिक है। 'विदा' के कथानक की शिल्प की दृष्टि से सर्वप्रथम उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें एक साथ तीन परिवारों की कहानी को प्रस्तुत किया गया है। इसमें कुमुदिनी और निर्मल के दाम्पत्य-विरोध से कथा प्रारम्भ होती है। फिर वह अपने पिता के यहाँ आ जाती है और अब उसका सूत्र भी प्रधान कथा के समान ही आगे बढ़ता रहता है। वह एक नये व्यक्ति के सम्पर्क में आती है। उधर निर्मल एक नयी स्त्री के सम्पर्क में आता है और इस प्रकार एक तीसरे सूत्र का उद्भव होता है। अब तीनों सूत्र बराबर विकसित होते हैं। इसकी एक और शिल्प-सम्बन्धी विशेषता यह है कि जिस प्रकार दो परवर्ती सूत्र मुख्य कथा के साथ बहुत ही नाटकीय ढंग से सम्बद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार बहुत ही नाटकीय ढंग से वे उन्हें टूटकर अलग भी होना पड़ता है। फल यह होता है कि प्रथम सूत्र ही मूल कथा के रूप में अन्त में बच रहता है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि इसकी कथा में नयी पीढ़ी की रोमांस-लालसा की पृष्ठभूमि में जिस कथावस्तु का निर्माण किया गया है वह शिल्प की दृष्टि बहुत गठी हुई है। फिर भी इसमें भारतेन्दुयुगीन उपन्यासों के प्रभाव के कारण जो चामत्कारिक ढंग से कथानक को मोड़ देने की जो प्रवृत्ति झलकती है, वह इसको बहुत ऊपर नहीं उठने देती। यही कारण है कि इसमें कहीं अस्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त किये गये भावुक चित्रण दोष पूर्ण मालूम होते हैं। इसका महत्व कथानक में आयी हुई घटना-योजना की दृष्टि से ही अधिक है।

प्रेमचन्द ने 'निर्मला' तथा 'प्रेमाश्रम' आदि में विधवाओं की समस्या को

उठाया था। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विजय' नामक उपन्यास में भी उ समस्या को नयी पृष्ठभूमि में उठाया गया है। लेखक की पूर्व औपन्यासिक कृ के समान ही इसका कथानक भी आदर्शवादी भावनाओं पर ही आधारित है इसी आदर्शवाद की झोंक में पात्र एवं घटनाओं का बहाव भी अपनी स्वाभावि सीमाओं का परित्याग कर देता है। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है 'विजय' में भी उसी रूढ़िवादी कथा-समस्या को उठाया गया और इस प्रकार रू उद्देश्य की दृष्टि से उसमें कोई नवीनता नहीं मिलती। परन्तु वास्तव में य सत्य नहीं है। इसका कारण यह है कि अब तक जिन उपन्यासों में इस समस् को उठाया गया था, उनमें अधिकांश की कथा का विषय मध्यवर्गीय समाज हो होता था। वस्तुतः विधवा-समस्या का सीधा सम्बन्ध इसी समाज से है क्योंकि निम्न वर्गीय समाज में इस प्रकार की कोई समस्या है ही नहीं और उच्च वर्ग को पृष्ठभूमि में रखकर इस पर सम्भवतः इसलिए विचार नहीं किया ग क्योंकि उच्च वर्ग में नारी-समाज उतनी शृंखलाओं में नहीं जकड़ा रहता इसीलिए इस समस्या का उनके समक्ष इतना अधिक महत्व नहीं है, जितना मध्यवर्गीय समाज के। इस दृष्टि से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें इ समस्या को भारतीय समाज के उच्च वर्ग से सम्बद्ध करके देखने का यह पहल प्रयत्न है। परन्तु उसका कथानक आदि से अन्त तक रोचक नहीं रह पाया है इसका कारण यह है कि भारतीयता और उसके आदर्श के प्रभाव में रहने फलस्वरूप लेखक ने विविध स्थलों पर अपने उन विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक अ विस्तार से प्रकट किया गया है, जो इस समस्या के मूल रूप से अथवा उस किसी पहलू से, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध रखते हैं। वास्तव में यां लेखक का उद्देश्य अपने इन्हीं विचारों को इसी रूप में प्रकट करना था, तो इस लिए कथा-साहित्य उतना अच्छा माध्यम नहीं है। जहाँ तक इस उपन्यास विशे का सम्बन्ध है, कथा-प्रवाह में ये विचार बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हुए हैं। समस् कथा अनावश्यक विवरणों से आक्रान्त और बोझिल है। शिल्प की दृष्टि से ये दो बहुत अखरते हैं।

हम पीछे कह चुके हैं कि हिन्दी उपन्यास को यथार्थ की भूमि पर सर्वप्रथ प्रतिष्ठापित करने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है। उनकी आदर्शवादी कथा-परम्प में आनेवाले उपन्यासकारों में से प्रमुख की चर्चा अभी की गयी। अब उ

उपन्यासकारों का उल्लेख किया जायगा, जो प्रेमचन्द द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी कथा-परंपरा में आते हैं। इन उपन्यासकारों में चतुरसेन शास्त्री, पांडेयबेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह तथा मन्मथनाथ गुप्त आदि आते हैं। चतुरसेन शास्त्री के सामाजिक उपन्यास इसी यथार्थवादी कथा-परंपरा की कड़ियाँ हैं। उनके 'अमर अभिलाषा' नामक उपन्यास का कथानक एक विधवाश्रम से संबंध रखता है। यों इस विषय से संबंध रखनेवाले कथानक अनेक उपन्यासों में मिलते हैं। परन्तु इस दृष्टि से इस उपन्यास के कथानक में यह विशेषता मिलती है कि इसमें एक साथ छै विधवाओं की कथा सूत्रबद्ध होकर विकास की ओर अग्रसर होती है, जिनके नाम भगवती, नारायणी, सुशीला, कुमुद, मालती और बसन्ती हैं। हो सकता है कि इस उपन्यास की रचना के पीछे लेखक की सुधारवादी दृष्टिकोण ही प्रधान रहा हो, परंतु विषय-वस्तु तथा घटना-वर्णन की दृष्टि से यह ठीक उसी परम्परा में आता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। कथा-शिल्प की दृष्टि से इस उपन्यास की एक विशेषता यह बतायी जा सकती है कि जिस चामत्कारिक ढंग से लेखक ने इन विधवाओं का पारस्परिक संबंध जोड़ा है तथा अन्य पात्रों से भी प्रसंगानुसार उनके संबंध को स्पष्ट किया है, यह इसी युग की शिल्प-विशेषता है और सामान्य रूप से यह विशेषता इसी प्रकार के कथानक पर लिखे गये उपन्यासों में लक्षित भी होती है। परंतु इस चामत्कारिक ढंग से सूत्र-बद्धता के अतिरिक्त जो स्पष्ट दोष इसमें मिलता है, वह है कथानक के बिखराव का। एक साथ छै प्रधान पात्रियों को लेकर उनकी कथाओं को समानांतर विकसित करते रहना और उपन्यास के कथानक के अतिरिक्त उसके अन्य तत्वों का उचित निर्वाह करना कठिन काम है, जो उपन्यासकार से नहीं निभ पाया है।

कथानक का यही बिखराव 'आत्मदाह' में भी मिलता है। इसमें कथा का केन्द्र एक व्यक्ति है, जो पग-पग पर एक न एक नयी विपत्ति को खड़ा पाता है। उसके प्रियजन को कष्ट उठाने पड़ते हैं, उसे प्रियजन की मृत्यु का दुख सहन करना पड़ता है। किसी की एक टाँग कट जाती है, किसी को किसी के दुर्व्यवहार का कष्ट सहन करना पड़ता है, किसी का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है, किसी की हत्या कर दी जाती है, किसी को काले पानी भेज दिया जाता है आदि। ये सारी घटनाएँ-दुर्घटनाएँ उस नायक को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर घटती

रहती हैं, भले ही उनका उससे कोई प्रत्यक्ष संबंध हो या न हो। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास-साहित्य में जो कथानक के बिखराव का दोष अनेक उपन्यासों में मिलता है, वही इस उपन्यास में भी है। अन्तर इतना है कि शिल्प-कौशल के कारण जहाँ वह प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास की एक विशेषता माना जाता है, वहाँ इस युग के उपन्यासों में एक दोष। अधिकांश पात्र और अधिकांश घटनाएँ इसमें ठूँसी गयी सी लगती हैं, जिनका न नायक से संबंध है और न मूल कथा से। इस कृति की असफलता का प्रमुख कारण इसकी कथा का बिखराव ही है।

कथात्मक शैली की दृष्टि से पांडेयबेचन शर्मा 'उग्र' का नाम इस परंपरा के उल्लेखनीय कथाकारों में है। उनके प्रसिद्ध उपन्यासों में 'दिल्ली का दलाल' 'चंद हसीनों के खतूत', 'बुधुआ की बेटी', 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'जीजी जी' आदि हैं। उनके उपन्यासों की कथावस्तु में भारतीय समाज के भीतर छिपी हुई घृणित वृत्तियों, वेश्यालयों, मदिरालयों आदि विषयक यथार्थताओं की प्रमुखता रहती है। यहाँ प्रमुख रूप से इन्हीं कृतियों के संदर्भ में कथा-शिल्प विषयक विशेषताओं को देखने का प्रयत्न किया जायगा।

'उग्र' के उपन्यासों के कथानक को स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक, उनके प्रारम्भिक उपन्यासों के कथानक; दो, उनके बाद के उपन्यासों के कथानक। यह कथानक-विभाजन 'उग्र' की औपन्यासिक कृतियों के कथानक का अध्ययन करने में बहुत सहायक हो सकता है। इसका कारण यह है कि 'उग्र' की प्रारंभिक और परवर्ती कृतियों में इतना बड़ा और स्पष्ट अन्तर दिखायी पड़ता है, जितना सम्भवतः अन्य उपन्यासकारों में बड़ी कठिनाई से दीख पड़ेगा। इसका कारण यह है कि अतियथार्थवाद की दृष्टि से उन्होंने जिन विषयों को अपने कथानक का आधार बनाया, वे श्रेष्ठ साहित्य की सीमाओं से अलग माने जाते रहे हैं। विशेष रूप से परम्परावादी आदर्श के समर्थक आलोचकों ने उनकी इस प्रकार की कृतियों का विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि उनकी बाद की औपन्यासिक कृतियाँ अपनी कथावस्तु में आदर्शवाद का ऐसा पोषण करती प्रतीत होती हैं, जिसे देखकर आश्चर्य होता है।

'उग्र' की जिन औपन्यासिक कृतियों के नाम ऊपर लिखे गये हैं, उनमें से अधिकांश के बारे में यह निर्णय मान्य कहा जा सकता है। परन्तु इन विषयों को अपनी साहित्यिक कृतियों का विषय बनाना साहित्य के स्वरूप-विकास के लिए

किस सीमा तक हितकर या अहितकर हो सकता है, यह विवाद का विषय है, परन्तु जहाँ तक लेखक के अपने दृष्टिकोण का प्रश्न है, उसने इन वृत्तियों को यथार्थता के दावे के साथ ही प्रस्तुत किया है। लेखक का कथन है—'है कोई माई का लाल जो हमारे समाज को नीचे से ऊपर तक देकर, कलेजे पर हाथ धरकर, सत्य के तेज से मस्तक तानकर इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि तुमने जो कुछ लिखा है, समाज में ऐसी घृणित, रोमांचकारिणी, काजल-काली तस्वीरें नहीं हैं। अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमेठे, और छोटे मुँह पर थप्पड़ मारे, मेरे होश के होश ठिकाने करे। मैं उसके प्रहारों के चरणों के नीचे हृदय-पाँवड़े डालूँगा, मैं उसके अभिशापों को सिर माथे पर धारण करूँगा, सँभाल लूँगा। अपने पथ में कतर-ब्योंत करूँगा। सच कहता हूँ, विश्वास मानिए सौगंध औ गवाह की हाजत नहीं मुझे।'

'दिल्ली का दलाल' में समाज की कुत्सित मनोवृत्तियों को कथा का विषय बनाया गया है। कथा-परम्परा की दृष्टि से इस प्रकार के कथानकों का प्रसार इस युग के पूर्ववर्ती काल में कम था। इस दृष्टिकोण से यह कहा जायगा कि इस विशिष्ट परम्परा में कुछ विशेष उपन्यासकारों की कृतियाँ ही आती हैं। यों जहाँ तक प्रचार का सम्बन्ध है, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, स्वस्थ साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार की कृतियों का महत्व विवादास्पद है। इसमें स्त्रियों के अवैध व्यापार तथा व्यभिचार आदि का जैसा चित्रण किया गया है, उसका साहित्यिक महत्व कितना है, यह कहना कठिन है। परंतु इतना स्पष्ट है कि उनके अगले एक उपन्यास 'बुधुआ की बेटी' में दृष्टिकोण को अधिक संयत बनाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार वह और भी संयत रूप में उनकी आगामी कृति 'चंद हसीनों के खतूत' में मिलता है। इसमें उपन्यास तक आते-आते कथानक में आदर्शवाद का स्वर मुखर रूप में मिलता है। साथ ही इस युग की कथा-कृतियों में जिन रोमांस से संबंधित तत्वों का बाहुल्य मिलता है, उनकी छाया भी इस उपन्यास में मिलती है।

अगली औपन्यासिक कृति 'शराबी' में कथानक की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं मिलती। इसका कथानक भी उनकी प्रारंभिक कृतियों के समान ही है। अवश्य, दृष्टिकोण इसमें परिवर्तित हो गया लक्षित होती है। इसी का यह परिणाम हुआ है कि विषय-वस्तु भी दृष्टि से इतना साम्य होते हुए भी यह कृति उन उपन्यासों से भिन्न स्तर की है, और ठीक उनकी कोटि में नहीं आती। इसी प्रकार 'सरकार तुम्हारी

आँखों में' में भी कथा विषय की दृष्टि से परिष्कृत रूप में मिलती है। 'जीजी जी' में उनका कथा-विषयक दृष्टिकोण बिल्कुल परिवर्तित हो गया लगता है। इस उपन्यास आते-आते उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण में थोड़ा परिवर्तन हो चला था और साथ ही उसमें आदर्शवाद के संकेत भी जहाँ-तहाँ मिलने लगे थे। नारी का आदर्श और उसके कार्य क्षेत्र को लेकर इसमें उपन्यासकार ने अपने दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। अन्ततः 'उग्र' के उपन्यास—यदि उनके अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही उन्हें देखा जाय तो—सुधारवादी कथा-परम्परा में आते हैं, जिसका प्रसार भारतेन्दु युग से लेकर प्रेमचंदोत्तर युग तक के उपन्यासों में मिलता है।

ऋषभचरण जैन का नाम भी इसी परम्परा के उपन्यासकारों के साथ लिया जाना चाहिए। 'दिल्ली का व्यभिचार', 'दिल्ली का कलंक', 'दुराचार के अड्डे', 'वेश्या पुत्र', 'चम्पाकली', 'रहस्यमयी', 'मयखाना', 'हर हाइनेस', 'चाँदनी रात', 'गदर', 'मास्टर साहब', 'पैसे का साथी', 'भाग्य', 'मन्दिर प्रदीप', 'बुर्दा फरोश' तथा 'सत्याग्रह' आदि इनके उपन्यास हैं। पाण्डेयबेचन शर्मा 'उग्र' के उपन्यासों के विषय में हमने कहा था कि यों इनके सभी उपन्यास प्रायः एक ही विषय पर लिखे गये हैं, परन्तु इसके बावजूद साहित्यिकता की दृष्टि से उनकी समस्त औपन्यासिक कृतियों को प्रारम्भिक और परवर्ती दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार ऋषभचरण जैन के उपन्यासों को भी वर्गीकृत किया जा सकता है। यदि एक ओर उनके अनेक उपन्यास ऐसे हैं, जो ठीक 'उग्र' के उपन्यासों को परंपरा में, विषय-वस्तु की दृष्टि से, आते हैं, तो उनके उपन्यासों में कुछ ऐसे भी मिल जायँगे, जो प्रेमचन्द की उपन्यास-परम्परा में आते हैं। इसका कारण यह है कि प्रारम्भ में उनका दृष्टिकोण सुधारवादी रहा था, और उसमें उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण की ही प्रधानता थी। परन्तु बाद में उन्हें यह अनुभव हुआ कि 'सिर्फ सदाचार-सम्बन्धी अनर्गल पुस्तकें छापकर कोई प्रकाशक आर्थिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता और व्यापारिक कार्य के लिए चन्दा माँगकर गुजर करना भी किसी प्रकाशक की गैरत गवारा नहीं कर सकती।' कुछ भी हो, उनके उन उपन्यासों के कथानक, जिनको, यथार्थवादी साहित्य के अन्तर्गत रखा जाता है, बिल्कुल सामान्य उपन्यासों जैसे हैं। उनमें रोचकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यही कारण है कि वे किसी भी साहित्य के लिए गौरव की अभिवृद्धि नहीं करते।

इस परंपरा में दो और नाम सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' तथा राजा राधिका-रमणप्रसाद सिंह के लिये जा सकते हैं।

'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभावती' तथा 'कुल्लीभाट' आदि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के उपन्यास हैं। 'अप्सरा' का कथानक एक वेश्या के जीवन पर आधारित है। सामान्य रूप से इसके कथानक में कोई असामान्य बात नहीं पायी जाती और जहाँ तक शिल्प की बात है, उसमें भी कोई विशेषता नहीं है। 'अलका' का महत्व इस उपन्यास की अपेक्षा अधिक है। इसमें एक ऐसी स्त्री की कथा है, जो माता पिता की मृत्यु के कारण अनेक संकटों में पड़ चुकी थी। उसका पति उसका पता लगने पर सेवा-कार्य में लग गया और वह स्वयं भी शिक्षा ग्रहण करने लगी। बाद में उन दोनों का मिलन भी हो गया। बीच में एक बार अलका के हाथ से एक हत्या भी हो गयी, जब वह अपनी सम्मान-रक्षा के लिए बचाव कर रही थी, परन्तु यहाँ लेखक ने नाटकीय ढंग से उसे बचा लिया है। विजय, अजित, अलका, सावित्री आदि पात्र-पत्रियाँ या तो त्याग और सेवा की मूर्ति हैं या धर्म और पवित्रता की देवी। इस प्रकार कथानक में आदर्शवादी भावनाएँ प्रारंभ से अन्त तक मिलती हैं। कथा-विकास में विविध स्थानों पर चामत्कारिक मोड़ दिये गये हैं, जैसे विजय और अलका का मिलन आदि। उनके अन्य उपन्यास भी सामान्यतया नारी-समाज की इन्हीं समस्याओं की ओर संकेत करते हैं। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनके उपन्यासों में शिल्प की दृष्टि से ऐसी कोई नवीनता नहीं मिलती, जो उन्हें इस युग के उपन्यासकारों में कोई विशिष्ट स्थान प्राप्त कराये। परन्तु जहाँ तक 'प्रभावती' नामक उपन्यास का सम्बंध है, इसकी कथावस्तु उपर्युक्त प्रकार की नहीं है। यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। जिन उपन्यासों के कथानक ऐतिहासिक होते हैं, उनका शिल्प-निर्धारण सामान्यतः सामाजिक कथानक के शिल्प-निर्धारण से भिन्न कोटि का होता है। इस दृष्टि से यह उपन्यास भी विशेष सफल नहीं कहा जायगा। हाँ, इनके उपन्यासों में से प्रत्येक का कथानक, वह चाहे जिस प्रकार का हो, अत्यंत भावपूर्ण और काव्यमय शैली में आगे बढ़ाया गया है, जो उनके कवि रूप की प्रधानता का परिचायक है।

राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह की औपन्यासिक कृतियाँ 'राम - रहीम', 'पुरुष और नारी', 'सूरदास', 'टूटा तारा', 'गाँधी टोपी', 'सावनी समाँ' तथा 'चुम्बन और चाँटा' आदि हैं। इनमें से 'राम रहीम' सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था

तथा 'चुम्बन और चाँटा' नवीनतम है। 'राम-रहीम' की भूमिका में लेखक ने बताया है कि उसने इस उपन्यास में' दैनिक जीवन की एक मनोरंजक कथा को लेकर इस उपन्यास की रचना की है।' लेकिन इस कथा का आधार लेकर 'धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्ठे खोलकर रख देने की कोशिश की गयी है। भारतवर्ष के अंतर्गत इस युग के आचार को, इस युग के विचार को इस युग की पुकार को दो जीती-जागती स्त्रियों के जीवन-पट पर प्रस्फुटित करने का प्रयास किया गया है। यहाँ अध्यात्म के साँचे में शृंगार है, फैशन का दामन थामे दर्शन है। इसीलिए वास्तविकता की सादी जमीन पर नैतिकता की किनारी टकी है—यथार्थवाद के छींटे हैं। आजकल की टकसाली कला के पहलू में अपनी पुरानी धज भी कायम रखने की कोशिश की गयी है।' इस उपन्यास में बेला और बिजली नामक दो स्त्रियों की कथा है। ये दोनों स्त्रियाँ दो विविध नारी-वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं और उनके प्रतीक रूप में ही जिनका चरित्र-विकास हुआ है। प्रतीकात्मक रूप से ही इसमें राम-रहीम का जीवन-दर्शन उठाया गया है। धार्मिक भावनाओं और अंधविश्वास की प्रताड़ना करते हुए लेखक ने यह सिद्ध किया है कि इस युग के लिए अब पिटी-पिटायी रूढ़िगत धार्मिक भावनाएँ कोई अर्थ नहीं रखतीं। बेला जीवन पर धर्म का आश्रय ग्रहण किये रही, फलस्वरूप जीवन भर ही उसे अनेक विपत्तियों के नीचे, उनसे घिरे रहना पड़ा; बिजली ने सदैव धर्म की उपेक्षा की, उसका उपहास किया, परन्तु उसने सदा ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत किया। इन दो पात्रियों के अतिरिक्त इस उपन्यास में जितने भी अन्य पात्र हैं राय साहब, नवाब, मैनेजर, सलीम, अमीन, दिनेश, गिरधारी लाल आदि वे समाज के विशिष्ट वर्गों के प्रतिनिधि हैं और सामान्यतय: अपने आप में वे सब विशेषताएँ लिए हुए हैं, जिनको उनके वर्गों की आधारभूत विशेषताएँ माना जाता है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से इसमें एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह यह कि कथा और पात्रों के तमाम ताने-बाने के बीच मूल कथा बेला और बिजली की ही है, परन्तु इन दोनों कथाओं का निर्वाह अस्वाभाविक ढंग से नहीं हुआ है। दोनों कथाएँ प्रारम्भ में एक सूत्र से निकल कर दो हुईं, फिर दो स्वतंत्र रूपों में उनका क्रमश: विकास हुआ। अन्त में इन दोनों कथाओं के सूत्र फिर उसी प्रकार एक हो गये हैं, जिस प्रकार आरंभ में अलग हुए थे। अवश्य कहीं-कहीं पर ऊबानेवाले संवाद हैं, परन्तु कथा-विषय की दृष्टि से इस युग के उपन्यासों में इनका इस प्रकार समावेश कोई नयी बात नहीं है।

ऊपर जिन प्रारम्भिक औपन्यासिक कृतियों का उल्लेख हुआ है, उनमें 'राम-रहीम' की अपेक्षा किसी नवीन विशेषता की खोज करना व्यर्थ है, क्योंकि उनमें पारस्परिक साम्य है। यद्यपि यह बात दूसरी है कि उनकी कथाओं का आधार-रूप भिन्न है। यों वर्गगत सामाजिक चित्रण के अनुसार उनमें कोई नयापन नहीं देख पड़ता।

प्रेमचंद द्वारा प्रवर्तित आदर्शवादी और यथार्थवादी दोनों प्रकार की विचार-धाराओं का संयुक्त प्रभाव लेकर जो उपन्यासकार सामने आये हैं, उनमें चंडीप्रसाद 'हृदयेश', श्रीनाथ सिंह तथा ऊषादेवी मित्रा आदि हैं। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने एक बृहत् उपन्यास लिखा है और एक लघु उपन्यास। बृहत उपन्यास का नाम है 'मंगल प्रभात' और लघु उपन्यास का 'मनोरमा'। 'मंगल प्रभात' लगभग साढ़े सात सौ पृष्ठों का उपन्यास है, परन्तु इस कलेवर को देखते हुए जिस महानता की आशा की जानी चाहिए, वह उसमें नहीं मिलती। वास्तव में इतने बड़े उपन्यास के लिए जो फैला हुआ एवं गठित कथानक आवश्यक है, वह इसमें नहीं मिलता। इसका कथानक सामाजिक समस्याओं पर आधारित है। आदर्शवादी विविध सिद्धांतों का इसमें जहाँ-तहाँ विस्तार से विवेचन मिलता है। सेवा, त्याग तथा धार्मिक भावनाओं की व्याख्या भारतीय आदर्श के अनुरूप ही मिलती है। इसके जितने भी प्रमुख पात्र-पात्रियाँ—आनन्द स्वामी, बाबू जी, राजेन्द्र, सुभद्रा, तथा अन्नपूर्णा आदि—हैं, वे अपने-अपने आदर्शों के पुतले से जान पड़ते हैं, जिनसे किन्हीं भी परिस्थितियों में समान व्यवहार की आशा की जा सकती है, क्योंकि उनकी प्रतिक्रिया परिस्थितियों के अनुरूप नहीं, बल्कि अपने स्वभाव, आदर्श, मान्यता और सिद्धांत के अनुरूप होती है। इसकी कथा का विस्तार बहुत ही काव्यात्मक ढंग से किया गया है। कुछ भी हो, उपदेशात्मक भाषणों की इस उपन्यास में इतनी अधिकता है, कि कहीं-कहीं तो जी बहुत ऊब जाता है। लाख प्रयत्न करने पर भी लेखक इस लम्बी कथा में उतनी रोचकता नहीं ला सका है, जितनी इतने बड़े कलेवर वाले उपन्यास में अपेक्षित है। कई दृष्टियों से चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का लघु उपन्यास 'मनोरमा' इससे अच्छा बन पड़ा है; कम से कम कथा को रोचक बनाने की दृष्टि से तो अवश्य ही। स्थूल रूप से वर्गीकरण के अनुसार इसे सुधारवादी आदर्श को लेकर चलने वाले उपन्यासों की परम्परा में रखा जायगा।

प्रेमचंद की आदर्शवादी परंपरा में सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर आने वालों

में श्रीनाथ सिंह का नाम उल्लेखनीय है। 'उलझन', 'प्रभावती', 'प्रजामण्डल' तथा 'जागरण' आदि श्रीनाथ सिंह की औपन्यसिक कृतियाँ हैं। कथानक की दृष्टि से इनमें से केवल 'जागरण' में ही कुछ विशेषताएँ मिलती हैं। इस उपन्यास का कथानक ग्राम-सुधार के विषय से संबंध रखता है। अवश्य ही इस पर आदर्शवादी कथा-परम्परा के प्रभाव मिलते हैं, परंतु जहाँ तक सिद्धांत-प्रतिपादन का प्रश्न है, उपन्यासकार का विश्वास गाँधीवाद में है। कथानक की दृष्टि से इसकी शिल्प-विशेषता मात्र इतनी है कि परम्परागत सुधारवादी भावना इस उपन्यास में उभर कर सामने आयी है। कलात्मकता की दृष्टि से इस उपन्यास को उतनी सफल कृति नहीं कहा जायगा। इसका कारण यह है कि कथानक में कहीं भी यह नहीं मालूम होने पाता कि लेखक वास्तव में वह क्या मौलिक बात कहना चाहता है, जो दलगत प्रचार आदि से अलग करके ग्रहण की जा सके। साथ ही कथा का बहाव इतना अनियोजित और क्रम रहित है कि उसमें सूत्रबद्धता खोजने की चेष्टा ही व्यर्थ होती है। परम्परा के विचार से कहीं-कहीं इसमें नाटकीय ढंग से कथा को मोड़ देकर एकाएक कुछ चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है, परंतु इसमें लेखक को सफलता नहीं मिली है। उदाहरण के लिए इसका एक पात्र कृपाशंकर अकारण ही ऐसा व्यवहार-परिवर्तन करता है, जो अद्भुत लगता है। इस युग के अन्य उपन्यासों की विषय-वस्तु के समान ही, इसमें भी कथानक के अनुसार अनेक प्रासंगिक समस्याओं को उठाया गया है, जिनमें नारी-समाज की समस्याओं से लेकर राजनीति से संबंध रखनेवाली समस्याएँ तक आ जाती हैं। कथानक का एक और दोष इसमें यह भी है कि ये सब प्रासंगिक विषय नाम के लिए ही 'प्रासंगिक' कहे जाते हैं। अन्यथा उपयोगिता अथवा उद्देश्यपूर्णता की दृष्टि से ये बिल्कुल अनावश्यक हैं और कथा-विकास में इनका कोई योग नहीं है। यदि उपन्यासकार के दृष्टिकोण से देखा जाय, तो ये केवल विषय के प्रतिपादन और मण्डन की दृष्टि से कुछ महत्व रखते हैं, क्योंकि अंततोगत्वा ये लेखक के सिद्धांत और मान्यताओं का पोषण करते हैं। कहीं-कहीं नाटकीयता की सीमा भी देख पड़ती है। यह कथानक की प्रभावात्मकता की दृष्टि से एक बहुत अप्रौढ़ चिन्ह है, जो उपन्यास को बहुत हल्का कर देता है।

इसी परंपरा में ऊषादेवी मित्रा भी आती हैं, जिनके लिखे हुए 'बचन का मोल', 'पिया', 'जीवन की मुस्कान' तथा 'पथचारी' आदि उपन्यास हैं। ये सभी

उपन्यास समस्या-प्रधान हैं। अत: इनके कथानक प्रेमचंदयुगीन औपन्यासिक कथा-तत्वों से पूर्ण हैं। परंतु जहाँ तक कथा की विकास-शैली का संबंध है, इस पर हिंदी उपन्यास-शिल्प का प्रभाव न होकर बँगला कथा-परम्परा का अनुसरण मिलता है। स्वदेश-प्रेम, धर्म, करुणा, पति-प्रेम आदि भारतीय नारी के आदर्शों तथा भावनाओं के संकेत कथा में जहाँ-तहाँ बिखरे मिलते हैं। उपर्युक्त उपन्यासों के कुछ प्रधान पात्र, सविता, कमलेश, तथा कजरी आदि इस कथन का प्रमाण हैं। इनमें से एक में यह दिखाया गया है कि प्रेम में असफल होने पर किस प्रकार एक स्त्री देश-सेवा की ओर झुकी। दूसरे में यह दिखाया गया है कि प्रेम में असफल होने पर नायिका तीर्थ-यात्रा के लिए चल पड़ी। देश-प्रेम और देश-सेवा आदि की ओर इनका झुकाव इतने नाटकीय तथा अनिवार्य ढंग से होता है कि कथानक में अस्वाभाविक तत्वों का समावेश हो गया है और साथ ही वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इनके लिए उपयुक्त नहीं है। अवश्य ही लेखिका ने जीवन की अनेक विडम्बनाओं को कथा-परिवर्तन का इस प्रकार आकस्मिक रूप से होना इसका कारण बताया है, परंतु इन विशिष्ट स्थलों पर मात्र इतना कारण अपर्याप्त है। यदि इन उपन्यासों के कथानकों में कोई विशेषता है तो वह यही कि इनमें कथा का आधार उन नारी-पात्रों को ही बताया गया है, जिन्हें विविध क्षेत्रों में पग-पग पर संघर्ष करना पड़ता है और प्रकार जीवन की जटिल विषमताओं का परिचय देने की दृष्टि से इनका महत्व है। यदि नारी-जीवन के इन मार्मिक चित्रणों से अलग करके उसे देखा जाय तो वह अपने उस रूप में अवश्य ही खटकने वाला लगता है, क्योंकि इतने पूर्व-निश्चित ढंग से कथा में मोड़ आते हैं कि फिर उनमें कोई विशेषता शेष नहीं रह जाती प्रतीत होती।

अब तक हम देख आये हैं कि हिंदी उपन्यास में कथा-शिल्प का जो विकास विविध इतिहास-युगों में हुआ है, उसमें एक प्रकार की क्रम-बद्धता सी मिलती है, जो उसकी क्रमिक विकास-रेखा को स्पष्ट करती है। प्रारम्भिक युग का तथा भारतेन्दुयुगीन कथा-साहित्य इस कथन का प्रमाण हैं। उनमें कथा-शिल्प के रूपों की दृष्टि से जो कुछ भी नवीनता मिलती है वह एक महान कथा-परम्परा के शिल्प-रूपों के प्रभाव के फलस्वरूप ही। अवश्य ही इस कथन का यह अर्थ नहीं कि इन युगों में कभी भी हिंदी उपन्यास ने स्वयं अपने रूप-निर्धारण की दिशा में प्रयत्न नहीं किया। इस कथन का तात्पर्य केवल इतना ही समझना चाहिए कि

हिंदी उपन्यास की जो पूर्ववर्ती कथा-परम्परा थी, वह उतनी ही महान थी, जितनी कि प्राचीन। यही कारण है कि उसकी विविध प्रवृत्तियों में शिल्पगत इतनी अनेकरूपता मिलती है कि यदि उसका प्रभाव आगे आनेवाली शताब्दियों तक के कथा-साहित्य पर छाया-रूप में पड़ता रहा, तो इसमें कोई भी अस्वाभाविक अथवा अश्चर्यजनक बात नहीं है।

प्रेमचंद युग का कथा-साहित्य भी उसी महान् परम्परा को आगे बढ़ाता है, जिसका प्रसार आगे अनिश्चित काल तक होता है और पीछे भी अनिश्चित काल-सीमा तक जिसकी जड़ें फैली हुई हैं। आशय यह है कि इस दृष्टि से देखने पर वह एक सुनिश्चित रूप से गतिशील परम्परा का अंश ज्ञात होता है। और दूसरी बात यह है कि इस युग का उपन्यास-साहित्य एक सर्वथा नवीन कथा-परम्परा का प्रवर्तन करता भी जान पड़ता है। इस दृष्टि से देखने से यह ज्ञात होता है कि यह कुछेक नये कथा-रूपों का स्थिर चित्र है, जो अभी अपने विकास की प्रारम्भिक सीढ़ियों पर ही है। इस दूसरी भिन्न दृष्टि के मूल कारणों में एक है इस युग के कथा-साहित्य पर विदेशी कथा-साहित्य का प्रभाव का आधिक्य।

प्रेमचंदयुगीन उपन्यासों में कथा-शिल्प के विकास-तत्वों की खोज करने पर यह पता चलता है कि उपन्यास की कथा अब अधिक सुगठित रूप में मिलने लगी तथा इसके साथ ही उसमें चारित्रिक विशेषताएँ उत्पन्न करके उसे अधिक कलात्मक रूप दिया गया। पूर्ववर्ती उपन्यास-साहित्य में जो एक के बाद दूसरी घटना को उपस्थित करके उनका लम्बा-चौड़ा जाल बुना जाता था, वह इस युग के उपन्यासों में बहुत कम हो गया।

प्रेमचंद युग के उपन्यासों में शिल्प-रूपों की दृष्टि से विशेषताएँ खोजने पर यह पता चलता है कि उनमें कथानक को अधिक से अधिक प्रभावशाली रूप में सामने रखने का प्रयत्न तो किया गया है, परंतु किसी नवीन शिल्प-रूप को ग्रहण करने के प्रयत्न नहीं किये गये। यद्यपि इसके साथ ही यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी, कि इस युग में उपन्यास के क्षेत्र का भी विकास हुआ तथा उसमें उन अधिक से अधिक विषयों को उठाया गया, जिनके संबंध में यह समझा जाता था कि उन्हें उपन्यास में स्थान नहीं मिलना चाहिए। उदाहरण के लिए इस काल

में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, नैतिक, सांस्कृतिक या अन्य किसी भी युगीन या युगेतर विषय को इससे बाहर नहीं समझा गया।

कथा-तत्वों के विकास और परिवर्तन की दृष्टि से यह बात स्वीकार की जानी चाहिए कि जहाँ प्रेमचंद का पूर्ववर्ती उपन्यास-साहित्य घटना-प्रधान होता था और उसमें पात्रों के चरित्र की विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयत्न बहुत कम किया जाता था, वहाँ प्रेमचन्द-युग के उपन्यास-साहित्य के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। पूर्व युग के उपन्यासों में उपन्यासकार अपनी दृष्टि केवल उपन्यास के कथानक पर रखता था, पात्रों को केवल इसमें सहायक मात्र समझता था। किसी उपन्यास में कथानक को छोड़कर पात्रों पर भी गौरव दिया जा सकता है, यह धारणा तत्कालीन उपन्यास विषयक कतिपय मान्यताओं के विरुद्ध पड़ती थी। यही कारण है कि पूर्व युग के उपन्यासों के कथानक घटनाओं के भार से इतने दबे रहते थे कि न तो उनकी कथानक-विशेषताएँ उभर कर सामने आती थीं और न किसी पात्र की चरित्रगत विशेषताएँ ही। भारतेन्दु युग में कथा-शिल्प के किन्हीं भी नये रूपों का परिचय नहीं मिलता, और केवल सामान्य कथा कहने के ढंग से ही सभी उपन्यासों के कथानक निर्मित हुए हैं, इसका यही कारण है। अवश्य कथा-विकास के सहायक तत्वों के रूप में इस युग के उपन्यासों में कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं, जिन्हें पूर्ववर्ती युगों के कथा-रूपों के प्रभाव के फलस्वरूप आया माना जाता है और जिन्होंने इस युग के कथा-साहित्य में एक प्रकार की युगीन विशेषता उत्पन्न भी की।

प्रेमचंद युग के उपन्यासों में कथावस्तु और पात्रों के विकास में जो एक प्रकार का संतुलन दिखायी देता है, वह इसी कारण से। इस युग के उपन्यासों में यदि कथानक को घटना-वैचित्र्य से किसी सीमा तक बोझिल बनाते हुए भी उसका विकास किया है, तब भी इस बात का ध्यान रखा गया है कि उस उपन्यास में जो पात्र आये हैं, चारित्रिक विकास की दृष्टि से उनमें भी अपूर्णता न रह जाय। पूर्व युग के उपन्यासों में इन दोनों प्रधान तत्वों के महत्व को देखते हुए जो असंगतियाँ मिलती हैं, उनको पृष्ठभूमि में रखते हुए यदि हम इस विकास-क्रम पर दृष्टि डालें तो यह उपलब्धि साधारण नहीं प्रतीत होगी।

कथा-निर्माण की दृष्टि से प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासों में एक विशेषता यह भी मिलती है कि कथानक को पूर्णता की ओर अग्रसर करते समय क्रमिक विकास

गति को आधार बनाया जाता है। पूर्व युग में एक सामान्य दोष औपन्यासिक कृतियों में मिलता था। वह यह है कि उनका कथानक प्राय: प्रथम परिच्छेद से व्यावहारिक रूप से आरम्भ हो जाता था। इस प्रकार एक प्रकार से कथानक के प्रकार विषय का परिचय आरम्भ में ही मिल जाता था। एक दृष्टिकोण से ऐसा ही होना कथा के स्वाभाविक विकास में सहायक भी होता है। परन्तु उन उपन्यासों में कथा-विकास की दृष्टि से जो बड़ी कमी दिखायी देती है वह यह कि एक बार कथा-सूत्र को प्रारम्भ करने के पश्चात् उसके स्वाभाविक विकास-क्रम को ध्यान में रखना आवश्यक नहीं समझा जाता था। यही कारण है कि उसमें कहीं पर अनावश्यक रूप से घटना-बाहुल्य दिखायी देता है और कहीं कथा-सूत्र की एकदम अप्रधानता। पूर्व युग के अधिकांश उपन्यासों के कथानक इसी दोष के कारण प्रभावपूर्ण नहीं बन पाये।

कथा में स्वाभाविक विकास-क्रम के अभाव का यह आरोप प्रेमचन्द युग के उपन्यासों के विषय में सत्य नहीं है। इसमें जो उपन्यास लिखे गये हैं, इनमें से अधिकांश में कथानक का व्यावहारिक रूप से आरम्भ करने के बाद उसे सुनिश्चित योजना के आधार पर विकसित किया गया है। जो घटनाएँ कथा-विकास में सहायक होती हैं, वे भी एक नियम-चालित ढंग से सामने आती हैं, जिसका फल यह होता है कि कथा-विकास में संतुलन को कमी नहीं प्रतीत होती है।

कथा-शिल्प विषयक दूसरी विशेषता जो प्रेमचन्द युग के उपन्यासों में दिखायी देती है, वह है नाटकीय तत्वों के कथानक में कम से कम समावेशित होने की। पूर्व युग का उपन्यास-साहित्य कथानक में नाटकीय तत्वों के समावेश की दृष्टि से बहुत अप्रौढ़ प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि उपन्यासकार को जहाँ भी ऐसा प्रतीत होता था कि वह अपनी इच्छित वस्तु को स्वाभाविक विकास से कथानक में नहीं घटित कर पायगा, वहाँ वह तुरन्त ही अनिवार्य रूप से जिस वस्तु का आधार ग्रहण करता था, वे थे नाटकीयता के तत्व। कथानक में अस्वाभाविकता लगने का एक मात्र कारण ये ही नाटकीय तत्व हैं, जिन्होंने पूर्व युग के उपन्यास साहित्य के धरातल को ऊपर नहीं उठने दिया।

कथानक में नाटकीयता के तत्वों के समावेश की दृष्टि से प्रेमचन्द-युग का उपन्यास साहित्य अपेक्षाकृत श्रेष्ठतर कहा जायगा। यद्यपि यह समझना भ्रम

होगा कि इस युग के उपन्यासों के कथानक में नाटकीयता के तत्वों का समावेश हुआ ही नहीं है, परंतु इसके साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि कथा-साहित्य का चाहे जिस सीमा तक कलात्मक विकास हो जाय, इन तत्वों को पूर्णतः उपेक्षा करना बहुत कठिन है। यही कारण है कि इन्हें किसी सीमा तक साहित्यिक मान्यता प्राप्त हो चुकी है, परन्तु दूसरी ओर, इनकी साहित्यिक मर्यादा का निर्धारण भी हो गया है।

कथा को विविध विकास-खंडों में भी विभाजित कर देने की प्रवृत्ति इस युग के उपन्यासों में लक्षित होती है। यों यह कथा-खण्ड-विभाजन-प्रवृत्ति प्रेमचंदोत्तर युग में ही अपने विकसित और वैज्ञानिक रूप में मिलती है, परन्तु इस युग में उसका सूत्रपात हुआ और एक नये रूप में उसका समावेश उपन्यासों में हुआ। इस खंड-विभाजन का आधार प्रायः कथा के विविध अंश होते हैं, जिनका संबंध जीवन के विविध अंगों तथा पात्रों की कोटियों से होता है। कहने का आशय यह है कि विविध पात्रों की जितनी जीवन-कथा का वर्णन उपन्यास में होता है, उसे विविध विशिष्ट कालों में विभाजित कर दिया जाता है और इस प्रकार प्रत्येक खण्ड में उनमें से एक काल की कथा वर्णित की जाती है। बहुधा कथा का खंड-विभाजन इस जीवन-कथा के अंशों के आधार पर न किया जाकर पात्रों के चारित्रिक विकास के दृष्टिकोण को पृष्ठभूमि में रखते हुए विकास-क्रम के आधार पर किया जाता है। इस वर्गीकरण के अनुसार यदि कथा को चार खण्डों में बाँट दिया जायगा, तो इन खण्डों में, क्रमशः कथा-परिचय, कथा-विकास, कथा-संघर्ष तथा कथा-समाप्ति को लिया जायगा। इस शिल्प-रूप का प्रमाण हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में इसी युग में हो गया था। परन्तु जैसा कि अभी कहा जा चुका है इसका समुचित विकास परवर्ती-युग में ही मिलता है।

डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा

जीवन-परिचय तथा प्रमुख कृतियाँ—हिंदी उपन्यास के इतिहास में वृन्दावन-लाल वर्मा का महत्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म सन् १८९० में झाँसी जिले के मऊ रानीपुर ग्राम में हुआ था। आप झाँसी के रहनेवाले हैं। आपको बुंदेलखंड के इतिहास की विशेष जानकारी है। इनके उपन्यासों की प्रमुख विशेषता यह है कि

उनके कथानक ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा नहीं करते और कल्पना-तत्वों के समावेश के कारण रोचक भी बने रहते हैं। वर्मा जी को हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में भारतीय इतिहास के गौरवमय पृष्ठों के आधार पर अत्यंत कलात्मक उपन्यासों की रचना करने का श्रेय प्राप्त है। इस कथा-परम्परा में वर्मा जी तथा जो अन्य लेखक आते हैं, उनका संक्षिप्त विवरण अपनी कथा-कृतियों में शिल्प-रूपों के आधार पर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

वर्मा जी ने मुख्यतः उपन्यास, नाटक तथा कहानियाँ ही लिखी हैं। उनकी लिखी हुई प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—उपन्यास—'गढ़ कुंडार', 'बिराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी', 'कचनार', 'माधव जी सिंधिया' 'कुंडली चक्र', 'अचल मेरा कोई', 'मुसाहिबजू', 'लगन', 'सोना', 'प्रेम की भेंट', 'प्रत्यागत', 'कभी न कभी', 'शबनम', 'अमर बेल', तथा 'टूटे काँटे' आदि; नाटक—'झाँसी की रानी', 'हंसमयूर', 'राखी की लाज', 'पूर्व की ओर', 'खिलौने की खोज', 'केवट', 'बीरबल', 'बाँस की फाँस', 'फूलों की बोली', 'नीलकंठ', 'कनेर', 'मंगलसूत्र', 'काश्मीर का काँटा', 'लो भाई ! पंचों !! लो !!!', 'पीले हाथ', 'जहाँदरशाह' तथा 'सगुन' आदि; तथा कहानी-संग्रह—'शरणागत', 'कलाकार का दंड' आदि।

डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा प्रवर्तित ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा का आरंभ उनके सफल उपन्यास 'गढ़ कुंडार' से होता है, जिसका प्रकाशन सन् १९२७ में हुआ था। इसका कथा-क्षेत्र बुन्देलखंड है, जिसे वहाँ के इतिहास की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया गया है। वीर बुन्देलों तथा खंगारों की पारस्परिक द्वेष-भावना तथा उसके परिणाम का मार्मिक और प्रभावपूर्ण चित्र इसमें उपस्थित किया गया है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता यह है कि वर्मा जी ने इसमें ऐतिहासिक वातावरण इतने वास्तविक और विश्वसनीय रूप से चित्रित किया है, कि पाठक उसमें लीन होकर रह जाता है।

'गढ़ कुंडार' के बाद ऐतिहासिक उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में वर्मा जी का दूसरा महत्वपूर्ण कदम 'बिराटा की पद्मनी' के रूप में उठा, जिसका प्रकाशन सन् १९३६ में हुआ था। उपन्यास के कथा-क्षेत्र विषयक अपने विस्तृत ज्ञान से इस उपन्यास में वर्मा जी ने पूर्ण लाभ उठाया है। क्षेत्रीय प्रकृति-चित्रों तथा रीति-रिवाजों के आधार पर जो दृश्य तथा चित्रण-खंड इस उपन्यास में महत्वपूर्ण बन पड़े हैं, उनका यही कारण है।

'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई'—वृन्दावनलाल वर्मा की प्रारंभिक ऐतिहासिक कृतियों में सर्वश्रेष्ठ है। इस उपन्यास की कथा उस समय से प्रारंभ होती है, जब भारत में मुगल साम्राज्य का पूर्णतः पतन हो चुका था। यहाँ तब ऐसी कोई शक्ति न बची थी, जो विदेशी शक्तियों का सामना कर सके। तत्कालीन देशी राजाओं व नवाबों की मनोवृत्ति दो प्रकार की थी। एक तो वे लोग थे जो अँग्रेजों की कृपा की आकांक्षा रखते थे और दूसरे वे जो भारत में विदेशी शासन के विरोधी थे। पहले प्रकार के लोग पूर्णतः अँग्रेजों के अधीन थे और इसी में वे प्रसन्न रहते थे, किन्तु दूसरी कोटि के लोगों के हृदय में उत्साह और साहस था। वे किसी भी प्रकार से स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे और उसे प्राप्त करने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार थे। इस उद्देश्य से अपना सर्वस्व बलिदान कर देने वालों में सबसे पहले रानी लक्ष्मीबाई का नाम आता है। यह उपन्यास इसी इतिहास-प्रसिद्ध नारी के जीवन और चरित्र पर लिखा गया है।

इस उपन्यास के लिए ऐतिहासिक सामग्री का चयन करने में लेखक ने पर्याप्त सतर्कता से काम लिया है। इतिहास केवल एक व्यक्ति का जीवन-चरित्र नहीं है। राजा-महाराजाओं के युद्ध-वर्णन में ही इतिहास की इतिश्री नहीं हो जाती। सच्चा इतिहास वही है जो जन-जीवन का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। जन-जीवन से संबंधित, राजनैतिक और आर्थिक, सभी प्रकार की घटनाओं का विश्लेषण उसमें आवश्यक है। यह उपन्यास सन् १८५७ की जनक्रांति का सच्चा चित्र है। उपन्यास में कुछ स्थान तो ऐसे हैं, जहाँ उपन्यासकार ने इतिहासज्ञ का स्थान ग्रहण कर लिया है।

तत्कालीन राजाओं व नवाबों की मनोवृत्ति का विश्लेषण करने में भी लेखक ने अपने इतिहास-ज्ञान का पूरा परिचय दिया है। गंगाधर राव का कला-प्रेम, विलासिता, क्रोधोन्मत्तता आदि देखने योग्य है। नवाब अली बहादुर की षड्यंत्र-प्रवृत्ति और स्वार्थपरता देखकर भारतीयों के पतन का चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। जन-जीवन के चित्र प्रस्तुत करने में भी उपन्यासकार ने अपने रचना-कौशल का परिचय दिया है और उसे अधिक से अधिक स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया है।

उपन्यास की कथा रानी लक्ष्मीबाई के व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नहीं है। उपन्यासकार ने अनेक ऐसे चरित्रों को भी प्रस्तुत किया है, जिनका संबंध

किसी न किसी सूत्र से सन् १८५७ की जन-क्रांति से रहा है। कथा-शिल्प की दृष्टि से ऐसे पात्र कथा की स्वाभाविक विकासशीलता में बाधक होते हैं। परन्तु जहाँ-जहाँ उनका कथा में कौशलपूर्वक प्रवेश कराया गया है, वहाँ-वहाँ वे आकर्षक और सफल बन पड़े हैं। मोती बाई, जूही, दुर्गा, छोटी, नारायण शास्त्री, खुदाबख्श, आनंदराव, जवाहर सिंह, रघुनाथ सिंह, सागर सिंह, गुलाम गौस खाँ, झलकारी तथा गुल मुहम्मद आदि ऐसे ही पात्र हैं। इतिहास के पृष्ठों में भले ही इनका नाम न आया हो, परन्तु जन-क्रांति में इनका योग महत्वपूर्ण था, इसका अनुमान इस उपन्यास की कथा को पढ़कर लगाया जा सकता है।

सन् १८५७ के पूर्व अँग्रेजों का प्रभुत्व भारत में पूर्ण रूप से हो चुका था। उनके पश्चात् हमारे देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में अनेक अन्तर आ गये और अनेक नयी प्रथाओं का जन्म हुआ। उपन्यासकार ने उन प्रथाओं के जड़ पकड़ने का पूरा विवरण दिया है, उदाहरण के लिए जमींदारी प्रथा का विकास, पंचायतों का विनाश, कानूनी अदालतों की स्थापना तथा जागीरदारी का अन्त आदि।

क्रांति के उत्थान-पतन और उसके कारणों पर भी लेखक ने प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। क्रांति में असंयम और उच्छृंखलता होती है। उसके अनेक चित्र इस उपन्यास में हैं। क्रांति के रूप में फूटी हुई शक्ति का सदुपयोग करना योग्य नेता का कार्य है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का नेतृत्व रानी लक्ष्मीबाई ने किया। उपन्यासकार ने बताया है कि किन कारणों से रानी के हाथ में क्रांति का पूर्ण नेतृत्व न रह सका। तात्या टोपे अनेक गुणों से संपन्न होते हुए भी उसका नेतृत्व करने में असमर्थ रहा। उसमें दृढ़ इच्छा-शक्ति का अभाव था और स्वामिभक्ति के के कारण वह नाना साहब तथा अन्य सेनापतियों की अवज्ञा न कर सकता था। परन्तु जहाँ तक रानी लक्ष्मीबाई का सम्बन्ध है, उन्होंने क्रांति की पूर्ण समर्थक होने पर भी सदैव संयम और अनुशासन का महत्व समझा। उन्होंने इन्हीं गुणों के बल पर झाँसी में अँग्रेजों के हत्याकांड को रोका। यह उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था कि स्वतंत्रता का सबसे महान और सबसे व्यवस्थित युद्ध झाँसी में लड़ा गया और अँग्रेजों ने भी यह स्वीकार किया कि वह ही इस महान क्रांति की सबसे योग्य नेत्री थीं।

इस उपन्यास की कथा का आधार ऐतिहासिक है। जैसा कि इस प्रकार के ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए स्वाभाविक होता है, इसके कथानक का निर्माण भी ऐतिहासिक तथ्यों और कल्पना के मिश्रण से हुआ है। कथा के स्वाभाविक रूप में विकास के लिए जो तत्व इस उपन्यास में बाधक सिद्ध होते हैं, वे औपन्यासिक कौशल के अभाव में ही अभिव्यक्त कर दिये गये ऐतिहासिक विवरण से संबंध रखनेवाले तथ्य हैं। इस प्रकार के अभाव ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलना कोई असाधारण बात नहीं है। इसका कारण यह होता है कि प्रायः उपन्यासकार उपन्यास की रचना के समय उसी में इतना लीन हो जाता है कि वह यह भूल जाता है कि उसे ऐतिहासिक तथ्यों को औपन्यासिक शिल्प के साँचे में ढालकर प्रस्तुत करना है, क्योंकि वह एक उपन्यास की रचना कर रहा है, किसी देश या जाति के इतिहास की नहीं। 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' कहीं-कहीं रानी लक्ष्मीबाई के जीवन-चरित्र होने का भ्रम उत्पन्न करती है, तो कहीं झाँसी राज्य के इतिहास होने का। किन्तु डा० वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास-कला के क्रमिक विकास का अध्ययन जब किया जाता है, तो उपर्युक्त संदर्भ में यह ठीक प्रकार से समझा जा सकता है कि कला-तत्वों का उन्नयन तथा शिल्प-दोषों का परिहार उनकी परवर्ती औपन्यासिक कृतियों में होता रहा है।

'मुसाहिबजू' वृन्दावनलाल वर्मा का एक छोटा ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसका सम्बन्ध दतिया राज्य से है। उपन्यास का घटनाचक्र उस समय से प्रारंभ होता है, जब भारत में अँग्रेजी सरकार के पैर जमने लगे थे। मुगल साम्राज्य का पतन हो रहा था। अँग्रेजों की शक्ति का सामना करने वाला कोई न बचा था। मराठों की शक्ति कुछ बढ़ी हुई अवश्य थी, परंतु पारस्परिक वैमनस्य के कारण उनका भी पतन हो रहा था। देशी राजा व नवाब विलासप्रिय थे और इस सम्बन्ध में चिंता करना आवश्यक नहीं समझते थे। लेखक ने राजनैतिक परिस्थितियों के विषय में बताया है कि 'अठारहवीं शताब्दी का अंत हो गया था। भारतवर्ष में दूरवर्ती पश्चिम से आयी हुई एक नयी जाति द्वारा राजनीतिक संस्था स्थापित होती चली जा रही थी। बुन्देलखण्ड के रजवाड़ों के ऊपर सन्धियों के बंधन पड़ चुके थे। नयी प्रणाली से बुन्देलखण्ड, अन्य प्रांतों की तरह, सम्मोहित और संप्रभावित हो चुका था, परंतु उसकी जकड़ में इतनी कठोरता नहीं आयी थी कि परम्पराएँ और स्थानिक

रीतियाँ स्मारकों के उत्सवमात्र रह जाएँ और जीने-मरने की स्वाधीनता का उच्छ्वास निरोध के दबोचने वाले संयम में कस जाय।'[1]

दतिया राज्य के केरुआ के जागीरदार मुसाहिब दलीपसिंह के अपने राजा विजय बहादुर सिंह की अवज्ञा के कारण विद्रोह की कथा इस उपन्यास में वर्णित है, जो दलीपसिंह बाद में कुछ सोच-विचार के बाद नहीं करता। कथानक केवल इतना ही है कि धनाभाव के कारण दलीपसिंह के आदमियों को डाका डालना पड़ता है और इसकी शिकायत राज के पास पहुँचती है। राजा दलीपसिंह को आज्ञा देता कि वह अपराधियों सहित उनके सामने हाजिर हो। दलीपसिंह इस आज्ञा का पालन नहीं करता और राजा की निर्वासन आज्ञा को मानकर वहाँ से प्रस्थान करने लगता है। बाद में स्वयं राजा के अनुरोध करने पर वह रुक जाता है और आवश्यकता होने पर उनके लिए मर मिटने का संकल्प करता है। उपन्यास के कथानक में संगठनात्मकता और केंद्रगतता मिलती है।

'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' तथा 'मुसाहिबजू' के प्रकाशन के पश्चात् सन् १९४७ में 'कचनार' प्रकाशित हुआ। इसका कथा-क्षेत्र 'धामोनी' है। गौंड और साहरिया यहाँ के निवासी हैं। उनके ही जीवन के विविध पक्षों को आधार बनाकर इस उपन्यास की रचना की गयी है। इस उपन्यास में प्रसंग रूप से चिकित्सा-शास्त्र से संबंधित कुछ विषयों का भी समावेश हुआ है। ऐतिहासिक तथ्यों की प्रामाणिकता तो स्वयं-सिद्ध सी है।

'कचनार' के 'परिचय' में वर्मा जी ने रचना-प्रेरणा के विषय में लिखा है—'सन् १९३५ में और फिर १९३६ में मुझको अमर कंटक पर्वत की पठारों पर भ्रमण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अमरकंटक की जिस पठार से कूद कर नर्मदा मेखल श्रेणी को चीरती-फाड़ती अपने दोनों कूलों की विशाल हरी-भरी कुंजों को मंजुल मंगल बाँटती हुई चली गयी है वहाँ एक कुटी के सामने कुछ क्षण के लिये, तपस्या की एक मूर्ति देखी। अद्भुत सौंदर्य की प्रत्यक्ष कल्पना। प्रपात के नीचे नीबू का एक झाड़ था। फलों से लदा हुआ। निकट ही हरसिंगार के पेड़ लाल डंडी और मोती सदृश सफेद पंखुड़ियों वाले छोटे-छोटे फलों से लदे हुए थे। ये फूल टपक-टपक कर

१. 'मुसाहिब जू' (डा० वृन्दावनलाल वर्मा)।

नर्मदा के साथ कलोलें करते हुए बहते चले जाते थे। और—कहीं से, न जाने कहाँ से, निवारी फूलों की सुगंधि के झोंके पर झोंके आकर हरसिंगार सौरभ को मद सा दे रहे थे। .... मैं उस अनुभव को कभी नहीं भूला। स्मृति में एक गुदगुदी सी बनी ही रही।"[1]

'कचनार' के पश्चात वर्मा जी ने 'मृगनयनी' की रचना की। यह निन्नी नाम की एक गूजर कृषक-कन्या और ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर की प्रणय-कथा पर आधारित है। इस कथा के समानान्तर ही अटल और लाखी की कथा है, जो आदि से अंत तक चलती है। इस उपन्यास में लेखक ने कल्पना की सहायता से ऐतिहासिक तथ्य को काफी प्रभावशाली रूप में सामने रखा है। उपन्यास में वर्णित विविध घटनाएँ तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, तथा राजनैतिक दशाओं पर प्रकाश डालती हैं, जिससे पाठक के सामने उनका स्पष्ट चित्र-सा खिंच जाता है। उपन्यास के बीच में ऐसे अनेक कथा-प्रसंग आये हैं, जो ऐतिहासिक तो हैं ही, साथ ही प्रभावशाली तथा उपन्यास की मूल-कथा के तारतम्य को बनाये रखने में सहायक भी हैं।

जहाँ तक इन ऐतिहासिक पात्र-पात्रियों के चरित्र का सम्बन्ध है, मृगनयनी अनेक आदर्श गुणों से सम्पन्न नारी है। उसके चरित्र की, संक्षेप में, चार प्रमुख विशेषताएँ हैं—उसकी सरलता, उसकी ईमानदारी, उसका त्याग और उसकी कर्तव्य-भावना। ये सब विशेषताएँ मिलकर उसे एक प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। लाखी का चरित्र इतना उच्च नहीं है। उसमें यदि एक ओर कुछ विशेषताएँ हैं, तो दूसरी ओर अनेक नारी-स्वभाव की दुर्बलताएँ भी। उसका व्यक्तित्व आकर्षक तो है, परंतु प्रभावशाली नहीं। राजा मानसिंह का चरित्र-चित्रण भी बहुत सफल हुआ है। वह एक ऐतिहासिक चरित्र हैं और इस दृष्टि से उनमें कोई दोष नहीं मिलता।

वर्मा जी लिखित 'टूटे काँटे' नामक ऐतिहासिक उपन्यास का प्रकाशन सन् १९५४ में हुआ। इस उपन्यास का कथा-काल अठारहवीं शताब्दी है। कथानक का आधार इस शताब्दी के भारतीय इतिहास की प्रसिद्ध घटनाएँ हैं, जिसमें

१. 'कचनार' (डा. वृन्दावनलाल वर्मा), 'परिचय' पृष्ठ १।

नादिरशाह का भारत पर आक्रमण प्रमुख है। प्रसंग रूप से इसमें नूरबाई नामक गायिका की कथा का भी समावेश हुआ है, जिसके स्वभाव-परिवर्तन के साथ इस उपन्यास की कथा का अन्त होता है।

सन् १९५५ में डा० वृन्दावनलाल वर्मा के 'अहिल्याबाई' नामक ऐतिहासिक उपन्यास का प्रकाशन हुआ। इसकी कथा का आधार इन्दौर की महारानी अहिल्याबाई का चरित्र है। इस उपन्यास की प्रमुख विशेषता महारानी का चरित्र-चित्रण है, जिसमें लेखक को आश्चर्यजनक सफलता मिली है। अहिल्याबाई के अतिरिक्त इसमें गनपतराव, मल्हारराव, सिन्दूरी, आनन्दी, भीका जी आदि अनेक पात्र-पत्रियाँ हैं, जिनमें से अधिकांश प्रसिद्ध ऐतिहासिक चरित्र हैं। युगीन राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों का परिचायक होने के कारण यह उपन्यास अपना अलग महत्व रखता है।

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में 'भुवन विक्रम' का स्थान विशिष्ट है। इस उपन्यास का प्रकाशन सन् १९५७ में हुआ। वर्मा जी के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों से इसका कथानक भिन्न प्रकार का है। इसका कथा-काल वैदिक युग है। इसमें वैदिक युगीन की राज्य-व्यवस्था, सामाजिक रहन-सहन और आचार-व्यवहार, दासों की स्थिति तथा राजनैतिक कुचक्रों आदि का सफलतापूर्वक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। कथा का नायक राजकुमार विक्रम है। प्रारंभ में वह बहुत उद्धत तथा उद्दंड स्वभाव का दिखाया जाता है। परंतु बाद में एक ऋषि के आश्रम में कई वर्ष तक अनुशासन पूर्ण जीवन व्यतीत करने तथा स्नातक हो जाने से उसके स्वभाव में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाता है, तथा उसकी कर्तव्य-भावना जाग्रत हो जाती है। अन्त में वह एक भयानक राजनैतिक षड्यंत्र को विफल करने में समर्थ होता है। फिर उसके विवाह और उसके पिता की पुन: राज्य-प्राप्ति के साथ उपन्यास की कथा समाप्त होती हैं—

वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में नवीनतम है—'माधव जी सिंधिया', जिसका प्रकाशन सन् १९५७ में हुआ है। मध्य भारत के इतिहास-प्रसिद्ध शूर-वीर और स्वदेश-प्रेमी माधव जी सिंधिया इस उपन्यास के चरित्-नायक हैं। इस उपन्यास की सफलता का प्रमुख कारण यही है कि लेखक को कथा-नायक के चरित्र का चित्रण करने में आश्चर्यजनक सफलता मिली है। इस उपन्यास के अन्य पात्र भी कथा के अनुकूल ही चित्रित किये गये हैं। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में वर्मा जी ने लिखा

है— 'माधव जी सिंधिया' के सब पात्र केवल बहुत थोड़ों को छोड़कर ऐतिहासिक हैं। नारी-चरित्रों में गन्ना बेगम और उम्दा बेगम इतिहास प्रसिद्ध हैं। गन्ना बेगम की समाधि ग्वालियर के उत्तर-पश्चिम में लगभग ग्यारह-बारह मील है। कहाँ की तो गन्ना बेगम और कहाँ उसका देहावसान हुआ! यों तो माधव जी के युग की अनेकानेक घटनाएँ रोमांचकारी और ध्यान आकृष्ट करने वाली हैं, परन्तु गन्ना बेगम, उम्दा बेगम, जवाहरसिंह, नजीब खाँ, गुलाम कादिर, शिहाबुद्दीन इत्यादि की तो बहुत ही हैं। शिहाबुद्दीन! हद हो गई इस एक युग में नृशंसता, नीचता, छल-कपट, शूरता और निर्ममता की। क्या थी राजनीति उस युग की! उस पतित और भ्रष्ट राजनीति के युग में भी माधव जी सिंधिया सदृश महापुरुष को भारत ने जन्म दिया।''[1]

यहाँ तक वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों की चर्चा की गयी है। अब उनके सामाजिक उपन्यासों की कथा-विशेषताओं का विवरण उनकी विविध सामाजिक कृतियों के आधार पर प्रस्तुत किया जायगा।

वर्मा जी के लिखे हुए सामाजिक उपन्यास भी हिंदी उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सन् १९२८ में 'लगन' नामक सामाजिक उपन्यास की रचना करके उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी असाधारण क्षमता का परिचय दिया था। उसके पश्चात् 'प्रेम की भेंट' (सन् १९३१), 'कुंडली चक्र' (सन् १९३२), 'कोतवाल की करामात', 'प्रत्यागत' (सन् १९३९), 'अचल मेरा कोई' (सन् १९४८) आदि सामाजिक उपन्यासों की रचना उन्होंने की।

वर्मा जी के सामाजिक उपन्यासों में 'लगन' सर्वप्रथम है। जातीय भेद और वैमनस्य आदि का इसमें अच्छा चित्रण किया गया है। उसकी कथा देवीसिंह के चरित्र को केन्द्र बनाकर आगे बढ़ती है, जो शिबू माते का इकलौता लड़का है। कथा का एक सूत्र देवीसिंह के साथ विकसित होता है। दूसरा सूत्र बादल चौधरी की लड़की रामा के साथ आगे चलता है। इन दोनों का विवाह तय हो जाता है और फिर कुछ समय तक इन दानों सूत्रों का संयुक्त रूप से विकास होता है। दोनों पक्षों में भैंसे दहेज में न दिये जाने के कारण झगड़ा हो जाता है और बिना विवाह

१. 'माधव जी की सिंधिया' (डा. वृन्दावनलाल वर्मा)।

हुए ही बारात लौट आती है। अब कथा का यह संयुक्त सूत्र फिर दो भागों में विभाजित हो जाता है। यहाँ तक कथा का विकास सामान्य गति से होता है। परंतु यहाँ से उसके प्रवाह में तीव्रता आ जाती है। एक दिन देवीसिंह रामा के दूसरे विवाह होने की खबर पाकर उसके दरवाजे पर जा पहुँचता है।

वहाँ पहुँचने पर उसके हृदय में एक प्रकार की हलचल-सी होने लगती है। वह दरवाजे पर बँधे हुए पुराने बंदनवार को देखकर सोचता है—'जब तक यह बंदनवार नहीं नोचा गया, तब तक वह दूसरे के घर कैसे बिठलाई जायगी? इसी बंदनवार के नीचे से कई बार इसी घर के भीतर गया था। वह भी इसी के नीचे से नित्य इसी धरती पर निकलती रहती होगी और मैं इस समय यहाँ खड़ा हूँ। कुंडी खटखटाने की देर है कि भीतर से उत्तर मिलेगा। किसका? जिसने मेरे पिता को को गालियाँ दी थीं, जिसने बारात को जूतों से पिटवाकर बरौल से बाहर करने की धमकी दी थी। परन्तु वह मुख! कोमलता! उसका क्या दोष! उसने क्या किया था जिसका दण्ड दिया जाने वाला है? उसके जी में भी, उसके हृदय के एक छोटे-से कोने में भी, क्या मेरे लिए एक छोटा-सा स्थान होगा? न हो! न हो! यदि न हो तब कोई बात ही नहीं है; यदि हो! तब उसको आहुति क्यों करने दी जाय! उसका नाश क्यों अपने हाथों करने दिया जाय!'[1]

बहुत सोच-विचार के पश्चात् उस दिन वह चुपचाप वापस लौट आता है। परन्तु बाद में वह जाकर रामा से भेंट करता है। कथा फिर एकात्मक रूप से विकास की ओर अग्रसर होती है। अन्त मे देवीसिंह के साहस, रामा की निर्भयता और इन दोनों के घर वालों की सहृदयता के फलस्वरूप सुख का समय आता है और देवीसिंह और रामा के मिलन के पश्चात् कथा की समाप्ति होती है।

वर्मा जी का दूसरा उल्लेखनीय सामाजिक उपन्यास 'प्रेम की भेंट' है। इस उपन्यास का नायक धीरज है। कथा का सूत्र धीरज के साथ ही तालबेहट नामक गाँव में पहुँचता है, जहाँ धीरज का एक संबंधी कम्मोद रहता है। यहाँ सरस्वती और उजियारी नामक दो युवतियाँ भी रहती हैं। इन चारों पात्रों के साथ कथा का

१. 'लगन' (डा. वृन्दावन लाल वर्मा)।

यह सूत्र कुछ समय के लिए स्थिर-सा हो जाता है। कम्मोद के एक दूसरे संबंधी नंदन के उसके यहाँ आने के साथ ही एक नया सूत्र उपजता है। कम्मोद यह निश्चय कर लेता है कि वह अपनी पुत्री सरस्वती का विवाह नंदन से करेगा। कथा की गति जो कुछ समय के लिए तीव्र हुई थी, पुनः अपनी पिछली निर्धारित गति पर आ जाती है।

कथानक में जटिलता का आविर्भाव उस समय होता है, जब धीरज एक दिन झाँसी जाता है और लौटते समय एक साड़ी लाकर उस पर 'प्रेम की भेंट' लिखने के बाद सरस्वती को दे देता है। सरस्वती इन शब्दों को पढ़ने के बाद साड़ी लेकर संदूक में बंद कर देती है।

इस कथा में जटिलता-वृद्धि होती है उजियारी के द्वारा। वह धीरज के प्रति अपनी प्रेम-भावनाओं को व्यक्त कर देती है और उससे सब-कुछ स्पष्ट कह देती है। धीरज इस परिस्थिति में एकाएक यह नहीं तय कर पाता कि वह क्या करे। उजियारी अपना मार्ग साफ करने के लिए एक दिन खीर में विष मिलाती है। उसकी इच्छा के विरुद्ध वह खीर सरस्वती के बदले धीरज खा जाता है। यहाँ पर एक प्रकार से कथानक की विकास-गति अपनी चरम सीमा पर आ जाती है। रोगिणी सरस्वती की दशा बहुत चिन्ताजनक और धीरज का प्राणान्त हो जाता है। यहाँ पर स्वाभाविक रूप से कथा के सभी सूत्र संयुक्त हो गये होते हैं, जो विविध पात्रों के चरित्र की आंतरिक भावनाओं की विवृति में सहायक होते हैं।

सन् १९३२ में डा० वृन्दावनलाल वर्मा के 'कुंडली चक्र' नामक सामाजिक उपन्यास का प्रकाशन हुआ था। यह एक ऐसे भाई-बहिन की कहानी है, जिनमें परस्पर स्नेह-भाव बहुत अधिक था। ललित और रतन दोनों ही मऊ छावनी में रहते हैं। इन दोनों के विचारों का परिचय इस उपन्यास की कथा की पृष्ठभूमि का कार्य करता है। कथा में गति तब आती है, जब ललित रतन के लिए अजित नामक युवक को शिक्षक के रूप में नियुक्त कर देता है। यहाँ से कथा में एक त्रिकोणात्मकता-सी आ जाती है।

ललित और रतन के चरित्र को आधार बनाकर चलने वाले सूत्र अपनी पूर्व-निर्धारित गति से विकसित होते हैं, परंतु अजित के चरित्र के आधार पर विकसित होने वाला सूत्र अपनी निर्धारित सीमाओं का अतिक्रमण करता है। उसका कथा-क्षेत्र भी विस्तार पाता है। इसी सूत्र के सहायक सूत्र उपजते हैं। भुजबल और पूना आदि

का कथा में प्रवेश होता है। संयोग ऐसा होता है कि भुजबल और रतन तथा पूना और ललित के विवाह की बात होने लगती है।

यहीं से कथानक में जटिलता आरंभ होती है। ललित पूना के साथ विवाह करना अस्वीकार कर देता है। पूना की माँ अपनी पुत्री का विवाह अजित के साथ करने से इन्कार कर देती है और ऐसी अन्य जटिलताएँ एक के बाद एक कथानक में समावेशित होती चली जाती हैं। केवल भुजबल अपनी कूटनीति की सफलता के लिए रतन से विवाह करने में सफलता प्राप्त कर लेता है। अन्त में कथा कई मोड़ों से होकर विकसित होने के पश्चात् अजित और पूना का मिलन कर देती है, जब घटनाएँ उन दोनों की पारस्परिक सच्ची भावनाओं को सिद्ध कर देती हैं। इस प्रकार से, वर्मा जी के इस सामाजिक उपन्यास में जितना अधिक उलझाव है, उतना अन्य किसी में नहीं। परन्तु उपन्यासकार की कुशलता इससे प्रकट होती है, कि ये सूत्र आपस में गुँथ कर समाप्त नहीं हो जाते, बल्कि अन्त तक सुचारु रूप से विकसित होते रहते हैं।

कथानक में घटनाओं की बहुलता की दृष्टि से वर्मा जी के 'प्रत्यागत' नामक उपन्यास का नाम उल्लेखनीय है। इस उपन्यास की कथा का प्रथम सूत्र टीकाराम के पुत्र मंगल के साथ गतिशील रहता है। कथा का क्षेत्र किसी एक स्थान तक सीमित नहीं रहा है। एक बार जब घर से क्षुब्ध होकर मंगल अपने स्थान को छोड़कर चल देता है, तो कथा में कुछ गति भी आ जाती है। अब कथा में रहमत उल्ला नामक पात्र का प्रवेश होता है और कथा-सूत्र मलाबार की ओर बढ़ता है, क्योंकि रहमत वहीं का रहने वाला था और मंगल को भी वह अपने साथ वहीं ले जाता है। यहीं से कथानक में जटिलता का भी समावेश होता है।

मंगल को अपना धर्म-परिवर्तन करना पड़ता है। सामाजिक परिस्थितियाँ हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य के कारण जटिलतर होती जाती हैं। बड़े संघर्ष के बाद किसी प्रकार पुलिस के अधिकारी मंगल को उसके पिता के पास वापस ले आते हैं। अब उसके धर्म के प्रश्न पर बड़ा वाद-विवाद होता है। अंत में, उसे फिर से जाति में स्वीकार करने के लिए प्रायश्चित तथा भोज आदि का आयोजन होता है। नवल-बिहारी नामक एक व्यक्ति इस सारी कार्यवाही का विरोध करता है, परन्तु अन्त में वह जातिवालों के सामने दोषी सिद्ध होता है और मंगल को जाति में सम्मिलित

करने के साथ कथा का अन्त होता है। कथा के इस अंतिम भाग में भी घटनाओं की बहुलता मिलती है।

भारतीय समाज के निम्न वर्ग के चित्रण की दृष्टि से वर्मा जी लिखित 'कभी न कभी' नामक उपन्यास का नाम उल्लेखनीय है। इसका कथा-सूत्र लछमन और देवजू नामक दो मजदूरों के चरित्र को लेकर उपजता है और उनके जीवन के सामान्य परिचय तक ही उनका विस्तार रहता है। एक दूसरा सूत्र इससे तब संयुक्त हो जाता है, जब हर लाल और उसकी पुत्री लीला भी आकर उनके यहाँ रहने लगती है। यहाँ से इन कथा-सूत्रों का विकास संयुक्त रूप में होता है।

आगे चलकर लीला के विवाह के प्रश्न पर बहुत जटिल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। हर लाल उसका विवाह लछमन से करना चाहता है पर लछमन चाहता है कि उसका विवाह देवजू से हो। लीला स्वयं भी लछमन से ही विवाह करना चाहती है। लछमन झूठी जन्म-पत्रियाँ बनवाता है, परन्तु तब भी कोई परिणाम नहीं निकलता। हाँ, घटनाओं के मोड़ के कारण अब लछमन और देवजू के मन में भेद-भाव उत्पन्न हो जाता है। अन्त में लीला से लछमन का विवाह हो जाता है और एक हर्ष-विषाद मिश्रित अन्त होता है।

सन् १९४८ में वर्मा जी के 'अचल मेरा कोई' नामक सामाजिक उपन्यास का प्रकाशन हुआ। इसके कथानक की पृष्ठभूमि का आधार राजनैतिक-सामाजिक है, यद्यपि उसमें सामाजिक पक्ष की ही प्रधानता है। अचल, सुधाकर, कुन्ती तथा निशा इस उपन्यास के प्रमुख पात्र-पात्रियाँ है। कुन्ती के हृदय में अचल और सुधाकर दोनों के प्रति उनकी देश-प्रेम की भावनाओं के कारण श्रद्धा है, परन्तु वह अचल से प्रेम करती है और उससे संगीत की शिक्षा भी प्राप्त करती है। परिस्थिति वश विवाह अचल से न होकर सुधाकर से हो जाता है और कुछ समय के लिए कथा-विकास की गति में स्थिरता आ जाती है।

यहीं से राजनैतिक घटनाओं के फलस्वरूप परिस्थितियों में परिवर्तन होते हैं। निशा का विवाह होता है तथा दंगे में उसका पति भी मारा जाता है। कुन्ती के आग्रह से अचल निशा से विवाह कर लेता है। परन्तु सुधाकर और कुन्ती के पारस्परिक संबंध कटुतर होते जाते हैं। दोनों ही अनेक मानसिक दुश्चिंताओं के शिकार होते हैं। सुधाकर का धैर्य सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। और कुन्ती इस स्थिति की विषमता से मुक्ति का एक ही उपाय खोज पाती है—आत्म-

हत्या। और उसके आत्म-घात के साथ ही मानसिक उलझाव का सारा जाल टूट जाता है।

इसके पश्चात् उनके 'अमरबेल' नामक उपन्यास का प्रकाशन हुआ जो डा० वृन्दावनलाल वर्मा के सामाजिक उपन्यासों में नवीनतम और सर्वश्रेष्ठ है। यह उपन्यास सहकारिता के विषय पर लिखा गया है। इसमें लेखक ने सहकारिता के प्रश्न पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार किया है और उसके विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है। लेखक ने उन गाँवों की दशा का वर्णन किया है, जिनमें सहकारिता का कार्य प्रारंभ हो गया है और जहाँ के निवासी इसमें विश्वास करने लगे हैं। इसमें सहकारिता के भविष्य की ओर भी संकेत किया गया है।

'अमरबेल' की कथा मुख्यत: दो विषयों पर आधारित है—सहकारिता की भावना तथा अफीम का अवैध व्यापार। बांगुर्दन के एक स्कूल का अध्यापक टहलराम, डा० सनेहीलाल, सरकारी अफसर राघवन आदि कुछ लोग ऐसे हैं, जो सहकारिता के महत्व को समझते हैं और यह विश्वास करते हैं कि इसके आधार पर कार्य करने से भारतीय ग्रामीण जीवन को उन्नत बनाया जा सकता है, और सुहाना गाँव का पन्द्रह आने जमींदार देशराज, उसकी सहपाठिनी कुमारी अंजना, नाहरगढ़ का राजा बाघराज तथा कुख्यात डाकू कालीसिंह आदि ऐसे व्यक्ति हैं, जो चोरी से अफीम का व्यापार करते हैं। राजा बाघसिंह और डाकू कालीसिंह तो यह काम स्थायी रूप से करते हैं, लेकिन जमींदार युवक देशराज और अंजना इस उद्देश्य से कि इस व्यापार में शीघ्र ही दो लाख रुपये कमा लिये जायँ और फिर दोनों विवाह करके सुखमय जीवन व्यतीत करें।

उपन्यास का घटना-क्रम उस समय से प्रारंभ होता है, जब जमींदारी उन्मूलन की सम्भावना विश्वास में परिवर्तित हो जाती है। सरकारी क्षेत्रों में यह आज्ञा जहाँ-तहाँ जारी कर दी जाती है कि चूँकि जमींदारी उन्मूलन से गाँवों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर आ जायगा, अत: यह आवश्यक समझा जाता है कि बढ़ती हुई जनसंख्या, अन्न की कमी तथा बेरोजगारी आदि बड़ी-बड़ी समस्याओं का सामना करने के लिए तैयार रहा जाय और इस दिशा में प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया जाय। इन समस्याओं को हल करने के लिए सहकारिता के आधार पर खेती तथा कुटीर उद्योगों का विकास जरूरी जान पड़ता है।

उपन्यास का नामकरण—'अमरबेल'—उन तरह-तरह की अमरबेलों के प्रतीक-रूप में रखा गया है, 'जो समाज के वृक्ष को डसे जा रही हैं। वृक्ष अपने नये जीवन के लिए इन अमरबेलों के मारे कानून कहाँ बना पाता है। अमरबेलें तो शोषण के अपने मतलब के कानून बनाती हैं। वृक्षों की अमरबेलें तो दिखायी पड़ती हैं। उनका काट फेंकना सहज है। पर समाज और व्यक्ति की अनेक अमरबेलें दिखायी ही नहीं पड़तीं। इन अमरबेलों को नष्ट करने के साथ ही कहीं ऐसा न हो कि व्यक्ति और समाज भी काटकर गिरा दिये जायँ।'[1]

जहाँ तक इस उपन्यास में कथा-शिल्प के रूप-प्रयोग का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि इस उपन्यास का कथानक वर्मा जी अन्य सभी सामाजिक उपन्यासों की अपेक्षा प्रौढ़ और गठा हुआ है। इसमें प्रासंगिक विषयों को केवल वहीं उठाया गया है, जहाँ मूल कथा स्वयं अपने विकास के लिए उपयुक्त मार्ग नहीं ढूँढ़ पायी। यही कारण है कि उनके समावेश से कथानक बोझिल नहीं हो पाता। कथानक एक सूत्र के रूप में प्रारम्भ में, सामने आता है, और क्रमशः विकास की ओर अग्रसर होता है। उसमें नाटकीयता कहीं भी नहीं आने पाती, यह एक महत्वपूर्ण बात है। परन्तु कथानक का इसी प्रकार से निर्वाह पूरे उपन्यास में इतना होने पर भी नहीं हो पाता। देशराज और अंजना जो काम भी अपने व्यापार आदि से सम्बन्धित क्षेत्रों में करते हैं, वह पूर्णतः एक दूसरे की सहमति और जानकारी में। कहीं-कहीं दोनों के हृदयों में संदेह की भावना भी जन्म लेती है, पर वह स्थायी रूप से नहीं रह पाती। ऐसी स्थिति में जब वे कथा के अंत में पहुँचने पर एकाएक अलग रहने और एक-दूसरे से किसी प्रकार का सम्पर्क न रखने का निश्चय कर लेते हैं, तो कुछ अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। इससे तुरन्त यह संदेह हो जाता है कि उपन्यासकार ने नाटकीय ढंग से इन दोनों में ऐसी भावना उत्पन्न करायी है और कथानक को नाटकीय रूप से मोड़ दिया है, ताकि वहीं उसका अंत हो सके। यदि कथानक को इस स्थल पर भी थोड़ा स्वाभाविक रूप से उभारा जाना और फिर उसका अनाटकीय ढंग से अंत होता, तो निश्चय ही उसकी प्रभावात्मकता बढ़ जाती।

१. 'अमरबेल' (डा० वृन्दावनलाल वर्मा)।

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में शिल्प-विषयक जो विशेषताएँ मिलती हैं, उनमें सर्वप्रथम यह है कि उनके उपन्यासों की कथा सुसंगठित होती है, क्योंकि कथा-सामग्री का चयन बहुत सतर्कता से किया जाता है। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों की कथा-वस्तु उनके प्रधान पात्र-पात्रियों के व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नहीं है। लेखक ने उनके समुचित चारित्रिक विकास की दृष्टि से अन्य ऐतिहासिक चरित्रों का भी समावेश किया है। सामान्यत: इस प्रकार के चरित्र कथा में विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न करते हैं, परंतु वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों की कथा में जहाँ-जहाँ इस प्रकार के पात्रों का प्रवेश हुआ है, वहाँ इस बात का ध्यान रखा गया है कि उपर्युक्त दृष्टि से कथा में दोष न आने पाये। परंतु इसके ऐतिहासिक उपन्यासों में जो शिल्प की दृष्टि से मुख्य कमी दिखायी देती है, वह है ऐतिहासिक विवरणों की भरमार। इस प्रकार के दोष ऐतिहासिक उपन्यासों में बहुलता से मिलते हैं। इसका कारण प्रधानत: यह होता है कि ऐतिहासिकता की भावनाओं में डूबकर उपन्यासकार यह भूल जाता है कि वह किसी इतिहास की सृष्टि नहीं, बल्कि किसी औपन्यासिक कृति की रचना कर रहा है। और वस्तुत: वे ही ऐतिहासिक तथ्य यदि औपन्यासिक साँचे में ढल कर इस रूप में सामने आते हैं, तो उनकी प्रभावात्मकता बढ़ जाती है। एक और शिल्प दोष कहीं-कहीं मिलता है—वह है अनावश्यक तथा प्रासंगिक घटनाओं को अधिक महत्व देने का। यदि उन घटनाओं को पूर्ण महत्व दिया जायगा, जिनका समावेश प्रासंगिक रूप में हो रहा है, तो स्वभावत: ही मूल कथा सिमटकर बहुत छोटी परिधि में ही केन्द्रित होकर रह जायगी। कथानक में नाटकीय रूप से मोड़ आना भी शिल्प की दृष्टि से क्षीण तत्व माना जायगा। कथा में नाटकीय रूप से जो मोड़ आते हैं, वे कथा-सूत्र में स्वाभाविकता भी कम कर देते हैं। इसी प्रकार अनावश्यक सूत्रों का जाल प्रधान कथा के गठन में बाधक सिद्ध होता है। इस दृष्टि से उनके सामाजिक उपन्यास अधिक सफल मालूम होते हैं, क्योंकि उनके शिल्प-रूप अपेक्षाकृत निर्दोष लगते हैं।

डा० वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के विषय में 'ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण' शीर्षक निबंध में बताया है कि 'इतिहास के आधार पर उपन्यास लिखने वाला भी अपना दृष्टिकोण रखता है, परंतु वह केवल इतिहास लिखने वाले की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र है।……… जिन स्थलों पर

इतिहास का प्रकाश नहीं पड़ सकता, उनका कल्पना द्वारा सृजन करके, उपन्यास-लेखक भूली हुई या खोई हुई सचाइयों का निर्माण करता है। उनमें वही चमक-दमक आ जाती है जो इतिहास के जाने-माने तथ्यों में अवश्यमेव होती है, पर है यह कि उन तथ्यों या परंपराओं को ताश के पत्तों का महल या क्लबघर न बना दिया जाय।'[1]

वर्मा जी के अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास प्राय: राष्ट्रीय-गौरव की भावना से प्रेरित होकर लिखे गये हैं। ऐतिहासिक उपन्यास के स्वरूप-निर्माण के विषय में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं—'सुनता रहता था कि रानी स्वराज्य के लिये लड़ी थीं, पारसनीस के ग्रंथ में पढ़ा कि उनका शौर्य विवशता की परिस्थिति में हुआ था! मैं जब बोर्डिंगहाउस के जीवन में था, एक रात स्वप्न देखा कि हॉकी ग्राउंड पर युद्ध हो रहा है और मैं रानी की तरफ से 'स्वराज्य' के लिये लड़ता हुआ घायल हो गया हूँ, तब जागने पर बड़ा अचंभा हुआ, क्योंकि खेल में उस दिन हॉकी का डंडा भी नहीं खाया था।'[2]

'मेरा वह स्वप्न जिसकी भूमिका हॉकी ग्राउंड पर थी, फिर ताजा हुआ, मैंने निश्चय किया कि उपन्यास लिखूँगा, ऐसा जो इतिहास के रंग-रेशे से सम्मत हो और उसके संदर्भ में हो। इतिहास के कंकाल में मांस और रक्त का संचार करने के लिये मुझको उपन्यास ही अच्छा साधन प्रतीत हुआ।'[3]

इसी प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास में वर्णित घटनाओं की यथार्थता के विषय में उन्होंने 'कचनार' के 'परिचय' में लिखा है—'कचनार' के ऐतिहासिक पहलू के संबंध में मुझको इतना संकोच नहीं है। उपन्यास में वर्णित सब घटनाएँ सच्ची हैं। केवल समय और स्थान का फेर है। उदाहरण के लिये डरू की घटना जो उसके भाई के वध से संबंध रखती है धामोनी की नहीं है बल्कि ओरछा राज्य स्थित डबोरा ग्राम से संबंध रखती है। डरू का नाम भी डबोरा से ही लिया गया है। बाकी घटना डरू का कर्नल हो जाना, पिंडारियों द्वारा सागर की लूट में भाग लेना,

१. दे० 'नये पत्ते', जनवरी-फरवरी, १९५३।
२. 'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई' (डॉ. वृन्दावनलाल वर्मा), परिचय, पृष्ठ १।
३. वही, पृष्ठ ४।

और अंत में साहस के साथ अपने वध का सामना करना सब ऐतिहासिक घटनाएँ हैं।'[1]

डा० वृन्दावनलाल वर्मा प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के दूसरे महान् उपन्यासकार हैं, जिन्होंने न केवल प्रेमचन्द की कथा-परंपरा का विस्तार किया, वरन् हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास की परंपरा का प्रवर्त्तन भी किया। इस ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा में जिन अन्य उपन्यासकारों ने योग दिया, उनमें से प्रमुख डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री चतुरसेन शास्त्री, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव, श्री यशपाल, डा० रांगेय राघव तथा श्री यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' आदि हैं।

उपर्युक्त ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा में प्रयोग की नवीनता की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपन्यास डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' है। यह उपन्यास मध्यकालीन इतिहास का आधार लेकर लिखा गया है, जो ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग है। लेखक ने इस उपन्यास के 'उपसंहार' में बताया है कि 'कादंबरी की शैली के साथ कथा की शैली में ऊपर-ऊपर से बहुत साम्य दिखता है, आँखों का प्राधान्य इसमें भी अन्य इंद्रियों की अपेक्षा अधिक है—रूप का, रंग का, शोभा का, सौंदर्य का इसमें भी जमकर वर्णन किया गया है पर इतने से ही साहित्यिक जाँच समाप्त नहीं हो जाती। कथा को ध्यान से पढ़ने वाला प्रत्येक सहृदय अनुभव करेगा कि कथा-लेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है उस समय उसे समूची घटना ज्ञात नहीं है। कथा बहुत-कुछ आजकल की 'डायरी'—शैली पर लिखी गयी है।[2]'

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का महत्व न केवल ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में एक अभिनव प्रयास है, वरन् शिल्प-रूप और प्रयोगात्मक दृष्टि से भी इस उपन्यास का हिंदी साहित्य में ऐतिहासिक महत्व है। ऐतिहासिक कथानक को पृष्ठभूमि में रखकर आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया यह उपन्यास एक क्रान्तिकारी रचना कही जायगी, जिसकी समता इस दृष्टि से हिंदी का कोई अन्य उपन्यास नहीं कर सकता। ऊपर के कथन से यह आशय

१. 'कचनार' (डा. वृन्दावनलाल वर्मा), 'परिचय', पृष्ठ ५।

२ 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'उपसंहार', पृष्ठ ३१६।

नहीं समझना चाहिए कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस उपन्यास का महत्व केवल शिल्प की नवीनता और प्रयोगात्मकता की दृष्टि से ही अधिक है। यहाँ बहुत संक्षेप में शिल्प-रूपों की दृष्टि से ही डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस उपन्यास की कुछ विशेषताओं की ओर संकेत किया जा रहा है।

इस उपन्यास का कथानक, जैसा कि उपन्यास के नाम से ही स्पष्ट है, संस्कृत के अमर साहित्यकार बाणभट्ट की जीवन-कथा पर आधारित है। लेखक ने इसी अमर साहित्यकार के जीवन-चरित्र को आधार मानकर एक ऐसी कथा की कल्पना की है, जिसमें सामान्य रूप से वे सभी विशेषताएँ देखी जा सकती हैं, जो बाणभट्ट के साहित्य की अपनी कही सकती हैं। भाषा-शैली और कथानक उसकी काल व शिल्पगत आवश्यकताओं के ही अनुरूप है। स्थान-स्थान पर व्यंग्य का समावेश कृति की युगीन विशेषताओं की ओर संकेत करता है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री उपर्युक्त कथा-परंपरा के महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं, जिनकी ऐतिहासिक कथा-कृतियों में सर्वप्रमुख है—'वैशाली की नगर-वधू।' इसकी कथावस्तु बौद्धकालीन भारतवर्ष से सम्बन्ध रखती है। जहाँ तक कथानक में ऐतिहासिक तथ्यों के आधार का प्रश्न है, कल्पना-मिश्रित कथा-स्वरूप उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है, जो आकर्षक बन सका है। कथा-शिल्प की दृष्टि से इस ऐतिहासिक उपन्यास की विशेषता यही है कि इसमें ऐतिहासिक घटनाएँ बहुत कम हैं, परन्तु इसके विपरीत ऐतिहासिक पात्रों का अभाव नहीं है। सम्राट बिम्बसार महामात्य वर्षकार, आचार्य शाम्बक कश्यप, विष-कन्या कुण्डली, सम्राट प्रसेनजित आदि पात्रों में से अधिकांश इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तित्व हैं। कथा-विकास में क्रमशः अनेक प्रासंगिक विषय तथा उनसे सम्बन्धित पात्रों का परिचय मिलता चलता है। कहीं-कहीं नाटकीय ढंग से कथा को इच्छित मोड़ दिये गये हैं, यद्यपि वे उतने स्वाभाविक नहीं बन पड़े हैं। उदाहरण के लिए अम्बपाली का किसी अपरिचित द्वारा रक्षित होना, जब कि शिकार के समय शेर का आक्रमण होने पर राजकुमार स्वर्णसेन को उसे वहीं छोड़कर भागना पड़ा। उस समय लेखक यह भी बताता है कि वह अज्ञात और अपरिचित व्यक्ति वास्तव में एक राजकुमार था, जो अपने कुछ सैनिकों के साथ किसी कुटिल उद्देश्य से उस वन में निवास करता था। ऐसे अनेक प्रसंग उपन्यास में भरे पड़े हैं और उनके जाल में मूल कथा खो-सी गयी है।

घटनाओं का यह जाल इतना उलझा हुआ है कि कहीं-कहीं अखरने भी लगता है। वास्तव में कथा-शैली के प्रभाव के कारण उपन्यास अरोचक नहीं बन पाया है। अनेक घटनाओं से असम्बद्ध या सम्बद्ध विषयों का बहाना लेकर लेखक ने विस्तार से उस काल की राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक दशाओं का परिचय देते हुए जन-मनोवृत्ति का भी विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। थोड़े से परिष्कृत शिल्प का समावेश करके लेखक इन चित्रणों और विविध वर्णनों की सहायता से कथा को सजीव बना सकता था। फिर भी, कथा के बीच-बीच में आये इन प्रसंगों और वर्णनों से, कम-से-कम तत्कालीन समाज के आचार-विचार और वर्ण-व्यवस्था, राजनैतिक परम्परा, धार्मिक प्रथाओं, जन-सामान्य के जीवन में राज्य का हस्तक्षेप, राजकीय पर्व आदि के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध होती है। परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कहीं-कहीं ये वर्णन अतिरंजित भी हो गये हैं।

उपन्यास की कथा का मूल आधार एक सामाजिक नियम था, जिसका पालन होना उस काल में आवश्यक था। यों तो उस समय ऐसे बहुत से नियम-कानून बनाये गये थे, जिनका पालन राजाज्ञा के कारण होता था, परन्तु जिस नियम का सम्बन्ध इस उपन्यास की मूल कथा से है, वह यह है कि उस समय वैशाली का एक राजकीय नियम यह था, कि उन दिनों अपने समय की सर्वसुन्दरी कन्या को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी वेश्या-जीवन अपनाना पड़ता था। उसे 'नगरवधू' कहा जाता था। किसी व्यक्ति से विवाह करके गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करने की स्वतंत्रता उससे छीन ली जाती थी। उसके ऊपर नगर के सभी व्यक्तियों का समान रूप से अधिकार होता था। यों तो उस समय राजनर्तकी तथा देवदासी आदि ऐसी अनेक व्यवस्थाएँ भी थीं; परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, केवल इसी एक तथ्य पर इस उपन्यास की मूल कथा आधारित है कि उस समय 'नगरवधू' चुनी जाने वाली सर्वसुन्दरी कन्या को वेश्यावृत्ति अपनानी पड़ती थी, यद्यपि समाज में उसका पद और सम्मान सर्वश्रेष्ठ महिला के समान होता था, जिसका पोषण तथा मर्यादा-रक्षा भी एक प्रकार से राज्य का ही दायित्व था।

संक्षेप में, इस उपन्यास में, विविध प्रसंगों की रोचकता के कारण कथा इतनी अरोचक तो नहीं होने पाती है, परन्तु घटनाओं का भारी संयोजन जासूसी उपन्यास के कथानक की भाँति भी है, जिसमें स्थान-स्थान पर अनेक घटनाएँ घटती चलती हैं। अन्तर इतना है कि जहाँ जासूसी उपन्यासों में इस प्रकार की

घटनाएँ एकदम चामत्कारिक रूप से सम्मिलित होती हैं वहाँ इस उपन्यास में उनका समावेश नाटकीय रूप से हुआ है।

ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा में सांस्कृतिक पक्ष को प्रधानता देकर चलने वाले उपन्यासकारों में महापंडित राहुल सांकृत्यायन प्रमुख हैं। यों राहुल जी ने प्रधानतः ऐतिहासिक और राजनैतिक विषयों पर ही उपन्यास लिखे हैं। 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न', जीने के लिए', 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो' आदि इनके प्रमुख उपन्यास हैं। इनमें से प्रारंभ के तीन उपन्यास ऐतिहासिक और अंतिम दो राजनैतिक हैं। इनमें उन्होंने जिस प्रकार के कथानक का प्रयोग किया है, उस पर सांस्कृतिकता की छाप स्पष्ट है। परन्तु राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कथानक सांस्कृतिक बोझ से इतने आक्रांत हो गये हैं कि उपन्यास न लगकर सांस्कृतिक इतिहास लगते हैं। स्पष्ट ही इनके ऐतिहासिक उपन्यास, इस दृष्टि से, वृन्दावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न कोटि के हैं।

जहाँ तक राहुल सांकृत्यायन के राजनैतिक उपन्यासों का सम्बन्ध है, उनके कथानक की सर्वप्रथम उल्लेखनीय विशेपता यह है कि वह क्रांतिकारी प्रयत्नों मात्र पर ही निर्भर नहीं करते हैं। 'जीने के लिए' में उनके एक पात्र ने कहा है कि '……मेरे दिल में बाल-जीवन से ही देश-सेवा की कितनी उमंगें हैं, तुम यह भी जानते हो कि देश की स्वतंत्रता के लिए मेरा चित्त कितना उत्तेजित हो जाता है। और यदि इक्के-दुक्के बम और पिस्तौल चलाने पर मुझे विश्वास होता, तो मैं कब का उसमें लग गया होता।'[1] यह राहुल सांकृत्यायन के राजनैतिक उपन्यासों की ही विशेषता है कि उसमें कोरी देश-प्रेम की भावना की उत्तेजना में आकर ही क्रांति और सशस्त्र विद्रोह की गाथाएँ नहीं गायी गयी हैं। अन्यथा इस युग के अधिकांश राजनैतिक उपन्यासों के कथानक इसी प्रकार के प्रसंगों से परिपूर्ण हैं। किंतु इनके उपन्यासों में राजनैतिक स्वतन्त्रता, क्रांति का स्वरूप तथा शोषण आदि विषयों पर विवेकपूर्ण विचार प्रकट किये गये मिलते हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न जाति-वर्गों की एकता और शोषण के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—'सभी वर्गों की एकता को मैं अच्छा

१. 'जीने के लिए' (महापण्डित राहुल सांकृत्यायन)।

समझता हूँ, लेकिन यह सम्भव नहीं। राजा - महाराजों और धनियों का स्वार्थ वह नहीं है, जो कि साधारण जनता का। रेजिडेंट के सामने महाराज चाहे सटक जाते हों, लेकिन अपनी प्रजा की इज्जत, धन और प्राण के साथ वे खेल खेल सकते हैं।..........शोषण हानिकारक है, लेकिन जातियों का सहयोग बड़ी लाभदायक चीज है। उस सहयोग से दोनों देशों को बहुत से राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और समाजिक फायदे हो सकते हैं। हमारे देशवासी अब कभी-कभी दबी जबान से सहयोग का जिक्र करने लगे हैं, तो भी वे शोषण ही का दूसरा नाम सहयोग रखना चाहते हैं। लेकिन हिंदुस्तानी इस भुलावे में नहीं आ सकते। हिंदुस्तानी न कायर हैं न निर्बुद्धि।'

उपर्युक्त कोटि के विवरण उपन्यास की कथा के स्वाभाविक विकास में योग देते हैं। राहुल सांकृत्यायन के राजनैतिक कथानक पर आधारित उपन्यासों में इस प्रकार के विवरणों का अभाव नहीं है, यद्यपि इस कथन के अपवाद स्वरूप उनमें कुछ इस प्रकार के विवरण भी हैं, जिनमें किसी विचारधारा का अनुकरण ही है, उदाहरण के लिए 'भागो नहीं दुनिया को बदलो' नामक नामक उपन्यास में उन्होंने लिखा है—'सोवियत भूमि दुनिया भर के श्रमजीवियों का अपना देश है। हम लोग जानते हैं कि संसार के षष्ठांश पर लाल झंडे के फहराने का क्या महत्व है। हम इस झंडे की छाया को एक अंगुल भी कम देखना पसन्द नहीं करते। इसीलिए जब शत्रुओं की संख्या, शक्ति और मनोभाव को देखते हैं, तो हमारा ध्यान बराबर लाल सेना को ओर जाता है। लाल सेना के पुराने कामों का मुझे थोड़ा बहुत पता है। इधर शत्रुओं की तैयारी से कभी-कभी चिन्ता हो जाती थी। लेकिन मैंने यहाँ अपनी आँखों जो देखा और जाना, उससे मुझे पूरा संतोष है।'[1]

राहुल सांकृत्यायन का सर्वप्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास 'मधुर स्वप्न' है। परन्तु इस उपन्यास को हिंदी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ रखकर नहीं देखा जा सकता है, क्योंकि जहाँ उनमें केवल ऐतिहासिक कथा को कल्पना के मिश्रण से प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत भर करना उनका उद्देश्य रहता है, वहाँ इस उपन्यास

१. 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो' (महापण्डित राहुल सांकृत्यायन)।

में लेखक ने अपने जीवन-दर्शन की व्याख्या करने का भी अवसर निकाला है और इस उद्देश्य को प्रधानता दी है। इसके कथानक का आधार ऐतिहासिक ईरानी सभ्यता को बनाया गया है, जिसके सामानान्तर ही साम्यवादी सिद्धांतों की भी विवेचना है। इन विचारों का अन्दर्जगर के चिन्तन-कथन के रूप में प्रस्तुत किया है। कथानक का केन्द्र-विंदु वही है और उसी के मधुर स्वप्न के प्रतीक रूप में इस उपन्यास का नामकरण भी हुआ है। कथा में संघर्ष भी तभी उत्पन्न होता है जब उसके सिद्धांतों-विचारों का ईरानियों के द्वारा विरोध किया जाता है। कथा का व्यावहारिक प्रारंभ सामन्तवादी व्यवस्था के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होनेवाली अकाल तथा इस जैसी अन्य परिस्थितियों की सृष्टि से होता है। पग-पग पर विरोधी सिद्धांतों का संघर्ष होता है। कहीं-कहीं किन्हीं नाटकीय तत्वों का भी समावेश हुआ है। उदाहरण के लिए अन्दर्जगर कवात् को नकली वेश में ले जाकर जब जनता की दीन दशा का दृश्य दिखाता है, तव वह दोनों हाथों से अनाज का वितरण करने लगता है और वन्दी कर लिया जाता है। सामाजिक व्यवस्था और उसके विविध रूढ़ि-धर्मों का वर्णन प्रसांगिक रूप से किया गया है। जिस जीवन-दर्शन का स्पष्टीकरण किया गया है, वह इन्हीं पर आधारित है। लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व की ऐतिहासिक कथा को लेकर यह उपन्यास लिखा गया है। विचारों और सिद्धांतों के ही कारण उपन्यास की कथानक-एकता सुरक्षित नहीं रह सकी है।

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम को कथा का आधार बनाकर डा० वृन्दावनलाल वर्मा ने 'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई' नामक अद्वितीय उपन्यास लिखा था। उसी विषय को आधार बनाकर श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'बेकसी का मजार' नामक उपन्यास की रचना की है, जिसके कथा-नायक अंतिम मुगल-सम्राट बहादुरशाह हैं। प्रताप नारायण श्रीवास्तव की यह नवीनतम औपन्यासिक कृति लम्बे समय के बाद प्रकाशित हुई है। यों तो यह कई अर्थों में उनके पिछले उपन्यासों से भिन्न हैं, परन्तु जहाँ तक कथानक का प्रश्न है, यह उनका एक नयी दिशा में प्रयास है। उनके पिछले उपन्यासों से भिन्न यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें सन् १८५७ की राष्ट्रीय क्रांति की कथा वर्णित है। अवश्य ही यह एक जटिल विषय है, जिसकी कथा को सुगठित रूप में प्रस्तुत करना कठिन कार्य है। इस प्रकार का कोई कथानक एक सफल उपन्यास का विषय तब तक नहीं बन सकता, जब तक उपन्यासकार को तत्कालीन सामाजिक जीवन तथा युगीन परिस्थितियों का पूरा-पूरा ज्ञान यथार्थ रूप

में न हो। ऐसे उपन्यासों का कथानक—जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं की पृष्ठभूमि में इस प्रकार के चित्रण प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है—प्रायः बिखरा हुआ होता है। इस उपन्यास के अधिकांश पात्र—मुगल सम्राट, उसकी बेगम तथा अन्य अनेक ऐतिहासिक हैं। कथानक के विकास की दृष्टि से इनमें एक नवीनता यह है कि जहाँ अन्य बहुत से साहित्यकारों ने इस स्वतंत्रता-संग्राम का नेता नाना साहब, तात्या टोपे तथा झाँसी की रानी आदि को मानकर विविध कृतियों की रचना की है, वहाँ इस कृति में इस संग्राम का संचालक सम्राट बहादुरशाह को मानकर वस्तु-विधि-रचना की गयी है। शिल्प की दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि इसमें कथानक का निर्वाह कुशलता से हुआ है और उसके संयोजन में अधिक से अधिक नवीन दृष्टि का आधार देकर उसे सफल बनाने का प्रयास किया गया है।

उपर्युक्त कथाकारों की परंपरा में अगला महत्वपूर्ण हस्ताक्षर श्री यशपाल का है, जिन्होंने 'दिव्या' तथा 'अमिता' नामक ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की है। 'दिव्या' के प्राक्कथन में लेखक ने ऐतिहासिक उपन्यास-रचना की प्रेरणा के विषय में विचार प्रकट करते हुए लिखा है—'अपने अतीत का मनन और मंथन हम भविष्य के लिए संकेत पाने के प्रयोजन से करते हैं। वर्तमान में अपने आपको असमर्थ पाकर भी हम अपने अतीत में अपनी क्षमता का परिचय पाते हैं। इतिहास घटनाओं के रूप में अपनी पुनरावृत्ति नहीं करता। परिवर्तन का सत्य ही इतिहास का तत्व है परन्तु परिवर्तन की इस शृंखला में अपने अस्तित्व की रक्षा और विकास के लिए व्यक्ति और समाज का प्रयत्न निरंतर विद्यमान रहा है। वही सब परिवर्तनों की मूल प्रेरक शक्ति है।'[1]

'दिव्या' एक बौद्धकालीन उपन्यास है। बौद्धकालीन वातावरण तथा चरित्रों के चित्रण की दृष्टि से लेखक को इसमें असाधारण सफलता मिली है। इसमें ऐतिहासिक तथ्यों, पात्रों, तथा कलात्मकता को प्रधानता दी गयी है। इसमें ऐतिहासिक कथानक को कल्पना का आधार देकर संयोजित किया गया है और एक काल्पनिक कथा-चित्र को ऐतिहासिकता के आधार पर संगठित करने का प्रयत्न है।

१. 'दिव्या' (श्री यशपाल), प्राक्कथन, पृष्ठ ५।

उपर्युक्त परंपरा की दूसरी कड़ी यशपाल दूसरा का ऐतिहासिक उपन्यास 'अमिता' है। इसके कथानक का आधार अशोक की कलिंग-विजय की प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है। वस्तु-सामग्री ऐतिहासिक सूत्रों से ली गयी है। कथा-काल और क्षेत्र अशोक-कालीन भारतवर्ष है। कथा-सूत्र का आरंभ उस समय से होता है जब अशोक के आक्रमण को कलिंग के राजा द्वारा विफल कर दिया जाता है। लेकिन यह कथा-सूत्र अपने इसी रूप में आगे नहीं चल पाता, क्योंकि कलिंग के राजा की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। यहाँ से कथा का प्रारम्भिक सूत्र एक नवीन रूप ग्रहण करता है। एक उप-कथा-सूत्र कलिंग में ही रह जाता है। वह शिशु राजकुमारी अमिता के साथ ही बढ़ता है। परन्तु कथा का दूसरा सूत्र अपने मूल से कुछ अलग हटकर अशोक के राज्य-क्षेत्र में ही रहता है। वास्तव में मूल कथा का व्यावहारिक रूप से यहीं आरंभ होता है। अब एक प्रकार से ये दोनों कथा-सूत्र, जो कुछ समय पूर्व अलग होकर विभक्त हो गये थे, फिर आपस में टकराते हैं। अशोक दुबारा कलिंग पर आक्रमण करता है। कलिंग की महारानी की प्रासंगिक चित्रण-कथा यहीं कथानक में सम्मिलित होती है। महारानी के अज्ञात रूप से एक दूसरे अप्रधान महल में रहने से संबंध रखने वाली कथाएँ इसी सूत्र की हैं, जिनकी आकस्मिक रूप से तब समाप्ति हो जाती है, जब वह फिर वापस राजमहल में आ जाती हैं। परंतु चूँकि इतने समय तक प्रधान कथा-सूत्र अवरुद्ध रहता है और यह प्रसंग उसके विकास में किसी सीमा तक भी सहायक नहीं सिद्ध होता, अतः यह कहा जा सकता है कि इसके समावेश से कथानक को बोझिलता ही मिली है, उसके स्वाभाविक गति विकास-को कोई योग नहीं; परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि अब तक जो कथा सूत्रों में बँटती या फिर सूत्र-बद्ध होती रहती है अब उसमें नाटकीय तत्वों का समावेश होने लगता है। अशोक विजयी होकर राजमहल में प्रवेश करता है और कलिंग की महारानी अपनी कन्या के हठ के कारण नहीं भाग पातीं, जो वहीं जंजीर लिए खड़ी रहती है और अशोक को बाँधने का निश्चय कर चुकी होती है। यहाँ नाटकीयता अपनी सीमा पर आ जाती है, जब यह देखकर अशोक अमिता की सहज भावनाओं से प्रभावित होकर कभी युद्ध न करने का प्रण कर लेता है। इस प्रकार नाटकीय रूप से कथा का अन्त होता है।

यशपाल के बाद उक्त परंपरा के उपन्यासकारों में डा० रांगेय राघव का नाम आता है। इनके बहुत से उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, जिनके विषय ऐतिहासिक

तथा प्राग्-ऐतिहासिक हैं। यों तो उनके 'घरौंदे', 'चीवर', 'काक', 'विषाद मठ', 'मुर्दों का टीला', 'हुजूर', 'कब तक पुकारूँ', 'पक्षी और आकाश', तथा 'राह न रुकी' आदि अनेक उपन्यास प्रकाशित हुए हैं, परंतु इनमें से ऐतिहासिक कथानक की दृष्टि से 'मुर्दों का टीला' तथा 'कब तक पुकारूँ' विशेष महत्व के हैं।

डा० रांगेय राघव का ऐतिहासिक उपन्यास संबंधी दृष्टिकोण विशिष्ट है। उनमें ऐतिहासिकता की उपेक्षा नहीं मिलती, तथा सबसे अधिक महत्व चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता को दिया जाता है। अपने 'मुर्दों का टीला' नामक ऐतिहासिक उपन्यास में उन्होंने लिखा है—'मिश्र और एलाम, सुमेरु और मोहेंजोदड़ो के दार्शनिक तत्वों की झलक देने का मैंने प्रयत्न किया है। उसमें मैंने विशेष ध्यान रखा है कि उस काल के अनुसार ही उस सबका वर्णन किया जाय। ....आज कल हिंदी में ऐसे बहुत-से उपन्यास निकल रहे हैं जिनमें अद्भुत बातें साबित कर दी जाती हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। खेद है आपको यहाँ 'दास' दासों की-सी बात करता मिलेगा। उसकी परिस्थिति प्रकट है। वह उस काल के दार्शनिकों की-सी शिक्षित बहस नहीं कर सकता, न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है, न द्वन्द्वात्मक-ऐतिहासिक व्याख्या ही। मैं समझता हूँ इतिहास को इतिहास की सफल झलक करके देना ही ठीक है, न कि अपने आपको पात्र बनाकर किये-कराये पर पानी फेर देना!'[1]

उक्त ऐतिहासिक कथा-परम्परा के नवीनतम लेखकों में भी यादवचन्द्र जैन का नाम लिया जा सकता है। 'मल्ल मल्लिका' तथा 'उत्तरापथ' आदि उनके दो उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास हैं। इनमें से प्रथम बौद्धकालीन उपन्यास है तथा द्वितीय में सिकंदर की भारत-विजय-यात्रा का वर्णन है। इन उपन्यासों में सांस्कृतिक तथा सामाजिक चेतना के स्वर बोलते हैं।

पीछे कहा गया है कि वर्मा जी ने हिन्दी उपन्यास की ऐतिहासिक कथा-परम्परा का प्रवर्त्तन करने के साथ ही सामाजिक कथा-परम्परा के रूप-विकास में भी महत्वपूर्ण योग दिया। इस दृष्टि से, कथा-शिल्प विषयक विशेषताओं के विशेष सन्दर्भ में वर्मा जी की सामाजिक औपन्यासिक कृतियों का विश्लेषणात्मक विवरण

१. 'मुर्दों का टीला' (डा० रांगेय राघव), भूमिका।

प्रस्तुत किया जा चुका है। यहाँ उन उपन्यासकारों की विशिष्ट कथा-कृतियों का शिल्प की दृष्टि से विवेचनात्मक विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है, जो वर्मा जी द्वारा प्रशस्त की गयी सामाजिक कथा-परम्परा में योग देने के कारण उल्लेखनीय हैं।

इस सामाजिक कथा-परम्परा में आने वाले उपन्यासकारों में सर्वप्रथम श्री अनूपलाल मंडल का नाम लिया जाना चाहिए। परम्परागत कथा-तत्वों के समावेश की दृष्टि से उनका 'रक्त और रंग' नामक उपन्यास उल्लेखनीय है।

'रक्त और रंग' अनूपलाल मण्डल का नया उपन्यास है। इस उपन्यास की कथा प्रधान पात्री प्रभावती को केन्द्र बनाकर ही आगे विकसित होती है। कथा का व्यावहारिक प्रारम्भ होता है आधुनिक युग के सामान्य सामाजिक वातावरण को पृष्ठभूमि में रखकर प्रभावती के वैधव्य से। पृष्ठभूमि के आधार पर ही कथाकार यह बताता है कि उनके एक चार वर्ष का पुत्र कमल भी था, जो अल्पायु में ही मर गया। कथा में यहाँ तक कोई तेजी नहीं मिलती, बल्कि एक स्थिरता सी लक्षित होती है। कथा को भावी विकास-गति तब मिलती है, जब उसे एक दिन नाटकीय रूप से एक बालक मिल जाता है, जिसे देखकर उसकी अपनी स्मृति जाग उठती है। इस स्थान से अन्त तक रक्त और रंग में एक प्रकार का संघर्ष सा होता रहता है। प्रासंगिक रूप से लेखक ने प्रारम्भिक शिक्षा का महत्व तथा नारी-जीवन की अन्य सामान्य समस्याओं के विविध पहलुओं पर अपने विचार प्रकट किये हैं, जिनसे यदि उपन्यास की कथा को कोई सहायता नहीं मिली, तो कम से कम, बाधा भी नहीं।

इस परम्परा में दूसरा नाम श्री शांतिप्रिय द्विवेदी का है। द्विवेदी जी ने 'दिगम्बर' नामक एक आत्मकथात्मक उपन्यास लिखा है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यदि इसकी परख की जाय, तो इसमें औपन्यासिक तत्वों की कुछ कमी दिखायी देगी। कथा का नायक विमल है। उपन्यास के कथानक की पृष्ठभूमि आधुनिक समाज और परिवर्तित संघर्षमय परिस्थितियाँ हैं। विमल की दयनीय स्थिति से कथा का व्यावहारिक आरम्भ होता है। सारी कथा विमल और वैष्णवी को केन्द्र मानकर चलती है। दोनों को ही जीवन में प्रत्येक पग-पग पर संघर्ष करना पड़ता है और जीवन की कटु परिस्थितियों का बोध होता है। प्रासंगिक

रूप से अनेक घटनाओं का वर्णन किया गया है, जो मूल कथा को किसी प्रकार आगे ढकेलने में सफल होती हैं।

इस परम्परा में तीसरा नाम श्री उदयशंकर भट्ट का है। उनके लिखे हुए उपन्यासों में 'नये मोड़' उल्लेखनीय है। इसका कथानक-विकास शेफाली के चरित्र को आधार बनाकर हुआ है। कथा का व्यावहारिक आरम्भ इसी पात्री की समस्या से होता है। वह एक विवाहिता नारी है, जो लेडी डाक्टर का काम करती है। आरम्भ में आदर्शवादी विचारों का इतना प्रभाव उस पर दिखायी देता है कि वह उस प्रत्येक नारी की सेवा अपनी सारी लगन से करती है, जिसका उसके पति ने परित्याग कर दिया है। यह झूठा आदर्श कुछ समय तक उस पर छाया रहता है और कथा एक घेरे में ही घूमती रह जाती है, परन्तु शीघ्र ही एक सहायक सूत्र जन्म लेता है और उसे विकास की ओर अग्रसर करता है। उसको बैरिस्टर प्राणनाथ से प्रेम हो जाता है, परंतु वे दोनों जानते हैं कि शेफाली का पहला पति विवाह रोक भी सकता है, जो कि अब स्वयं एक दूसरी स्त्री से विवाह कर चुका है। यहाँ पर कथा में काफी तनाव पैदा हो जाता है और क्षण भर को ऐसा भ्रम होता है कि अब उसके विकास के लिए कोई मार्ग नहीं रहा है। साधना, शुभदा, हीरादेई, राममोहन आदि विविध पात्र इस तनाव के भिन्न-भिन्न कोने-से बनकर रह जाते हैं। यही कारण है कि गठन की कमी न होने के बावजूद भी प्रभावात्मकता की दृष्टि से उसका महत्व घट जाता है।

उपर्युक्त कथा-परंपरा में चौथा नाम श्री अमृतलाल नागर का है। 'बूँद और समुद्र' नागर जी लिखित एक वृहत् उपन्यास है। इसका कथा-क्षेत्र लखनऊ का एक मुहल्ला है और वस्तु-सामग्री का चयन उसी की जनता से किया गया है, जो वास्तव में भारतीय समाज के विविध वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है। कथावस्तु का व्यावहारिक रूप से प्रारंभ यहीं से हुआ है। चूँकि यह एक विस्तृत कथा है, अत: इसमें अनेक कथा-सूत्र हैं। जिनके विकास में अनेक प्रासंगिक कथाओं तथा अन्त-कथाओं का समावेश हुआ है। कथा के पात्रों का वर्गीकरण यदि विविध सामाजिक वर्गों के आधार पर न करके पुरुष और स्त्री पात्रों के आधार पर कर दिया जाय तो सूत्र-विकास और उसकी जटिलताओं को समझने में सरलता रहेगी। जहाँ तक पुरुष-पात्रों का सम्बन्ध है, मुख्य कथा-सूत्र सज्जन और उसकी मित्र-मण्डली को आधार बनाकर आगे चलता है। पुरुष-पात्रों का दूसरा कथा-सूत्र रायसाहब तथा उनके

समाज को आधार बनाता है। तीसरा सूत्र उस विशिष्ट मुहल्ले के बड़े-बूढ़ों तथा सामान्य पुरुषों से सम्बन्ध रखता है। चौथा सूत्र कवि विरहेश तथा उस जैसे कुछ अन्य पात्रों पर आधारित है। पाँचवा सूत्र रामजी साधू से सम्बन्ध रखता है। इसी प्रकार स्त्री-पात्रों पर आधारित भी विविध कथा-सूत्र हैं, जिनका वर्गीकरण कर लेने पर उनके विकास में जटिलता नहीं दिखायी दे ी। स्त्री-पात्रों पर आधारित जो कथा-सूत्र हैं, उनमें प्रधान है ताई के चरित्र पर आधारित। दूसरा है मुहल्ले की अन्य स्त्रियों—उदाहरण के लिए बड़ी, नन्दो, तारा आदि का वर्ग, जिनको दूसरे के अन्तर्गत रखा जा सकता है। तीसरा सूत्र वनकन्या से सम्बन्ध रखता है। उपर्युक्त विविध कथा-सूत्रों का जाल बिनकर ही इस विस्तृत कथानक को तैयार किया गया है। कहीं-कहीं पर ये कथा-सूत्र स्वतंत्र रूप से विकास को प्राप्त होते हैं और कहीं-आपस में एक-दूसरे के साथ संयुक्त होकर। यदि पुरुष पात्रों का आधार सज्जन है तो स्त्री पात्रों की ताई। यद्यपि इस कथन से यह आशय समझना गलत होगा कि इन दोनों में ही उपन्यास के सम्पूर्ण पात्रों का व्यक्तित्व निहित है। कथा को शैली वर्णनात्मक है; परंतु जहाँ-जहाँ लेखक ने किसी चरित्र-विशेष की व्याख्या करने की ओर ध्यान दिया है, वहाँ वह रेखा-चित्रात्मक हो गयी है। कथा के माध्यम से लेखक ने अपने जीवन-दर्शन को भी प्रस्तुत किया है, जिसकी पृष्ठ-भूमि में जो प्रधान समस्या लक्षित होती है वह है अनास्था के इस युग में आस्था की समस्या। परन्तु इससे लिए उसे एक विशाल ढाँचा तैयार करना पड़ता है। कभी-कभी उसे अपने कथा-क्षेत्र से हटना भी पड़ता है। उदाहरण के लिए कुछ समय के लिए सज्जन और वन-कन्या के साथ कथा का सूत्र मथुरा और वृन्दावन तक भी जाता है और इस प्रकार अनेक प्रासंगिक वर्णन उसमें समावेशित हो जाते हैं। ताई के चरित्र का चित्रण करने के साथ ही साथ लेखक जादू-टोना, यन्त्र-मन्त्र आदि के विषय में न जाने कितनी बातें बता जाता है और इसी प्रसंग से सम्बन्ध रखनेवाली कितनी ही और बातें भी। परन्तु उनके इस हिंसक रूप को छोड़कर उनके हृदय के दूसरे पक्ष और वात्सल्य की अनेक स्नेहसिक्त भावनाओं की अभिव्यक्ति भी वह नहीं भूलता। सज्जन के साथ ही वह इस घने मुहल्ले के घटना-क्षेत्र में कैमरामैन के समान प्रवेश करता है और ज्यों ही उसके लिए कोठरी ले ली जाती है, त्यों ही मानों कैमरा फिटकर दिया जाता है। सुविधा के विचार से यहाँ कवि विरहेश का प्रवेश कथानक में होता है और इस प्रकार प्रसंग रूप से बड़ी के प्रणय की कथा का भी समावेश हो जात है। इसी कथा-सूत्र के अन्तर्गत महिपाल और उससे सम्बन्ध रखने वाली

प्रासंगिक कथाएँ आती हैं। मानसिक संघर्ष और चारित्रिक उथल-पुथल की दृष्टि से यह उपन्यास का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। कल्याणी का चरित्र उसका ठीक विरोधी है और डा० शीला से सम्बन्ध रखने वाले प्रासंगिक वर्णन वैवाहिक समस्याओं को जटिल बना देते हैं। डॉ० शीला से कुछ ही भिन्न प्रकार का चरित्र चित्रा राजदान का है। परन्तु ये सब मूल कथानक के प्रासंगिक कथा-भाग से सम्बन्ध रखने वाले तत्व हैं। नगीनचन्द आदि पात्र भी इसी सूत्र को बढ़ाते हैं, परन्तु उनका उसमें कोई विशेष योग नहीं है। अवश्य वनकन्या आधुनिक युवती-वर्ग का प्रतिनिधित्व करती कहीं-कहीं दिखायी पड़ती है, यद्यपि उसका चरित्र-विकास स्वतन्त्र रूप से कम ही हुआ है। वातावरण का इस इस उपन्यास के कथानक और पात्रों के निर्माण में महत्वपूर्ण योग रहा है। प्रासंगिक रूप से लेखक ने यदि एक ओर विधवाश्रम जैसी सेवा-संस्थाओं में होने वाले अनाचार का भी परिचय दिया है तो दूसरी ओर मोहन-जोदड़ो, वैदिक सभ्यता आदि पर लम्बे वर्णनात्मक चिन्तन-प्रसंग। इनसे कथानक में शिथिलता और बिखराव आ गया है। इस प्रकार इस उपन्यास में अनेक शिल्प-रूपों का जमघट-सा दिखायी देता है।

उपर्युक्त परम्परा में जो अन्य उपन्यासकार आते हैं, उनमें श्री मन्मथनाथ गुप्त, श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', श्री यज्ञदत्त शर्मा, डा० रांगेय राघव, डा० लक्ष्मी-नारायण लाल, सुश्री रजनी पनिकर तथा श्री शिवसागर मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'बहता पानी' मन्मथनाथ गुप्त का नया उपन्यास है जिसका कथानक भारतीय स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद किये गये क्रांति-आंदोलनों पर आधारित है। वास्तव में, लेखक का विचार है कि, भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् भी अनेक ऐसी समस्याएँ हैं, जो बहुत जटिल हैं। विशेष रूप से मध्यवर्गीय समाज के सामने ये समस्याएँ अपना मुँह फाड़े खड़ी हैं। इसकी कथा प्रधान पात्र सव्यसाची के जीवन को केन्द्र मानकर ही विकसित होती है। वह एक क्रांतिकारी भावनाओं वाला युवक है, जिसे जीवन-निर्वाह के लिए कोई आश्रय ढूँढ़ते समय यथार्थ की कटुता का बोध होता है। ये कटुताएँ उसके मस्तिष्क में इतनी हलचल उत्पन्न करती हैं कि वह जीवन के किसी भी पक्ष में उदासीनता और निराशा से पीछा नहीं छुड़ा पाता। यों वह सुजाता के सम्पर्क में आने पर उसके प्रति आकर्षण का भी अनुभव करता है, परन्तु यह प्रसंग कथानक को कोई तीव्र-विकास-गति देने में असमर्थ रहता है। हरिकिशन, वैद्यनाथ तथा धर्मशीला आदि पात्र कथा में प्रासंगिक रूप से ही समाविष्ट हुए हैं, जिनका उसके निर्माण में कोई महत्वपूर्ण योग नहीं है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के नये उपन्यास 'मरु प्रदीप' की कथा का केन्द्र है प्रधान पात्री शान्ति। प्रधान कथा-सूत्र के रूप में उसी को लेकर कथानक का व्यावहारिक रूप से आरम्भ होता है। इस प्रधान सूत्र का प्रथम सहायक सूत्र आता है प्रोफेसर विमल को आधार बनाकर। विधवा-विवाह पर जितनी बहसें होती हैं, वे कथानक में समावेशित किये गये प्रासंगिक विवरण के रूप में आती हैं। अब यह द्वितीय कथा-सूत्र विकसित होते-होते एकाएक नाटकीय रूप से शिथिल हो जाता है और एक नया सूत्र आता है। कमलाकांत के सम्पर्क में शान्ति आती है और दोनों में प्रेम हो जाता है। उसके भीतर अन्तर्द्वन्द्व चलता है और कमलाकांत को समर्पित हो जाने के बावजूद वह अशान्ति का ही अनुभव करती रहती है। संक्षेप में इसी त्रिकोणात्मक घेरे में कथा घूमती है, जिसका एक बिन्दु है विमल, दूसरा बिन्दु है कमलाकांत प्रधान और केन्द्र बिन्दु है शान्ति। इस त्रिकोणात्मक घेरे में ये तीन पात्र ही आते हैं, जो उपन्यास की कथा के जाल को बिनते हैं। उपन्यास भर में इन्हीं के विचार, दर्शन और सिद्धांतों का विस्तार से परिचय दिया गया है। पात्रों की संख्या कम होने के कारण उपन्यास में अनावश्यक विस्तार आ गया है और कथानक बिखर गया है।

यज्ञदत्त शर्मा कृत 'इंसाफ' नामक उपन्यास ग्रामीण जीवन की समस्याओं पर लिखा गया है। इसका प्रधान पात्र श्यामू है, जो खेती करता है। किन्तु उसके कार्य का क्षेत्र केवल कृषि तक ही सीमित नहीं है। वह सक्रिय रूप से देश की राजनीति में भी भाग लेता है। इसी कारण उसे जेल-यात्रा भी करनी पड़ती है। कथा का विकास इस स्थान से दो सूत्रों में विभाजित होकर होता है। जब श्यामू जेल चला जाता है तो उसकी स्त्री जगवती सारा काम देखती है। इसी दौरान में भारतवर्ष स्वतन्त्र होता है और हर क्षेत्र में अनेक परिवर्तन आते हैं। जमींदारी में भी व्यवस्था बदलती है और श्यामू के साथ अन्याय किया जाता है। परन्तु अन्त में कथानक एक प्रकार से नाटकीय मोड़ लेता है और उसकी भूमि बच जाती है। यहाँ पर आदर्शवाद की झलक स्पष्ट है। प्रासंगिक रूप से न्याय-व्यवस्था तथा जमींदारी उन्मूलन आदि विषयों पर भी विचार मिलते हैं। कथा-क्रम में एक-सूत्रता मिलती है, जो प्रशंसनीय है।

'कब तक पुकारूँ' डा० रांगेय राघव का नवीनतम् वृहत् उपन्यास है। इस उपन्यास की कथा भारत की कुछ जरायम पेशा जातियों से सम्बन्ध रखती है। कथा

अपने प्रधान पात्र सुखराम को केन्द्र बनाकर परिचालित होती है। सामान्य रूप से कथा के सहायक सूत्रों में एक प्यारी के चरित्र को आधार बनाकर चलता है, जिसका विवाह सुखराम से होता है। पुलिस के दरोगा के प्यारी को बुलवाने आदि की घटनाएँ इसी सूत्र के अन्तर्गत प्रासंगिक रूप से आती हैं। सुखराम का असन्तोष, उसको पिटवाया जाना कथानक के भावी विकास में सहायक होते हैं। रुस्तम खाँ के चरित्र को एक आधार बनकर दूसरा उप-कथा-सूत्र अब मूल कथा वस्तु के प्रधान सूत्र के साथ आ जाता है। इसमें पूर्व-सूत्र का भी योग रहता है। और इस प्रकार यह भी एक उप-प्रधान कथा बनाकर मूल कथा के साथ ही चलती है। प्रधान सूत्र अब मुड़ता है और सुखराम के जीवन में कजरी का प्रवेश होता है। यह सूत्र अब प्रधान कथा का अंग बन जाता है और उपन्यास में अन्त तक चलता है। विधवा नटनी, बाँके, डाकुओं के सरदार आदि की घटनाएँ प्रासंगिक रूप में कथा आती हैं, जिनका कथा के स्थायित्व की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। अँग्रेज युवती सूसन की रक्षा से प्रधान कथा फिर मुड़ती है। अँग्रेज युवक का सूसन पर बलात्कार आदि इसकी प्रासंगिक घटनाएँ हैं। सूसन के गर्भ रह जाने से आगे की कथा फिर एक नाटकीय मोड़ लेती है। सुखराम, कजरी व सूसन बम्बई चले जाते हैं। बाद में सूसन इंगलैंड चली जाती है और उसको आधार बनाकर चलनेवाले उपसूत्र की समाप्ति हो जाती है। उपन्यास का अन्त कुछ भावात्मक ढंग से होता है। ठाकुर के लड़के नरेश से प्रेम करने के कारण सुखराम चन्दा को गला घोंटकर मार डालता है, जो सूसन की कन्या थी और जिसे उसने पाला था। उपन्यासकार की वर्णन-शैली बहुत तीखी है। वह जिस समवेदनापूर्ण और रोचक ढंग से वर्णन करता है, पाठक उसी के रंग में रँगता चला जाता है। उपन्यास के घटना-क्रम में स्वाभाविकता है, यद्यपि कहीं-कहीं कुछ घटनाएँ अनावश्यक रूप से भरी गयी जान पड़ती हैं। परन्तु इसी से सम्बन्धित उपन्यास की मुख्य कमी यह है कि विशेष सावधानी और सतर्कता के बावजूद भी उपन्यास का कथानक बिखर-सा गया है। इसका एक कारण कथानक का अनावश्यक विस्तार भी है।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल लिखित 'काले फूल का पौदा' एक छोटे से परिवार की कथा है। इसकी सारी कथा देवन और गीता के चारों ओर केन्द्रित रहती है। इन दोनों पात्र-पत्रियों को दो कथा-सूत्र मानकर चला जाय तो देवन मित्रों तथा गीता के पितृ-गृह के व्यक्तियों को आधार बनाकर चलने वाले दो उप-सूत्रों को इस

प्रधान-कथा-सूत्र का सहायक माना जा सकता है। उपन्यास समस्या-प्रधान है और किन्हीं समस्याओं पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रकाश डालता है। इसका कथानक प्रासंगिक रूप से समाविष्ट हुए वर्णनात्मक सूत्रों के बोझ से मुक्त है, यह बड़ी बात है, अन्यथा इस प्रकार की कथाओं में इनकी भरमार रहती है। अवश्य वर्णनात्मकता के सूत्र से कथानक में सरल स्वाभाविकता प्रारम्भ से अन्त तक मिलती है। यही कारण है कि कथावस्तु की गुत्थियाँ और उलझाव इस उपन्यास में बिल्कुल नहीं मिलते। कथानक का प्रसार खण्डों के अन्तर्गत किया गया है। इस खंड-विभाजन के आधार पर कथानक का निर्धारण करने में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ अवश्य होती हैं, परन्तु उसकी प्रभावात्मकता भी बढ़ जाती है। यद्यपि इस खण्ड-प्रणाली का निखरा हुआ रूप केवल 'नदी के द्वीप' में ही मिलता है। कहीं-कहीं किसी सीमा तक नाटकीयता भी समाविष्ट हुई है, यद्यपि उसके आधार के विषय में अन्य तत्वों का भी उल्लेख किया जा सकता है।

'बया का घोंसला और साँप' डा० लक्ष्मीनारायण लाल का लघु उपन्यास है। इसमें शिल्प की कोई नवीनता नहीं मिलती है, यद्यपि कथा के प्रकरण-विभाजन से उसमें कलात्मकता लाने का प्रयत्न किया गया है। जैसा कि इस युग में लिखे गये अनेक उपन्यासों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है, कथा के अन्तिम भाग को प्रारम्भ में रखकर उपन्यास शुरू किया गया है। इस उपन्यास की आधार-भूमि भारतीय देहातों का सामाजिक जीवन है। आनन्द, सुभागी, रामानन्द, कामताप्रसाद, जमुना, पारो आदि पात्रों को आधार बनाकर विविध सूत्रों का जाल बिनकर कथानक का ढाँचा तैयार किया गया है। परन्तु इन विशिष्ट चरित्रों का महत्व सामाजिक या सामूहिक दृष्टि से ही अधिक है। कथा का प्रारम्भ सामान्य रूप से हुआ है, परन्तु शीघ्र ही वह बहुत गतिवान् होकर आगे बढ़ी है। कहीं-कहीं उसकी गति की यह तीव्रता कलात्मक दृष्टि से दोषपूर्ण लगती है।

'अन्धा कुआँ' डा० लक्ष्मीनारायण लाल का मुख्यत: ग्रामीण जीवन पर आधारित उपन्यास है। इसमें भारतीय ग्रामों के सामाजिक जीवन की पृष्ठभूमि में कथानक का निर्माण किया गया है। प्रधान कथा-सूत्र एक परिवार से सम्बन्ध रखता है, जिसमें पहले तीन-चार पात्र रहते हैं—जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी। बाद में एक जेठानी सौत के रूप में भी आती है जो परिस्थितियों के कारण वहाँ से भागने पर विवश होती है। ग्रामीण परिवारों की पारस्परिक कलह,

स्त्री का घर छोड़कर भागना, मुकदमेबाजी, नारकीय यन्त्रणाएँ, ईर्ष्या-द्वेष आदि से सम्बन्ध रखनेवाली भावनाएँ-घटनाएँ इस कथानक-निर्माण का आधार हैं।

रजनी पनिकर लिखित 'पानी की दीवार' नामक उपन्यास का कथानक नीना नरूला नामक एक युवती के चरित्र पर आधारित है। प्रारम्भ में परिचयात्मक रूप से यह बताया गया है कि वह एक चित्रकला विद्यालय में अध्यापिका है, और राज विदेश गया है। इन दोनों में पहले से ही प्रेम था। कथा-सूत्र इस आधार को लेकर विकसित होता है कि प्रोफेसर दिलीप चौधरी के प्रति नीना आकर्षण का अनुभव करती है। जब दिलीप भी उसकी ओर आकर्षित हो जाता है, तब संयुक्त रूप से ये दोनों सूत्र मूल-कथा का स्थान ग्रहण कर लेते हैं और सुस्थिर गति से आगे बढ़ते हैं। परिस्थितियों में तनाव तब आता है, जब यह प्रेम-व्यापार एक विचित्र स्थिति में मर्यादा-बद्ध होकर ही रह जाता है। इसका कारण यह है कि दिलीप विवाहित है और नीना के हृदय में राज की प्रेम-स्मृति विलुप्त नहीं हुई है। फलतः इसी स्थिति में कथानक फँस कर रह जाता है और भावी विकास का कोई मार्ग नहीं खोज पाता। उपन्यास आत्मचरितात्मक शैली में लिखा गया है, जिसके फलस्वरूप उसकी प्रभावात्मकता में वृद्धि हो गयी है।

शिवसागर मिश्र लिखित 'नींव की मिट्टी' नामक उपन्यास का कथानक सुगड़िया ग्राम को क्षेत्र बनाकर निर्मित हुआ है। डाक बाबू की लड़की अचला और योगेन्द्र की प्रेम-कथा के विवरण से कथा का व्यावहारिक आरम्भ होता है। कथा-सूत्र आगे बढ़ता है और ग्रामीण वातावरण में यह बात फैलती है कि डाक्टर हसन का चरित्र अच्छा नहीं है। दरोगा द्वारा डाक्टर हसन के घर की तलाशी आदि ली जाने की घटना का प्रासंगिक रूप से समावेश किया गया है। गाँव में बीमारी फैलने पर कुछ सेवा-कार्य करनेवाले सामने आते हैं और अपने त्यागपूर्ण चरित्र का परिचय देते हैं। इस महामारी की घटना का महत्व इन्हीं लोगों के चारित्रिक विकास की दृष्टि से है; कथानक को विकसित करने की दृष्टि से नहीं। कथा में रोचकता बनी रहती है, परन्तु किसी प्रभावशाली शिल्प-रूप की झलक उसमें नहीं मिलती।

संक्षेप में, श्रीयुत वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा ऐतिहासिक उपन्यासों की जिस परम्परा का प्रवर्तन हुआ तथा सामाजिक कथा-परम्परा की जो प्रशस्ति हुई, उसकी विविध प्रवृत्तियों के विकास में योग देने वाले उपन्यासकारों की प्रमुख कृतियों का

शिल्प-गत अध्ययन ऊपर प्रस्तुत किया है। हिंदी उपन्यास के विकास के इतिहास में वर्मा जी का स्थान इसलिए सदैव उल्लेखनीय रहेगा कि उन्होंने उपन्यास-साहित्य की एक बड़ी कमी को पूरा करके उसकी सर्वांगीण उन्नति की दिशा में प्रयत्न किया। विशेष रूप से, हिन्दी-साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों का जो अभाव था, वह वर्मा जी तथा उनके द्वारा प्रवर्तित परम्परा में योग देने वाले अन्य उपन्यासकारों की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कथा-कृतियों के द्वारा बहुत अंशों में पूरा हो गया है और भविष्य में भी उसकी व्यापक-क्षेत्रीय संभावनाएँ हैं।

जैनेंद्र कुमार

जीवन-परिचय तथा प्रमुख कृतियाँ—प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों में जैनेंद्रकुमार का विशिष्ट स्थान है। उनका सबसे पहला उपन्यास 'परख' है, जो सन् १९३० में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद उनके 'त्यागपत्र' 'सुनीता', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त' तथा 'व्यतीत आदि उपन्यास प्रकाशित हुए। उनकी लिखी हुई समस्त कहानियाँ 'जैनेंद्र की कहानियाँ' (सात भाग) के अंतर्गत प्रकाशित हुई हैं। इनमें से पहले में राष्ट्रीय और क्रांतिकारी कहानियाँ, दूसरे में बाल-मनोविज्ञान और वात्सल्य की कहानियाँ, तीसरे में दार्शनिक और प्रतीकात्मक कहानियाँ, चौथे में प्रेम और विवाह संबंधी कहानियाँ, पाँचवें में प्रेम के विविध रूपों की कहानियाँ, छठे में विविध सामाजिक कहानियाँ और सातवें में अन्य महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं।

मनोविश्लेषण को आधार बनाकर उपन्यास-रचना करनेवाले प्रेमचंदोत्तर उपन्यासकारों में जैनेन्द्रकुमार का अपना स्थान है। उनके उपन्यासों में घटनाओं के संगठन पर बहुत कम बल दिया गया मिलता है। वह बड़े कौशल से अपने पात्रों की सामान्य गतियों में सूक्ष्म संकेतों की निहिति की खोज करते हैं। ये संकेत मनोविज्ञान और दर्शन का आश्रय पाकर विकास को प्राप्त होते हैं। यहाँ जैनेंद्रकुमार के प्रमुख उपन्यासों के आधार पर उनकी कृतियों में कथा-शिल्प के निर्धारित रूपों की ओर संकेत किया जायगा। साथ ही, विविध मनोविश्लेषणात्मक वृत्तियों को प्रमुखता देकर चलने वाले जो अन्य उपन्यासकार इनकी परम्परा में आते हैं, उनका भी उल्लेख उनकी औपन्यासिक कृतियों में कथा-शिल्प के रूपों की प्रयोगात्मकता की दृष्टि से यहाँ किया जायगा।

जैनेन्द्रकुमार का सर्वप्रथम उपन्यास 'परख' है। शिल्प की दृष्टि से इसकी सर्वप्रथम उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें एक ही मुख्य कथा है और उपन्यास में उसकी ही प्रधानता है। जो प्रधान पात्र इसमें आते हैं, वे इसी मुख्य कथा से सीधा सम्बन्ध रखते हैं और उससे प्रभावित या अप्रभावित होते हैं। इस प्रकार इसमें प्रासंगिक कथाओं और उससे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं की पूर्ण रूप से उपेक्षा की गयी है। इस दृष्टि से इस उपन्यास को देखने पर यह भ्रम सम्भाव्य है कि इसमें किसी असामान्य शिल्प-रूप के ढाँचे पर कथानक का निर्माण किया गया है। परंतु यह सत्य नहीं है। बल्कि हुआ यह है कि सारी कथा एक अस्वाभाविक, अमनोवैज्ञानिक, नाटकीय और चमत्कारपूर्ण ढंग से चलती हुई एक भ्रम बनकर रह गयी है। सामान्य रूप से इसमें जहाँ-जहाँ भी जो मोड़ आये हैं, उनमें कोई चरित्रगत कारण नहीं दिखायी देता। किसी भी साधारण अथवा असाधारण परिस्थिति में उपन्यास के किसी भी पात्र की प्रतिक्रिया वैसी नहीं होती, जैसी कि उसकी अपनी चरित्रगत विशेषताओं के कारण वहाँ पर होनी चाहिए थी। कथानक के इन दोषों का ही यह परिणाम हुआ है कि कोई भी चरित्र सशक्त रूप में नहीं उभरा है और कोई भी घटना अविस्मरणीय रूप से पाठकों के मन पर नहीं छा पायी है। व्यर्थ ही बीच-बीच में बिहारी और कट्टो जो भावना-प्रधान वक्तव्य देते हैं, वे भावुक हृदयों के उद्‌गार हैं, जो व्यावहारिकता से कहीं दूर हैं। सत्यधन का चरित्र भी एक पहेली बनकर रह गया है। कट्टो एक सरल ग्रामीण विधवा बाला के रूप में प्रारंभ में सामने आती है। परन्तु वह एक घेरे में अस्वाभाविक रूप से घूमती रह जाती है। कथानक जिस समस्या से सीधा सम्बन्ध रखता है, वह है विधवा-विवाह की समस्या। अवश्य यह एक ऐसी समस्या है, जो भारतेंदुयुगीन उपन्यासों की प्रवृत्तिगत विशेषता कही जा सकती है। इसे नये शिल्प-रूप में जितने प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता था, वैसे ढंग से नहीं किया जा सका। फल यह हुआ है कि उपन्यास का कथानक एक पहेली सा लगता है और शिल्प-गत विशेषताओं के बावजूद एक निर्जीव, अव्यावहारिक और भावना-प्रधान कथा बनकर रह गया है।

श्री जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों में 'सुनीता' सर्वश्रेष्ठ है। उनकी उपन्यास-कला का प्रौढ़तम रूप इसी में मिलता है। इस उपन्यास की 'प्रस्तावना' में लेखक ने बताया कि वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप में कथा का कोई पात्र नहीं है, बल्कि विविध पात्रों के माध्यम से उनका व्यक्तित्व समावेशित हुआ है—'..........पाठक पुस्तक

में मुझे मुश्किल से पायगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द में नहीं हूँ। लेकिन पुस्तक के जिन पात्रों के माध्यम से मैं पाठक को प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर उन पात्रों के अनुरूप मेरा रूप विकृत हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओट में हो जाता हूँ……सृष्टि स्रष्टा को छिपाये है। मुझे भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा मानें; पर सृष्टि सृष्टा को ही व्यक्त करती है, और यह पुस्तक मुझे व्यक्त करने को बनी है। फिर भी सृष्टि ही तो दीखती है, सृष्टा कहाँ दीखता है ?……पर सिरजनहार के समान निष्पृह मैं कहाँ ? यद्यपि इस पुस्तक के नाना पात्रों में मैं ही बोल रहा हूँ तो भी पाठक के हृदय को सीधा पाने की इच्छा जी में रह ही जाती है। पुस्तक में रमे हुए मुझको पाठक जैसे चाहें, समझें। किसी पात्र में मैं अनुपस्थिति नहीं हूँ, और हर एक पात्र हर दूसरे से भिन्न है। उनकी सब बातें मेरी बातें हैं। फिर भी कोई बात मेरी बात नहीं है; क्योंकि मेरी कहाँ, वे तो उनकी हैं।"[१]

यहाँ 'सुनीता' के साहित्यिक महत्व की चर्चा न करके उसकी शिल्प-विशेषताओं की ओर ही संकेत करना उपयुक्त होगा। इस उपन्यास में तीन पात्रों—सुनीता, हरिप्रसन्न तथा श्रीकान्त—की प्रधानता है। कथा का आधार इन्हीं तीन पात्रों के त्रिकोणात्मक चरित्र की पृष्ठभूमि है। कथा के विकास के साथ ही साथ दार्शनिक तत्वों का समावेश और उनका आग्रह भी क्रमशः बढ़ता गया है। कुछ स्थलों पर वातावरण की प्रधानता होने के उसके चित्रण का महत्व बढ़ गया है। 'सुनीता' में अंतःसंघर्ष को प्रमुखता दी गयी है। यही कारण है कि न केवल यह उपन्यास घटना-प्रधान नहीं है, बल्कि इसमें घटनाओं का अभाव भी है। पात्रों का व्यक्तित्व विशिष्ट तत्वों का आधार लेकर विकसित होता है, और वे ही कथा-विकास के भी आधार हैं। संक्षेप में, ये ही इस उपन्यास की कथा-शिल्प विषयक विशेषताएँ हैं।

'त्यागपत्र' जैनेन्द्रकुमार का सर्वप्रमुख लघु उपन्यास है। यह एक उत्कृष्ट कृति होने के साथ ही साथ शिल्प के नवीन प्रयोग की सफलता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इस उपन्यास में स्थान-स्थान पर जीवन की मार्मिक, सहज,

१. 'सुनीता' (श्री जैनेन्द्रकुमार), 'प्रस्तावना', पृष्ठ ३।

तीव्र अनुभूतियों की गहरी अभिव्यक्ति मिलती है। इस उपन्यास में कई व्यापक सामाजिक प्रश्नों को उठाया गया है। उपन्यास की प्रमुख पात्री—प्रमोद की बुआ मृणाल—पाठक के सामने एक प्रभावशाली व्यक्तित्व लेकर आती है। उसकी अपनी हीनताओं के बावजूद पाठक उसका सम्मान करता है। शैली की नवीनता ही इस उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता है। आरम्भ में ही उपन्यास की कथा का नायक प्रम द वृद्धावस्था में अपने विगत जीवन के कुछ कार्यों पर पश्चात्ताप करता दिखायी देता है। यद्यपि यह सत्य है कि वह जीवन में अनेक सफलताएँ प्राप्त कर चुका है और उन्हीं की बदौलत एक जज के प्रतिष्ठित पद पर पहुँचा है, लेकिन साथ ही वह यह भी अब अनुभव कर रहा है कि उसके जीवन में कुछ असफलताएँ भी रही हैं। उसे अपनी बुआ की मृत्यु पर शोक होता है। वह अकेले में उन्हीं के लिए चार आँसू बहाता है। वह यह भली भाँति जानता है कि यद्यपि समाज की आँखों में उसकी बुआ एक पतित स्त्री थीं और उनके सम्बन्धित होने की बात भी आज उसके लिए अपमान का कारण बन सकती है, भले ही वह अपने चारों ओर प्रतिष्ठा की बड़ी-बड़ी मजबूत दीवारें खड़ी कर चुका था। वह यह भी जानता है कि कोई अपवाद इन्हें पार कर शायद ही उसके पास तक आ सके। परन्तु अब उसे अपने आप पर क्रोध आता है। वह सोचता है कि ऐसा क्यों हुआ? उसकी बुआ की माँग उससे क्यों नहीं पूरी हुई? उनके अपार प्रेम और विश्वास के बदले में उसने अपना सब धन क्यों नहीं बहा डाला? क्यों उसकी मुट्ठी भिंच गयी? और यदि ऐसा हुआ भी, त। उसके बाद उसकी आत्मा ताप से सन्तप्त क्यों नहीं हुई? आज इन सब प्रश्नों के उत्तर में वह कहता है कि वह क्षुद्र था। वह वकालत में आँख गड़ा कर खुद फूलने में लगा रहा। वह यह मानता रहा कि वह ठीक रास्ते पर है। वह कर्तव्य को दबाता रहा और अकर्तव्य को करता रहा। क्यों? क्योंकि वह बुद्धिमान था, मूर्ख नहीं; वह तोल-तोलकर चला और तराजू अपने हाथ में रखी। आज उसका हृदय पीड़ित है, क्योंकि जो असली तराजू है उसमें वह हल्का तुला रहा है। वह इस बात के लिए पछता रहा है कि अपने धन और प्रतिष्ठा की प्राप्ति के साथ क्यों वह थोड़ा सा मूर्ख नहीं बन सका। यह सब कुछ निस्सार है, क्योंकि वह समय पर प्रेम के प्रतिदान से चूक गया। आज उसे मालूम हो रहा है कि जो कुछ उसने बटोरा है, वह मैल है और उसकी आत्मा की ज्योति को ढक रहा है, जो वह नहीं चाहता। इस सबके पश्चात्ताप-स्वरूप वह जजी से त्यागपत्र दे देता है।

श्री जैनेन्द्रकुमार का 'कल्याणी' नामक उपन्यास आत्म-कथात्मक शैली में लिखा गया है। इस शैली में जो उपन्यास लिखे जाते हैं, उनमें कथा के प्रमुख पात्र की ओर से ही उसका संपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु इस उपन्यास की विशेषता यह है कि आत्म-कथात्मक शैली में प्रस्तुत किये जाने पर भी कथा कहने वाला व्यक्ति उपन्यास का प्रमुख पात्र नहीं है। इस उपन्यास में प्रारंभ से अंत तक श्री और श्रीमती असरानी की कथा चलती है, जो दोनों डाक्टर हैं। श्रीमती असरानी का नाम कल्याणी है, जिनके नाम पर हो उपन्यास का भी नामकरण हुआ है। कथाकार ने अपने परिचय कुछ लोगों की जीवन-कथा के रूप में यह कहानी कही है। चूँकि कथाकार स्वयं कथा में प्रधानता नहीं रखता, अतः कथानक के बीच-बीच में कुछ अंश ऐसे आ गये हैं, जो उसके प्रवाह की गति भंग कर देते हैं। यह उपन्यास आत्म-कथात्मक शैली में लिखी गयी विशिष्ट कृतियों में है।

जैनेन्द्रकुमार लिखित 'सुखदा' का कथानक घटनाओं के वैविध्य-बोझ से आक्रान्त है। कथा का व्यावहारिक आरम्भ प्रधान पात्री सुखदा के अपनी कहानी लिखने से होता है। वह एक विचित्र स्थिति में अपने जीवन की गाड़ी को किसी प्रकार आगे ढकेलती सी प्रतीत होती है। कथा के सूत्र फैलते हैं। पता यह लगता है कि वह एक धनी घराने लड़की है, जिसका विवाह भी हो चुका है। परन्तु किन्हीं वैचारिक असमानताओं के कारण पति-पत्नी में मदभेद हो जाता है, यहाँ तक प्रधान सूत्र ही चलता है और उसमें कोई तनाव नहीं प्रतीत होता। प्रासंगिक रूप से यह भी पता चलता है कि सुखदा के एक पुत्र जन्म लेता है। परन्तु कथा में उस समय से खिंचाव उत्पन्न होता है, जब एक युवक वहाँ नौकरी करने आता है। सुखदा को उसके क्रान्तिकारी होने का सन्देह होता है। एक दिन वह एकाएक चला जाता है और फिर पता चलता है कि वह गिरफ्तार कर लिया गया है। यह घटना बहुत महत्व की नहीं है, परन्तु कथा में मोड़ आने की दृष्टि से यह बात महत्वपूर्ण है कि स्वयं सुखदा भी क्रान्ति-क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाती है। हरीश के चरित्र को आधार बनाकर एक नये सहायक कथा-सूत्र का जन्म होता है और सुखदा उसके सम्पर्क में आती है। इसके बाद कहानी में कोई स्वाभाविक विकास-गति नहीं लक्षित होती। हरीश और लाल आदि पात्र नाटकीय ढंग से विविध कार्य करते हैं और नाटकीयता से ही पूर्ण अभिनय भी। अन्त में सुखदा लाल की ओर आकर्षित होती है और अनेक नाटकीय मोड़ों के बाद वह पति को

त्यागकर अस्पताल में जाकर भरती हो जाती है। कथा के नाटकीय मोड़ों ने इसे सर्वथा महत्वहीन कृति बना दिया है। कुछ विषय अप्रासंगिक भी हैं। उदाहरण के लिए विनोद को पढ़ाई के लिए नैनीताल भेजने को बात। इनसे कथा अशक्त हुई है।

श्री जैनेन्द्रकुमार के 'विवर्त' नामक उपन्यास के कथानक का केन्द्र जितेन है। उसकी सामान्य पारिवारिक स्थिति से कथा का व्यावहारिक आरम्भ होता है। उसकी असाधारण प्रसिद्धि आदि बताकर लेखक कथा-विकास के भावी मार्ग खोलता है। भुवनमोहिनी के चरित्र को आधार बनाकर प्रधान कथा का प्रथम सहायक सूत्र सामने आता है। उसके धनवान होने से सम्बन्ध रखनेवाले प्रसंग इसी सूत्र के अन्तर्गत आते हैं। अब ये दोनों सूत्र संयुक्त रूप में आगे बढ़ते हैं, जब भुवनमोहिनी और जितेन के विवाह की बात उठती है। भुवनमोहिनी के यह विवाह-सम्बन्ध स्वीकार न करने पर यह सूत्र यहीं समाप्त हो जाता है और उसका विवाह नरेशचन्द्र से हो जाता है। कुछ समय के लिए यहाँ आकर कथा रुक-सी जाती है। इसमें फिर विस्तार की सम्भावना तब होती है, जब चार वर्ष बाद जितेन वहाँ भागकर आता है और शरण लेता है। स्वस्थ हो जाने पर जब वह भागता है तब भुवनमोहिनी के गहने आदि भी चुराकर ले जाता है। कथा की स्वाभाविकता यहीं से समाप्त हो जाती है। अब उसमें नाटकीय तत्वों का समावेश एक के बाद एक करके होने लगता है। भुवनमोहिनी को दल वाले पकड़ ले जाते हैं। जितेन पुलिस को समर्पण कर देता है। भुवनमोहिनी के ऊपर दल का भार आ जाता है। इन्हीं नाटकीय परिस्थितियों के जाल में ही कथा नाचती रह जाती है और उसकी समाप्ति होती है।

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में कथा का विकास त्रिकोणात्मक सूत्र के आधार पर होता है। एक प्रधान पात्र और एक प्रधान पात्री को लेकर जो मुख्य कथा-सूत्र के विकसित होने की परिपाटी है, वह जैनेन्द्र के उपन्यासों में नहीं मिलती। उनके उपन्यासों में एक प्रधान पात्र और एक प्रधान पात्री के अतिरिक्त एक तीसरा पात्र और भी होता है, जिसका मुख्य कथा में उतना ही योग रहता है, जितना नायक या नायिका का। यही कारण है उसका खिंचाव तीन ओर से रहता है और इस त्रिकोण के केन्द्र-बिन्दुओं के पारस्परिक संघर्ष से कथा को विकास की दिशाएँ मिलती हैं।

जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों की शिल्प विषयक विशेषताओं को साधारणत: दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक तो उनके उपन्यासों की सामान्य शिल्पगत विशेषताएँ और दूसरे, उनके उपन्यासों की असामान्य शिल्पगत विशेषताएँ। ऊपर जिस त्रिकोणात्मक संघर्ष के फलस्वरूप होनेवाले विकास की चर्चा की गयी है, वह उनके उपन्यासों की एक सामान्य शिल्पगत विशेषता है। यह सामान्य शिल्पगत विशेषता उनके अधिकांश उपन्यासों में देखी जा सकती है। परंतु जो असमान्य शिल्पगत विशेषताएँ हैं, वे उनके एकाध उपन्यासों में ही मिलती हैं। उदाहरण के लिए उनके 'त्यागपत्र' नामक उपन्यास में जो शिल्प-रूप मिलते हैं, प्रभावात्मकता की दृष्टि से वैसे और किसी उपन्यास में नहीं। यह उनका सर्वप्रमुख लघु उपन्यास है, जो एक उत्कृष्ट कृति होने के साथ ही शिल्प के नवीन प्रयोग की सफलता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। वास्तव में शैली की नवीनता ही इस उपन्यास की सबसे बड़ी सफलता है। इसमें आत्मकथात्मक शैली में एक ऐसे वृद्ध की कथा कही गयी है, जो पश्चात्ताप की अग्नि में जल रहा है। इस प्रकार कथा के अंतिम भाग को उपन्यास के आरम्भ में प्रस्तुत किया गया है, जो कालगत विशेषताओं की दृष्टि से हिंदी उपन्यास में एक युगीन अभिनव प्रयोग था। इस सामान्य अंतिम कथांश को प्रारम्भ में प्रस्तुत करने के पश्चात् फिर वास्तविक कथा का आरम्भ हुआ है। कथा की समाप्ति पर अंतिम भाग फिर प्रारम्भिक कथा-भाग से अंतर्सम्बंधित किया गया है। शिल्प की दृष्टि से यह प्रयोग हिंदी उपन्यास का एक नया कदम कहा जायगा, क्योंकि परवर्ती उपन्यासकारों ने इस शिल्प-रूप को आधार बनाकर अनेक महत्व उपन्यासों की रचना की।

संक्षेप में, जैनेन्द्र जी का नाम आधुनिक मनोविश्लेषक उपन्यासकारों में प्रमुख है। इस दृष्टि से उनके साथ जिन दो अन्य उपन्यासकारों के नाम आते हैं, वे हैं श्री भगवतीचरण वर्मा तथा श्री इलाचन्द्र जोशी। श्री भगवतीचरण वर्मा के चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' तथा 'आखिरी दाँव'। इनमें से चित्रलेखा को छोड़कर सब सामाजिक हैं। इनके उपन्यासों की प्रमुख विशेषता उनकी तार्किक शैली है। उसमें विश्लेषण की प्रधानता है, जिसमें रूढ़िवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध नवीन मूल्यों की स्थापना का प्रयत्न होता है। यों ये तर्क निर्णयात्मक ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं, जैसा कि उन्होंने

स्वयं एक स्थान पर लिखा है—'जो कुछ मैं लिखता हूँ, तर्क करने को नहीं लिखता। मैं तो अपने उन निर्णयों को पेश करता हूँ जिन पर मैं अपने उन तर्कों द्वारा पहुँचा हूँ, जो अनुभवों और अनुभूतियों पर अवलंबित है। बहुत संभव है जो बातें आज मैं कह रहा हूँ वे आगे चलकर मेरे भावी अनुभवों की कसौटी पर गलत हों और मुझे स्वयं अपने इन निर्णयों को बदलना पड़े। पर उसके ये अर्थ नहीं कि मैं निर्णय करना ही छोड़ दूँ। मुझे अपने जीवन के लिए कुछ आदर्श तो चाहिए ही।'[1]

'चित्रलेखा' भगवतीचरण वर्मा का सर्वप्रथम समस्या-प्रधान उपन्यास है, जिसकी प्रधान समस्या है नैतिक मूल्यों का निर्धारण। कथा का अपना ऐतिहासिक आधार है और इस दृष्टि से उसके पात्रों की ऐतिहासिकता प्रमाणित है। कथा-आरम्भ के संकेत महाप्रभु रत्नाम्बर तथा उनके दो शिष्यों—श्वेतांक और विशालदेव के पारस्परिक वार्तालाप के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते हैं। दोनों शिष्य अपने गुरु के निर्देश से पाप की खोज में संसार में निकल पड़ते हैं। विशालदेव योगी कुमार गिरि के पास जाता है और श्वेतांक सामंत बीजगुप्त के पास।

इतने पूर्व-कथन के पश्चात् वर्णनात्मक शैली में लिखे गये इस उपन्यास की कथा का व्यावहारिक रूप से प्रारम्भ होता है सामंत बीजगुप्त और नर्तकी चित्रलेखा की विलास-क्रीड़ा से। महाप्रभु रत्नांबर आकर श्वेतांक को यह कहते हुए बीजगुप्त के पास छोड़ जाते हैं कि—'बीजगुप्त! तुमसे सब बातें स्पष्ट रूप से कहूँगा। आज मेरे इस शिष्य ने मुझसे प्रश्न किया कि पाप क्या है? मैं इसका उत्तर देने में असमर्थ हूँ। तुम मेरी सहायता कर सकते हो। तुम मेरे शिष्य रहे हो। मैंने कभी तुमसे कोई गुरु-दक्षिणा नहीं ली। पाप का पता लगाने के लिए ब्रह्मचारी की कुटी उपयुक्त स्थान नहीं है, संसार के भोग-विलास में ही पाप का पता लग सकेगा। तुम्हारा भवन और तुम्हारा समाज—इन चीजों से श्वेतांक को भिज्ञ कराना आवश्यक है। इस कारण मैं इसको तुम्हारे सामने सेवक-रूप में उपस्थित कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम इसे सेवक-रूप में स्वीकार करो, पर एक बात और याद रखना—यह तुम्हारा गुरु-भाई भी हो सकता है।' इसी प्रकार महाप्रभु रत्नांबर

१. 'हमारी उलझन' (श्री भगवतीचरण वर्मा), पृष्ठ ३० ।

विशालदेव को योगी कुमारगिरि के पास छोड़ आते हैं, और उनकी आज्ञा से कुमारगिरि उसे स्वीकार कर लेता है।

इस प्रकार की आधार-भूमि सुचारु रूप से तैयार हो जाती है और कथा-चक्र तीव्रता से घूमने लगता है। अन्त में अनेक प्रकार के चारित्रिक उत्थान-पतन के बाद कथा समाप्त होती है। उपसंहार में दोनों शिष्य फिर महाप्रभु रत्नांबर की सेवा में उपस्थित होते हैं। महाप्रभु के प्रश्न करने पर उत्तर में श्वेतांक कहता है—'महाप्रभु बीजगुप्त देवता हैं। संसार में वे त्याग की प्रतिमूर्ति हैं। उनका हृदय विशाल है। और कुमारगिरि पशु है। वह अपने लिए जीवित है, संसार में उसका जीवन व्यर्थ है। वह जीवन के नियमों के प्रतिकूल चल रहा है। अपने दुख के लिए उसने संसार की बाधाओं से मुख मोड़ लिया है। कुमारगिरि पापी है।'

परन्तु विशालदेव अपने उत्तर में कहता है—'महाप्रभु! योगी कुमारगिरि अजित हैं। उन्होंने ममत्व को वशीभूत कर लिया है, वह संसार से बहुत ऊपर उठ चुके हैं। उनकी साधना, उनका ज्ञान और उनकी शक्ति पूर्ण है। और बीजगुप्त वासना का दास है—उसका जीवन संसार के घृणित भोग-विलास में है। वह पापी है—पापमय संसार का वह एक मुख्य भाग है।'

भगवतीचरण वर्मा कृत 'तीन वर्ष' का कथा-सूत्र प्रधान पात्र रमेश व प्रधान पात्री प्रभा के पारस्परिक प्रेम से प्रारंभ होता है। कथा-सूत्र में उस समय उलझाव आता है जब कुछ ऐसी सम्भावनाएँ दिखायी देती हैं कि इन दोनों में विवाह न हो सकेगा। इसका कारण दोनों की सामाजिक और वर्गगत सीमाएँ हैं। यहाँ कथा में और भी जटिलता आती है, जब स्वयं प्रभा की ओर से ऐसे संकेत मिलते हैं कि वह विवाह के लिए प्रस्तुत नहीं है। यहाँ पर कथानक में प्रासंगिक रूप से प्रेम और विवाह-सम्बन्धी सैद्धांतिक और आदर्शवादी विचारों की अभिव्यक्ति होती है, जिसके कारण उसमें केवल बोझिलता ही आती है। परन्तु यह उलझाव और जटिलता एका-एक अस्वाभाविक रूप में उस समय समाप्त हो जाती है जब दोनों के विवाह की की कोई सम्भावना नहीं रह जाती और दोनों ही यह भली-भाँति समझ लेते हैं। यहाँ पर कथा एक नाटकीय रूप में मोड़ लेती है और उसमें प्रभा के सम्मिलित होने से जो कथात्मक एकता मिलती थी, वह आगे, उसी रूप में, नहीं रहती। इस मोड़ से कथा का जो सूत्र आगे बढ़ता है, वह रमेश और सरोज के परिचय के आधार पर।

नाटकीयता के समावेश के साथ ही उसकी वृद्धि होती है और सरोज एक वेश्या-पुत्री होकर भी रमेश को आत्मिक सन्तोष प्रदान करने की सामर्थ्य दिखाती है। यह नाटकीयता उस समय सीमा पर पहुँच जाती है, जब सरोज की मृत्यु हो जाती है और उसके महान त्याग की सूचना रमेश को मिलती है। अब धनवान् हो जाने पर एक क्षणिक सूत्र उत्पन्न होता है जब रमेश के प्रभा से विवाह की कुछ सम्भावनाएँ दिखायी देती हैं। परन्तु यह क्षणिक सूत्र प्रारम्भ होते ही समाप्त भी हो जाता है क्योंकि रमेश इस भावना को अब स्वीकार नहीं करता। मूल कथा-सूत्र चूँकि पहले ही समाप्त हो चुका था, अतः आगे की कथा किसी सूत्र के अभाव में पनपने का अवसर ही नहीं पाती और कथा का यहीं अन्त हो जाता है।

'टेढ़े मेढ़े रास्ते' उपन्यास कथानक के विस्तार की दृष्टि से भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में सबसे बड़ा है। परन्तु इस दृष्टि से इस उपन्यास की कथा-वस्तु जहाँ अधिक सुगठित होनी चाहिए थी, वहाँ इसमें अनेक कमियाँ आ गयी हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इस उपन्यास में प्रारम्भ से अन्त तक कथात्मक-एकता का अभाव है। इसका कारण यह है कि इसमें कथानक किसी एक या अधिक सूत्रों को लेकर आगे नहीं बढ़ता है, बल्कि कथानक और पात्रों के वर्गों के अनुसार स्थान-स्थान पर कथा-सूत्र का संचालन उन्हीं के द्वारा होता है। वस्तु-सामग्री आज से लगभग पंद्रह-बीस वर्ष पूर्व के भारत के राजनैतिक-सामाजिक वातावरण पर आधारित है। वातावरण और कथानक की क्षीणता के कारण प्रधान चरित्रों का उपन्यास में प्राधान्य हो गया है। कथा का एक सूत्र उस वर्ग के साथ चलता है जो रूढ़िवादी है। स्वाभाविक रूप से प्रगतिशील वर्ग के साथ संघर्ष को ही वह प्रधानता देता है। कथा का दूसरा सूत्र अपेक्षाकृत कम आयु के पात्रों को लेकर चलता है, जिसका प्रतिनिधित्व विविध राजनैतिक विचार-धाराओं के समर्थक नवयुवक करते हैं। परन्तु इस सूत्र-विभाजन और उसके विस्तार-तत्वों से यह आशय नहीं है कि उसका सीमा-प्रसार वहीं तक है। वास्तव में यह एक स्थूल विभाजन ही है। क्योंकि प्रत्येक विशिष्ट पात्र अपने सिद्धांतगत विचारों को लेकर आगे बढ़ता है और उसके साथ अवश्य ही किसी प्रासंगिक या अन्तर्कथा का आविर्भाव होता है। उदाहरण के लिए रामनाथ तिवारी व विश्वम्भर दयाल एक वर्ग-संगठन में आते हैं और दयानाथ, उमानाथ व प्रभानाथ दूसरे वर्ग-संगठन में। कथात्मक-एकसूत्रता के अतिरिक्त यहाँ पर एक-दो अन्य दोष भी उपन्यास में आ गये हैं। उदाहरण के लिए उपन्यासकार

एक प्रकार का नाटकीय वातावरण उपस्थित करता है। रामनाथ जमींदार वर्ग के हैं और उसका नेतृत्व करते हैं। उनके तीन पुत्र हैं—दयानाथ, उमानाथ व प्रभानाथ। संयोग से तीनों की अपने पिता से नहीं बनती। नाटकीयता की सीमा वहाँ आ जाती है, जहाँ ये तीनों पुत्र क्रमशः काँग्रेसी, साम्यवादी, और क्रांतिकारी दल के उच्च नेता बनते हैं। इस प्रकार यह पिता-पुत्रों के परिवार के व्यक्ति चार विविध संस्थाओं के संचालक बनते हैं, जिनके हित परस्पर टकराते हैं और फलतः संघर्ष की स्थिति आती है। कथानक का अन्त नाटकीय ढंग से होता है और वहाँ पर भी ये बिखरे हुए सूत्र एकता नहीं धारण कर पाते।

भगवतीचरण वर्मा का 'आखिरी दाँव' नामक उपन्यास अपनी कथा में उतना बिखराव नहीं लिये हुए है, जितने उनके अन्य कुछ उपन्यास या विशेषरूप से 'टेढ़े मेढ़े रास्ते।' 'आखिरी दाँव' की कथावस्तु का व्यावहारिक प्रारम्भ रामेश्वर के धन-संचय के प्रयत्नों से होता है। वह चमेली से प्रेम करता है और यह भी समझता है कि धनाभाव में चमेली उसे नहीं प्राप्त हो सकती। चमेली भी उससे प्रेम करती है। इस दृष्टि से कथा प्रारम्भ होते ही दो सूत्रों में बँट जाती है। पहला सूत्र रामेश्वर के साथ प्रासंगिक तत्वों को लेकर आगे बढ़ता है और दूसरा चमेली के साथ। किन्तु कथात्मक विकास की दृष्टि से यहाँ कथानक में कुछ ऐसी जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं कि इन दोनों कथा-सूत्रों के बीच का प्रारंभिक अन्तर क्रमशः बढ़ता जाता है। होता यह है कि जहाँ चमेली को यह लगता कि वह केवल विविध परिस्थितियों के ही कारण रामेश्वर की नहीं हो पा रही है, वहाँ रामेश्वर अपने धन-संचय के मूल उद्देश्य को भुलाकर व्यर्थ की अहं-भावनाओं से ग्रस्त हो जाता है। परन्तु यह दुस्साहस और अहंकार उसे बहुत मँहगा पड़ता है। सूत्र रूप में नाटकीय ढंग से मंगल का प्रवेश कथानक में होता है और अपनी सारी पूँजी रामेश्वर हार जाता है। वह आखिरी दाँव लगाकर वह स्वयं को और स्वयं के साथ चमेली को भी हार जाता है। यहाँ आकर कथा के प्रवाह की सामान्य गति मन्द पड़ जाती है। इसी थोड़े समय में कथा के विविध सूत्र आकर मिलते हैं और अब वे सुदृढ़ रूप में विकास की ओर अग्रसर होते हैं। फलस्वरूप कथानक का अन्त बहुत स्वाभाविक रूप में होता है। रामेश्वर की नैराश्यपूर्ण परिस्थितियाँ उसे आत्मसमर्पण करने को विवश करती है, जो उसे विरक्ति में करना भी पड़ता है। कथानक के इस प्रकार के अन्त-निर्माण में नाटकीयता का योग नहीं है।

श्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों के कथानक सामान्यत: सामाजिक विषयों पर ही आधारित हैं, यद्यपि उनका एक उपन्यास—'चित्रलेखा'—ऐतिहासिक कथानक की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है और कलात्मकता की दृष्टि से वही इनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है। इनके उपन्यासों की प्रथम शिल्प-विशेषता यह है कि इनके कथानक प्राय: तभी अपने विकास का मार्ग खोज पाते हैं, जब उनमें उलझाव-सा आ गया प्रतीत होता है। और ज्यों-ज्यों कथा-सूत्रों में जटिलता आती जाती है, त्यों-त्यों उसके भावी-विकास के मार्ग भी स्पष्ट होने लगते हैं। कहीं-कहीं ऐसा भी दिखायी देता है कि कथानक में एक प्रकार की ऐसी स्थिरता-सी आ जाती है जो उसके आगे के विकास के सभी मार्ग बंद कर देती है। ऐसी स्थिति आने पर कथानक में नाटकीय तत्व समाविष्ट होते हैं और तब वह नाटकीय रूप से मोड़ लेकर आगे बढ़ती है। यह प्रवृत्ति उनके अधिकांश उपन्यासों में लक्षित की जा सकती है। अन्य शिल्प-विशेषताएँ जो उनके उपन्यासों में मिलती हैं, उनमें से कुछ की ओर यहाँ संकेत किया गया है। बहुधा भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों में यह भी देखा जाता है कि कथानक किसी एक प्रधान या किन्हीं सहायक सूत्रों को लेकर आगे नहीं बढ़ता है, बल्कि कथा और चरित्रों के वर्गगत विभाजन के अनुसार ही वह संचालित होता है।

उपर्युक्त परम्परा में पूर्णत: मनोविश्लेषणात्मक भूमि को आधार बनाकर चलनेवाले उपन्यासकारों में इलाचंद्र जोशी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके सभी उपन्यासों में प्राय: मनोविश्लेषण के शास्त्रीय दृष्टिकोण को ही आधार बनाया गया है, जिसके कारण उनकी दृष्टि में न केवल एक प्रकार की विशिष्टता आ गयी है, वरन् प्रत्येक समस्या की जड़ को पहचानने और उसके विश्लेषण की विधि में भी अंतर आ गया है। अपने एक निबंध-संग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा है—'शराबखोरी और वेश्यागामिता के झुकाव का कारण खोजने के लिए वह उपन्यासकार केवल सामाजिक कारणों को ही नहीं खोजेगा बल्कि उसके विकृत अहं के प्रत्येक स्तर को चीर-चीरकर उसके भीतर से ही मूल कारण खोज निकालेगा। वह उनके यथार्थ के भीतरी रूप को अनावृत रूप में जनता के आगे रखकर उनका भण्डाफोड़ करके समाज को उनके खतरे से बचते रहने के लिए सचेत करेगा।'[1]

१. 'विवेचना' (श्री इलाचंद जोशी), पृष्ठ १८० ।

जोशी जी के उपन्यासों की रचना के मूल में पात्रों की अपनी विकृतियों के आधार पर उन्हें विकास देने का उद्देश्य दिखायी पड़ता है। यहाँ उनके विविध उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनमें कथा-शिल्प की विशेषताओं का अध्ययन किया जायगा।

श्री इलाचंद्र जोशी का सर्वप्रथम उपन्यास 'लज्जा' है। इसकी कथा का प्रधान सूत्र लज्जा और डाक्टर के अस्वीकृत प्रेम-व्यापार को लेकर आगे बढ़ता है। कथानक के अन्य समस्त घटना-व्यापार और वैचित्र्य इसी केन्द्र के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। यों लज्जा से संबंध रखनेवाली जितनी भी प्रासंगिक कथाएँ या घटनाएँ हैं, वे भी कथा की अपेक्षा लज्जा के चारित्रिक विकास की दृष्टि से ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। कथा का दूसरा सूत्र राजू के साथ चलता है। किंतु इस सूत्र को एक स्वतंत्र सूत्र न मानकर प्रधान सूत्र का एक उपसूत्र ही मानना अधिक उचित होगा; यद्यपि राजू के चरित्र का विकास पूर्णत: स्वतन्त्र रूप में ही मिलता है। लज्जा डाक्टर से प्रेम करती है, परन्तु अपने भाई राजू के लिए उसके हृदय में एक ऐसा सहज और प्रबल स्नेह-भाव है, जिसकी उपेक्षा करना उसकी शक्ति के बाहर है। और राजू को डाक्टर से अकारण ही घृणा है, जिसे वह अपने हृदय से निकाल नहीं सकता। वह बहुधा उन दोनों के बीच में अचानक ही आ जाता है, ताकि किसी प्रकार उनके सम्बन्धों को समाप्त कर सके। परन्तु उसका इस प्रकार से आकस्मिक रूप से प्रकट होना, स्वयं उसे ही पीड़ा पहुँचाता है। अन्त में यह त्रिकोणात्मक संघर्ष किसी के लिये भी हितकारी नहीं सिद्ध होता। यह बात ध्यान में रखने की है कि चूँकि यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है, अत: प्रधान चरित्र पर ही कथात्मक विकास काफी सीमा तक निर्भर करता है। अन्त में कुछ नाटकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनका आधार मनोविश्लेषणात्मक है। वास्तव में, इस उपन्यास का महत्व भी उसी दृष्टि से अधिक है—शिल्प की दृष्टि से कम।

जोशी जी के उपन्यास 'संन्यासी' कथा के प्रधान पात्र के चरित्र की अति-प्रमुखता के कारण आत्मवक्तव्यात्मक शैली में लिखा गया है। प्रधान पात्र नंदकिशोर के जीवन-विवरण से ही उपन्यास की कथावस्तु का व्यावहारिक दृष्टि से प्रारंभ होता है। कथा के इस प्रथम और प्रारंभिक सूत्र के सहायक सूत्र हैं नंदकिशोर के जीवन के विविध पक्ष और उनकी घटनाएँ। कथा-विकास के हेतु जो दूसरा सूत्र

आता है उसका आधार जयन्ती का चरित्र है। थोड़े समय तक ये दोनों कथा-सूत्र साथ-साथ विकसित होते हैं और यह आशा होती है कि सम्भवतः उपन्यास के कथानक में इन्हीं का प्राधान्य रहेगा और विविध घटनाओं और परिस्थितियों का संयोजन केवल चारित्रिक विकास की दृष्टि से ही किया जायगा। परंतु ऐसा कुछ नहीं होता। होता यह है कि आकस्मिक रूप से कथा का यह सहायक सूत्र समाप्त हो जाता है और कुछ समय को कथानक की विकास-गति में शैथिल्य आ जाता है। किंतु इससे प्रधान कथा सूत्र के विकास में कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि एक दूसरा सहायक सूत्र उसी समय उपजता है। रूप-प्रकार की दृष्टि से इस दूसरे और पहले सहायक सूत्र में कोई अन्तर नहीं है। अगर किसी सीमा तक कोई भेद है तो वह यह कि प्रथम सहायक सूत्र जयन्ती को आधार बनाकर आगे बढ़ा था और यह शांति को आधार बनाकर आगे बढ़ता है। परंतु यह साम्य इन सहायक सूत्रों के प्रारंभिक रूपों में ही है, क्योंकि बाद में यह द्वितीय सूत्र कथा को काफी आगे तक बढ़ाने में समर्थ होता है। साथ ही इसमें विविध प्रासंगिक विषय भी समावेशित हो जाते हैं। घटना-चक्र के प्रभावस्वरूप एक विद्यालय की अध्यापिका शांति और नंदकिशोर, दोनों प्रयाग आ आते हैं और पति-पत्नी के रूप में रहने लगते हैं। यहाँ से नंदकिशोर के मित्र बलदेव को लेकर एक नया सूत्र आता है। बलदेव मध्यवर्गीय सामाजिक युवक-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ व्यर्थ ही ये सूत्र परस्पर टकरा जाते हैं और नाटकीयता आभासित होने लगती है। नंदकिशोर का भाई प्रयाग आता है और शांति को समझाता है। कथा के इस मोड़ पर शांति वहाँ से चल देती है। अब प्रथम सहायक कथा-सूत्र एकाएक आता है और जयन्ती से नन्दकिशोर का विवाह हो जाता है। परंतु अब कैलाश को लेकर व्यर्थ नंदकिशोर संदेह करता है। फलतः जयन्ती प्रताड़ित होती है और आत्म-हत्या कर लेती है। इस प्रकार से इस कथा की आकस्मिक रूप से समाप्ति होती है।

'पर्दे की रानी' नामक उपन्यास का प्रधान कथा-सूत्र प्रधान पात्री निरंजना में केन्द्रित रहता है। केन्द्र-विंदु का झुकाव कई अन्य दिशाओं में होता है, जिनमें से प्रत्येक के द्वारा एक नवीन सूत्र जन्म लेता है। इस उपन्यास में भी चरित्र-प्रधान उपन्यासों की भाँति कथानक का स्थान पूर्ण रूप से महत्व रहित नहीं है। यह इस उपन्यास की प्रमुख शिल्प-विशेषता कही जा सकती है। कथानक की एक

सूत्रात्मकता का भी निर्वाह इस कृति में हुआ है। व्यावहारिक रूप से कथा का प्रारंभ होता है निरंजना के जीवन की अहं-ग्रस्तता से। स्थूल रूप से कथा का प्रधान सूत्र जिन अन्य सहायक व प्रासंगिक सूत्रों की सहायता से विकास को प्राप्त होता है, उनमें प्रथम इन्द्रमोहन से संबंधित कहा जा सकता है। इससे भिन्न सूत्र शीला को आधार बनाकर चलता है और प्रासंगिक रूप से इन्द्रमोहन वाला सूत्र भी कभी-कभी इसके साथ मिल जाता है। इसका अंत शीला की हत्या द्वारा होता है, क्योंकि वहीं यह सूत्र समाप्त हो जाता है, इसके बाद कथा के प्रधान सूत्र के साथ प्रथम सहायक सूत्र कुछ समय तक साथ रहता है जब वह निरंजना का कौमार्य खंडित करने के बाद स्वयं भी नाटकीय ढंग से आत्म-घात कर लेता है। यहाँ से यह कथा सूत्र फिर आगे कभी नहीं आता। एक उप-कथा-सूत्र मनमोहन को आधार बनाकर भी चलता है। कथानक में इसका कोई विशेष महत्व न होते हुए भी चारित्रिक विकास भी दृष्टि से यह अत्यन्त महत्व रखता है। कथा का अंतिम सूत्र एक उप-सूत्र है जो निरंजना के गुरु जी चरित्र पर आधारित है। यह उप-सूत्र न केवल कथा को समाप्ति तक पहुँचा देता है, वरन् उसे एक महत्वपूर्ण मोड़ पर पहुँचाकर शांतिपूर्ण जीवन का संदेश भी देता है। इसी कारण उप-कथा-सूत्रों में इसका महत्व-सर्वाधिक है।

'प्रेत और छाया' के कथानक का केन्द्र-विंदु है उपन्यास का प्रधान पात्र पारसनाथ। स्थूल रूप से उसी के साथ कथा का प्रथम सूत्र उपजता है। उसनें मोड़ तब उपस्थित होता है जब उसे अपने एक जारज संतान होने का रहस्य ज्ञात होता है और उसके मस्तिष्क में उथल-पुथल मचती है। उसके साथ-साथ कथा का यह मुड़ा हुआ सूत्र भी इधर-उधर भटकता है। उसमें स्थिरता तब आती है, जब उसे यह अनुभव होता है कि इस प्रकार वह स्वयं से या जीवन से भाग नहीं सकता। यहाँ पर कथानक में कुछ शिथिलता-सी आ जाती है। उसकी गति में तीव्रता तब आती है, जब वह यह निर्णय कर लेता है कि वह स्वयं सामाजिक नतिकता पर प्रहार करने से विमुख न होगा। इस प्रकार उसकी प्रतिहिंसा के फलस्वरूप कथा का दूसरा सूत्र आरंभ होता है, जब मंजरी का प्रवेश कथानक में होता है। मंजरी से संपर्क स्थापित करने के बाद वह अपने आप में कुछ परिवर्तन का अनुभव करने लगता है, परन्तु उसके गर्भवती हो जाने पर एकाएक उसे परिस्थितियों का बोध होता है और वह उसका परित्याग कर देता है। इस कथा-सूत्र का अन्त यहीं हो

जाता है। अब तीसरा सूत्र आता है नंदिनी के चरित्र का आधार लेकर। वह नंदिनी को भगाना चाहता है, जो वेश्या थी, परन्तु इसमें सफल नहीं होता। फलत: उसके लिए उसमें घृणा की भावना उत्पन्न होती है और इसके साथ ही एक प्रकार से यह सूत्र भी समाप्त हो जाता है। चौथे सूत्र का कथानक में समावेश होता है नन्दिनी की बहिन हीरा के द्वारा। वह हीरा को नन्दिनी से अलग करने का प्रयत्न करता है; परन्तु जब तक वह ऐसा करने में सफलता प्राप्त करे, एकाएक नाटकीय रूप से अपने पिता से उसका साक्षात्कार होता है। अब नाटकीयता अपनी सीमा को आती है, जब उसे मालूम होता है कि वह जारज सन्तान नहीं है। यह नाटकीय पक्ष उपन्यास के शिल्प-पक्ष को दुर्बल कर देता है। परन्तु जहाँ तक कथानक के अंत का संबंध है इसी के परिणामस्वरूप हीरा के साथ पारसनाथ के विवाह के साथ कथा समाप्त होती है। यही इस नाटकीय शिल्प-पक्ष के समावेश की सार्थकता है।

'निर्वासित' उपन्यास का नायक महीप है। वह एक कवि है। कथा का व्यावहारिक आरम्भ उसकी सुकुमार भावनाओं और उनसे पूर्ण जीवन से ही होता है। लेखक हास्यात्मक ढंग से यह बताता है कि किस प्रकार उसे केवल अपने रूप-आकार के कारण विविध परिस्थितियों में असन्तोष का अनुभव करना पड़ता है। कथा-विस्तार और वैविध्य का आधार उसकी विभिन्न क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाएँ हैं। उसको लेकर चलने वाली इस प्रधान कथा का प्रथम सहायक सूत्र है नीलिमा के चरित्र पर आधारित। वह उसके सम्पर्क में आती है और उससे किसी सीमा तक सन्तोष भी महीप को मिलता है, विशेष रूप से उसकी काव्य-साधना के विषय में। बाद में कथा-विस्तार के उद्देश्य से इसी ढंग से दो और सहायक सूत्र आते हैं, एक सुषमा को तथा दूसरा रमा को लेकर। किन्तु अन्तत: ये दोनों उसके चारित्रिक विकास में कोई योग नहीं दे पाते। कथानक में जटिलता तब आती है जब महीप और ठाकुर साहब के रूप में दो सूत्र परस्पर टकराते हैं। सामान्य रूप से इस संघर्ष में नीलिमा के चरित्र को आधार बनाकर चलनेवाला सूत्र भी भाग लेता है और इस कथात्मक संघर्ष को त्रिकोणात्मक रूप देता है। परंतु यहाँ से प्रधान सूत्र कुछ क्षीण-सा होने लगता है क्योंकि इस त्रिकोणात्मक संघर्ष में ठाकुर साहब की ही विजय होती है, जो एक विशिष्ट सामाजिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। परंतु एक और सूत्र-संचालन होता है। वह है शारदा देवी का अप्रत्यक्ष रूप से कथात्मक विकास में योग-दान; यद्यपि त्रिकोणात्मक संघर्ष के अंत के बाद यह सन्देह हो

सकता है कि इसी क्रम में कथा का अंत हो जायगा, परंतु यह केवल भ्रम सिद्ध होता है। कथा का सूत्र अब और भी वेग से प्रवाहित होता है। अन्तर इतना अवश्य होता है कि उसकी दिशा में परिवर्तन हो जाता है। दोनों पूर्व सूत्रों में संयोग होता है अब महीप शारदा देवी के प्रेरित करने पर एक क्रान्तिकारी दल बनाता है। यहाँ पर उसकी नीलिमा के प्रति आसक्ति कम हो जाती है और मानो कोई लक्ष्य आगे न होने पर कथा समाप्त हो जाती है।

इलाचंद्र जोशी के जिन उपन्यासों पर अब तक विचार किया गया है, उनके कथानक मनोविश्लेषण का आधार लेकर चले हैं। यह भी सत्य है कि उनमें अप्रत्यक्ष रूप से किन्हीं मत-वादों का पोषण भी लक्षित हो सकता है, परंतु जहाँ तक किसी विचार-धारा के समर्थन का सम्बन्ध है, वह उनमें नहीं है। इस दृष्टि से 'मुक्तिपथ' के कथानक में पर्याप्त नवीनता खोजी जा सकती है। इस उपन्यास का कथानक-केन्द्र राजीव है, जो एक शिक्षित परंतु बेकार नवयुवक है। कथा का व्यावहारिक आरम्भ इसी समस्या को लेकर होता है, क्योंकि वह राजनैतिक अपराधी होकर जेल काटने के पश्चात् जीवनारम्भ कर रहा है। कथा के सूत्र यहीं से विभाजित होने लगते हैं और उनमें से एक को प्रासंगिक रूप से उस परिवार का आधार कहा जा सकता है। परंतु इसमें तब खिंचाव उत्पन्न हो जाता है, जब सुनन्दा का प्रवेश कथा में होता है और वह राजीव के साथ सहानुभूति भी प्रकट करती देखी जाती है। यह सूत्र कथा-विस्तार में सहायक होता है, परंतु उसे जटिल बनाने में नहीं। जटिलता का समावेश कथानक में तब होता है, जब वह सुनन्दा को लेकर दूसरे स्थान पर जाकर नया जीवन आरम्भ करता है। वह सुधारवादी दृष्टिकोण से एक योजना बनाता और उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह जटिलता जो कथानक में कुछ समय पूर्व समाविष्ट हो गयी थी, अब नहीं रह जाती। कदाचित् इसीलिए उपन्यासकार सुनन्दा की भावनाओं में ऐसा परिवर्तन दिखाता है कि वह राजीव को छोड़कर चल देती है। इस प्रकार एक पूर्व-निश्चित योजनानुसार, परन्तु किसी सीमा तक नाटकीयता के साथ, इस कथा की समाप्ति होती है।

इलाचंद्र जोशी लिखित 'जिप्सी' का कथानक व्यावहारिक रूप से मनिया नामक उपन्यास की प्रधान पात्री के जीवन को लेकर आरंभ होता है। रंजन उसके जीवन में प्रवेश करता है और इस प्रकार स्थिर कथा को आगे गति मिलती है।

मनिया के माता-पिता का जीवन और उसकी विडम्बना का वर्णन उपन्यासकार ने प्रासंगिक रूप से किया है, यद्यपि उसका सम्बन्ध मनिया के सन्तोष और रंजन की पीड़ा से जोड़ा जा सकता है। कथा फिर एक मोड़ लेती है और मनिया की शर्त के अनुसार रंजन के ईसाई धर्म के स्वीकार कर लेने पर दोनों का विवाह हो जाता है। मनिया को ईसाई धर्म में कैसे श्रद्धा हो गयी, यह भी प्रासंगिक घटनाओं की सहायता से लेखक ने स्पष्ट किया है। मनिया और रंजन के स्वभावगत विरोधाभास के दो छोरों से अटकता-अटकता कथानक आगे बढ़ता है। मनिया गर्भवती होती है और दोनों कलकत्ते चले जाते हैं। वहाँ नाटकीय रूप से रंजन की भेंट अपने पूर्व-मित्र वीरेन्द्र से होती है और वे उसी के यहाँ ठहरते हैं। शीघ्र ही नाटकीय रूप से रंजन वीरेन्द्र की पत्नी शोभना की ओर आकर्षित होता है। फिर नाटकीय रूप से ही मनिया का मुँह तेजाब से खराब होता है। उसका शिशु भी मृत्यु को प्राप्त होता है। वह रंजन का चारित्रिक पतन देखकर एक धर्म-संस्था में सम्मिलित होकर प्लास्टिक-शल्य-चिकित्सा से अपना चेहरा पहले जैसा करा लेती है। इधर वीरेन्द्र की हत्या हो जाती है। अकाल फैलने पर रंजन शोभना आदि को बाहर भेजकर नयी नर्स मनिया की ओर आकर्षित होता है। अन्त में भेद खुलता है। मनिया वापस सेवा-कार्य करने चली जाती है और रंजन अपना नया जीवन आरम्भ करने के लिए अपने आपको तैयार करता है। इस प्रकार प्रारम्भ और अंत तक की सारी घटनाएँ किसी नाटकीय कथा-सूत्र द्वारा संचालित होती लगती हैं।

कथानक की दृष्टि से जोशी जी लिखित 'जहाज का पंछी' नामक उपन्यास उनके अन्य उपन्यासों से भिन्न कोटि का है। इसकी वस्तु - सामग्री का आधार न केवल कोई एक वर्ग है और न कथा का क्षेत्र कोई एक नगर या प्रदेश। कथावस्तु का व्यावहारिक आरम्भ एक शिक्षित नवयुवक के कलकत्ता महानगरी में भटकने और आश्रय की खोज करने से ही मानना चाहिए। उपन्यास का नामकरण प्रतीक रूप में हुआ है, क्योंकि नायक बराबर इधर-उधर भटकता हुआ किसी-किसी स्थान पर सुस्ता लेता है (जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पै आवै—सूरदास)। कथा का सूत्र उसकी इसी खेदजनक स्थिति से आरम्भ होकर उसके साथ जेल में जाता है। यहाँ प्रासंगिक रूप से उसके मुकदमे की चर्चा ली जा सकती है। यहाँ से कथानक मुड़ता है और नायक को एक पहलवान के यहाँ कुछ समय तक रहना पड़ता है। प्रधान कथा के इस सूत्र में कुछ उप-सूत्र भी हैं, जिनके

अन्तर्गत प्रसंग रूप से पहलवान के निवासस्थान से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ घटनाएँ आती हैं। इनमें करीम चाचा से पाक-कला सीखने का प्रासंगिक वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि वह कथा-सूत्र के भावी विकास-क्रम में भी योग देते हैं। परन्तु तात्कालिक रूप से कथा का भावी प्रवाह इससे नहीं फूटता और वह एक पूँजी-पति के यहाँ नौकरी करता है। यहाँ भी वह अधिक समय तक नहीं रह पाता और वह एक धोबी के यहाँ नौकरी कर लेता है। फिर उसे कुछ समय तक एक स्थान पर रसोइए का काम करना पड़ा है। इन स्थानों पर कथा के ये मोड़ कम महत्व रखते हैं, बल्कि उनके आधार पर जो प्रासंगिक वर्णन तथा कथाएँ आयी हैं, उन्हीं का महत्व अधिक है। अंत में कथा रुकती है लीला के उसके सम्पर्क तथा सामाजिक सेवा के लिए निश्चय के साथ। इतने विविध मोड़-ठहराव आने के बाद अब कथानक एक अनिश्चित गति पर आकर समाप्त होता है। परन्तु इतने कथा-वैविध्य के बावजूद भी चारित्रिक पक्ष की ही प्रमुखता इस उपन्यास में है। इसीलिए उसमें शिल्प की नवीनता प्रतीत होती है।

इलाचंद्र जोशी इस युग के उन महत्वपूर्ण उपन्यासकारों में हैं, जो मनो-विश्लेषण का आधार लेकर चले हैं। इनके उपन्यासों की सर्वप्रथम शिल्प-विशेषता यह है कि कथानक के मुख्य पात्र एक प्रकार से केन्द्र के रूप में विकसित होते हैं। अन्य समस्त उप-कथा-सूत्र तथा सहायक कथा-सूत्र उसी के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। दूसरी शिल्प - विषयक मुख्य बात यह है कि कभी-कभी कथा का प्रधान सूत्र उपन्यास के प्रधान पात्र या प्रधान पात्री में केन्द्रित रहता है। ऐसी स्थिति में केंद्र-बिंदु का झुकाव कई अन्य दिशाओं में होता है, जिनमें से प्रत्येक के द्वारा एक नये सूत्र का उदय होता है। ऊपर जिस प्रथम शिल्प-विशेषता का उल्लेख किया गया है वह इलाचंद्र जोशी के उन उपन्यासों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, जो आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये हैं। ऐसे उपन्यासों के कथानक में प्रधान चरित्र की इतनी प्रमुख स्थिति रहती है कि अन्य सभी सहायक सूत्र एक प्रकार से प्रासंगिक रूप में मिलकर उसके विकास का मार्ग निर्मित करते हैं। इस चारित्रिक वातावरण की सृष्टि से परोक्ष रूप में यह लाभ होता है कि यदि किसी कारण से प्रधान कथा-सूत्र की विकास-गति में भी शैथिल्य आ जाता है, तो कथात्मक विकास की गति में कोई बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि उस समय कोई भी सहायक कथा-सूत्र उसे पूर्व गति दे देता है।

बहुधा इनके उपन्यासों के कथानक का व्यावहारिक रूप में सूत्रपात उपन्यास के नायक के आगमन के साथ ही होता है। ऐसी परिस्थिति में प्रधान पात्र की मानसिक उथल-पुथल के साथ ही कथा का प्रधान सूत्र भी इधर-उधर भटकता रहता है और उसमें तभी स्थिरता आती है जब प्रधान पात्र की गति में एक संतुलन आ जाता है। इस प्रकार के जो सूत्रात्मक तत्व उपन्यास में आ जाते हैं, तो एक स्थिति ऐसी भी आती है, जब कथानक अपने विकास की मध्यम अवस्था को पार कर चुका होता है और तब उसका निर्वाह करना कठिन हो जाता है। उस समय उपन्यासकार के सामने केवल यही मार्ग बचता है कि वह नाटकीय तत्वों का आधार लेकर कथा की समाप्ति करे क्योंकि कथानक की पूर्व स्वाभाविक गति के अनुसार ऐसा करना कठिन होता है। एक मुख्य पात्र और दूसरे सामान्य पात्र के पारस्परिक संघर्ष से भी कहीं-कहीं आगे के सूत्र सुलझते और फिर विकसित होते देखे गये हैं। बहुधा पात्रों के पारस्परिक संघर्ष से प्रधान कथा-सूत्र कुछ क्षीण भी हो जाता है। परन्तु ऐसी स्थिति कुछ ही समय रहती है; क्योंकि शीघ्र ही किसी तीसरे सूत्र के योग के फलस्वरूप उसका प्रवाह और भी वेगवान हो जाता है।

इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों में जो शिल्प-रूपों से सम्बन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, उनका आधार नाटकीय नहीं है और वे अपने पात्रों की सहायता से ही विकास को प्राप्त होती हैं। परन्तु उनके 'जिप्सी' तथा 'जहाज का पंछी' आदि उपन्यासों को यदि दृष्टि में रखें, तो प्रतीत होगा कि उपर्युक्त बात इन पर नहीं लागू होती। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके इन उपन्यासों में नाटकीय तत्वों की ही बहुलता है। उपर्युक्त उपन्यासों के अनेक उद्धरण तथा कथा में आनेवाले मोड़ इस कथन के प्रमाण हैं। इस श्रेणी में आनेवाले उपन्यासों में प्रारंभ से लेकर अन्त तक की सारी घटनाएँ एक नाटकीय कथा-सूत्र द्वारा संचालित होती प्रतीत होती हैं। सूत्रात्मकता के ये तत्व उनके 'जहाज का पंछी' नामक उपन्यास में विद्यमान हैं। परन्तु उनके इस उपन्यास का कथानक अन्य उपन्यासों की अपेक्षा भिन्न कोटि का है। इसका कथानक क्षेत्र, काल तथा सीमाओं की दृष्टि से अधिक विस्तार युक्त है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस उपन्यास में कथा-वैविध्य के बावजूद भी चारित्रिक पक्ष की प्रमुखता है। यही कारण है कि इसमें शिल्प-रूपों की नवीनता तो मिलती है, परन्तु इस दृष्टि से श्रेष्ठता नहीं।

पिछले पृष्ठों में जिन उपन्यासकारों की कृतियों में पायी जानेवाली शिल्पगत विशेषताओं की विवेचना की गयी है, वे मनोविश्लेषक उपन्यासकार हैं। इनकी कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि आधुनिक उपन्यास में मनोविश्लेषण के शास्त्रीय सिद्धांतों का किस सीमा तक समावेश हुआ है, तथा उसके विकास में उनका कितना महत्वपूर्ण योग है। इन उपन्यासकारों का स्थान निस्संदेह बहुत ऊँचा है और इनके द्वारा प्रवर्तित परम्परा ने प्रशस्ति भी पायी है। परन्तु यहाँ उन अनेक छोटे-बड़े उपन्यासकारों की चर्चा करना उपयुक्त न होगा, जिनकी कथा-कृतियों में मनोविश्लेषणात्मक तत्व केवल सामान्य रूप में ही समावेशित हुए हैं। हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में मनोविश्लेषण के आधार पर जो कथा-रूप आगे विकसित हुए उनके प्रधान तत्व, अपने मूल रूप में, उन उपन्यासकारों की कथा-कृतियों में विद्यमान हैं, जिनकी ऊपर चर्चा की गयी है।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

परिचय तथा प्रमुख-कृतियाँ—'अज्ञेय' प्रेमचंदोत्तर युग के विशिष्ट उपन्यासकारों में से हैं। इनके 'शेखर एक जीवनी' नामक उपन्यास के प्रकाशन पर प्रकाशक ने घोषित किया था कि यह उपन्यास भावी हिंदी-उपन्यास के लिए 'प्रकाश-स्तम्भ' का कार्य करेगा। वास्तव में यह उपन्यास ऐतिहासिक महत्व का सिद्ध भी हुआ। इनके उपन्यासों में वैयक्तिक चित्रण की प्रधानता है। एक व्यक्ति की विविध परिस्थितियों में प्रतिक्रियात्मक संभावनाओं का जितना सूक्ष्म अंकन इन्होंने किया है, उतना ठीक उसी रूप में हिंदी के किसी अन्य उपन्यासकार ने नहीं। परंतु 'अज्ञेय' के उपन्यासों का महत्व केवल इसी कारण से नहीं है। उनके उपन्यासों का असाधारण महत्व उनके उपन्यासों के अनोखे शिल्प के कारण भी है।

'शेखर : एक जीवनी' 'अज्ञेय' का सर्वप्रथम उपन्यास है, जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। कथा-शिल्प की दृष्टि से यह नयी पीढ़ी की प्रवर्त्तक औपन्यासिक कृतियों में माना जा सकता है, क्योंकि आगे लिखे गए अनेक उपन्यासों पर इसकी स्पष्ट छाया मिलती है। उपन्यास की कथा को आत्मकथात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसे उपन्यास तक मानना

अस्वीकार कर दिया है। उन्होंने लिखा है—'इसे हम उपन्यास भी नहीं कह सकते क्योंकि इसमें एक ही पात्र का चरित्र चित्रित है और वह भी नितांत एक-रस। घटनाएँ और परिस्थितियाँ आती हैं और जाती हैं, किंतु शेखर अपनी ही गति से चलता है। आरम्भ से ही उसका चरित्र जिस साँचे में ढल गया है, अन्त तक वही साँचा दिखलायी देता है। किंतु जीवन में बहुत से स्थल औपन्यासिक भी हैं, विशेषत: दूसरे भाग में—जैसे लाहौर के कालेज-जीवन के दृश्य, जेल-जीवन का चित्र आदि। जीवन में एक विशालता अवश्य है, किंतु औपन्यासिक विशालता नहीं। घटनाओं, परिस्थितियों और चरित्रों का संघर्ष किसी बड़े पैमाने पर नहीं पाया जाता।'

'शेखर : एक जीवनी' प्रथम पुरुष के रूप में कही गयी एक विशिष्ट कथा-कृति है। इसका प्रधान पात्र शेखर है, जिसका व्यक्तित्व विद्रोही है। जीवन की विविधताओं एवं जीवन के विभिन्न पक्षों के प्रति उसकी विद्रोह-भावना ही इस उपन्यास के कथानक का प्रधान आधार है। इस उपन्यास के कथानक की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें काल्पनिक और व्यावहारिक भाव-भूमियों का आश्चर्य-जनक ढंग से समावेश हुआ है। परंतु इन दोनों से अलग कहीं-कहीं नाटकीय तत्व भी कथानक में मिलते हैं जो कथानक-विकास की स्वाभाविकता में बाधक सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए शेखर के जीवन में सरस्वती, शारदा तथा शशि का आना और जाना। इसी प्रकार से नायक का लाहौर तथा मद्रास को आकस्मिक रूप से आगमन और प्रस्थान भी नाटकीय प्रतीत होता है। 'अछूत-बालक-उद्धारक संघ' तथा 'एंटीगोनस क्लब' आदि के प्रसंग कथानक से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखते। उनके कारण जहाँ उपन्यास में अनावश्यक विस्तार आया है, वहाँ उसमें बिखराव भी।

'शेखर: एक जीवनी' एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपने हृदय में रूढ़िगत सिद्धांतों तथा तद्जनित भावनाओं के प्रति एक अदम्य विद्रोह-भावना पाता है। उसके जीवन का विकास उसकी समस्त जागरूकता के साथ होता है। वह अपने बचपन की अनेक घटनाओं का लेखा-जोखा करता है। उसकी यह तर्क-प्रवृत्ति उसकी अहं-भावना का एक अंग है। उसका अहं जहाँ एक ओर उसके चरित्र के निर्माण और विकास में सहायक हुआ है, वहाँ उसके कारण उसे अहंवादी तक करार कर

दिया जाता है। परंतु वास्तव में उसकी यह अहं-भावना[1] उसके आत्म-विश्वास का प्रतिरूप है। उसका समूचा व्यक्तित्व इसी की नींव पर खड़ा रहने के कारण, कभी किसी भी परिस्थिति में डगमगाता या लड़खड़ाता नहीं।

उपन्यास में अनेक प्रसंग ऐसे आये हैं, जो शेखर के बचपन से संबंध रखते हैं। किसी सीमा तक ये प्रसंग कथा-प्रवाह में बाधक हुए हैं; यद्यपि चारित्रिक विकास की दृष्टि से इनका महत्व कम नहीं है; उदाहरण के लिए स्मृति रूप में यह प्रसंग—'…… …… वह अकेला अजायबघर में फिर रहा है, उस कमरे में, जिसमें वन्य हिंस्र पशु प्रदर्शित किये गये हैं। एकाएक ही वह देखता है उसके सामने एक भीमकाय बाघ प्रकट हो गया है। एक पंजा झपटने के लिए उठा, भयंकर दाँत, वह जीभ, आरक्त आँखें और वह चीख उठता है, भय से विह्वल होकर …… …… और भागता है। …… …… वह बाघ केवल एक चर्म के अंदर भरा हुआ फूस है, यह बात बालक नहीं जानता। वह भागता है। वह भागता है, उसे जान पड़ता है कि वह बाघ उसके पीछे चला आ रहा है, क्षण भर में उसे पा लेगा, वह घूमकर देखता भी नहीं क्योंकि वह उन दाँतों को, उस जीभ को, उन आँखों को, फिर नहीं देखना चाहता…… और वह अकेला है, कोई उसका डर दूर करने वाला नहीं है………वह किसी तरह बाहर तक आ पाता है और सड़क पर भागता है। तभी एक चपरासी उसे पहचान कर पकड़ लेता है, गोद में उठा लेता है और वह अपने को भागने में असफल पाकर बड़े जोर से चीख उठता है कि अब वह बाघ झपटा………जो नहीं झपटता, काफी देर तक। तब शिशु डरते-डरते घूमकर देखता है। उसे वहाँ न पाकर आश्वासन की साँस लेता है……..वह डर उस समय दब गया, किंतु उसने शिशु के मन में घर कर

१. प्लेखनोव ने लिखा है—'When a man considers his own 'ego' to be the 'sole reality' then he can find no objective connection, 'rational' in the sense of being determined by definite laws, between his 'ego' on the one hand and the external world on the other. The external world must appear to him as either altogether unreal or as real only in part-in so far, namely, as its existence is based on the only true reality, that is to say on the 'ego.'

(Art and social life.)

लिया। उस दिन के बाद उसे भयंकर स्वप्न आने लगे, रात को वह चीख उठता और कभी जागकर यदि पाता कि कमरे में अँधेरा है तब तो वह अंधकार एक नहीं असंख्य बाघों से सजीव हो उठता, एक से एक खूँखार……उस दिन से उसके कमरे में रात भर प्रकाश रहने लगा, किन्तु किसी ने जाना नहीं कि उसे क्या हो गया है, क्यों उसे ऐसे भयंकर स्वप्न आने लगे हैं। क्यों वह दुबला और चिड़चिड़ा होता जा रहा है। वह डर अपने आप ही मिटा। एक बार एक वैसा ही बाघ उसके घर लाकर रखा गया और बहुत मुश्किल से अपने भाइयों की देखा-देखी वह उसके पास भी गया, उसकी पीठ पर भी बैठा और उसे निर्जीव पाकर साहस करके उसके मुँह में हाथ डालकर भी देखा तब डर यकायक उड़ गया, तब शिशु ने चाकू लेकर उस खाल को फाड़ डाला, उसके भीतर घास-फूस को बिखेर कर हँसने लगा……इसका एक और गहरा असर भी हुआ। शिशु ने जाना, डर डरने से होता है। संसार की सब वस्तुएँ हैं केवल एक घास-फूस से भरा निर्जीव चाम, जिससे डरना मूर्खता है। …… और यही वह आज तक समझता है। यही उसका विश्वास अब भी है कि जब कभी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका बाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकालकर बिखरा दो और हँसो। इसने उसे उद्धत बनाया है, लोग कहते हैं विध्वंसक और हिंस्र भी बना दिया है।'[1]

लेखक ने 'शेखर : एक जीवनी' की भूमिका में लिखा है—'शेखर' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए 'विजन' को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है। एक विशेष परिस्थिति में जेल की चहारदीवारी के भीतर लेखक को यह 'विजन' प्राप्त हुआ और उसने तीन सौ पृष्ठों में उसे शब्दबद्ध कर डाला। वही पेंसिल से लिखे हुए तीन एक सौ पन्ने 'शेखर : एक जीवनी' की नींव हैं। प्राय: दस वर्षों से लेखक उस ढाँचे में रूप भरता रहा। लेखक के विचार से वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है वह द्रष्टा हो सकता है।'[2]

'शेखर : एक जीवनी' की शिल्प की दृष्टि से एक विशेषता यह भी है कि इसमें कथा-शैली का विकास एक कथात्मक-पद्धति पर नहीं हुआ। इसमें विविध

१. 'शेखर : एक जीवनी' (अज्ञेय), प्रथम भाग।
२. वही, भूमिका।

स्थलों पर शैली विवरणात्मक, गीतात्मक तथा लघु-कथा रूप ग्रहण करके आगे बढ़ी है। ये सभी शैलियाँ लेखक की सूक्ष्म-विश्लेषणात्मक शक्ति का आधार लेकर विकसित हुई हैं।

कथा को जीवनी-रूप में स्मृति-चित्रों का जाल बिनकर प्रस्तुत किया गया है। इनमें से बहुत से चित्र ऐसे हैं, जो पाठकों को स्वतन्त्र रूप में बहुत रसहीन लग सकते थे। परंतु इसके सशक्त शिल्प-विधान के कारण उनका महत्व बढ़ा हुआ लगता है। लेखक ने उपन्यास का आरंभ 'फाँसी' शब्द से किया है। यह शब्द पाठक के हृदय में ऐसी उत्सुकता जगाता है, जिसका अंत उपन्यास की समाप्ति के बाद ही होता है।

'नदी के द्वीप' 'अज्ञेय' का लिखा हुआ दूसरा उपन्यास है। यह खण्ड-रूपों में लिखी गयी एक कथा है, जो चार प्रधान पात्र-पात्रियों के चरित्र को आधार बनाकर चलती है। कथा का विकास सदैव इन चार प्रमुख पात्रों में से एक को प्रधानता देकर हुआ है, जिसमें उसकी ही दृष्टि प्रमुख रहती है। बीच में कथा को सूत्र-बद्ध करने तथा कथात्मक एकता की रक्षा करने के लिए विविध पात्रों के पारस्परिक पत्र-व्यवहार तथा अंतरालों का आश्रय भी लिया गया है। इस प्रकार स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत किये हुए विविध कथा-खंड पत्र तथा अंतराल शैली के माध्यम से एक शृंखला में जोड़े गये हैं।

जिस प्रकार 'शेखर : एक जीवनी' आत्मकथात्मक शैली में लिखी गयी इस युग की प्रवर्तक कथा कृति है, उसी प्रकार खण्ड-कथा रूप में लिखे गये उपन्यासों में 'नदी के द्वीप' का स्थान विशिष्ट है। इस उपन्यास की कथा को कई खण्डों में विभक्त किया गया है। कथा का नायक है भुवन, जिसको केन्द्र बनाकर उपन्यास का ढाँचा तैयार किया गया है। उपन्यास में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक इसी प्रधान कथा-सूत्र की प्रमुखता है। प्रधान कथा-सूत्र के दो सहायक सूत्र विकास की स्थिति में थोड़े-थोड़े समय तक प्रधान सूत्र का साथ देते हैं। ये दोनों सहायक सूत्र क्रमशः रेखा और गौरा के चरित्र को अपना आधार बनाकर विकसित हुए हैं। एक और सूत्र है जो चन्द्र माधव के चरित्र का आधार लेकर चलता है, परन्तु कथा-विकास की दृष्टि से उसका कोई महत्वपूर्ण योग नहीं है। जो प्रमुख पात्र इस उपन्यास में आये हैं, उनका चरित्र कलात्मक दृष्टि से भली भाँति विकसित नहीं हुआ है। इसीलिए, यह बात समझ लेनी चाहिए कि इस उपन्यास का जीवन-दर्शन की दृष्टि से उस सीमा

तक महत्व नहीं है, जिस सीमा तक शिल्प-प्रौढ़ता की दृष्टि से। उपन्यास में देशी-विदेशी कवियों के उद्धरणों की इतनी भरमार है कि एक बार भारतेन्दु युगीन उपन्यासों की याद आ जाती है और जो कथा के स्वाभाविक विकास में बाधक भी हुए हैं।

आत्म-विचार और दर्शन की दृष्टि से उपन्यास का सबसे अधिक सशक्त अंश है, इस उपन्यास का समाप्ति-भाग। गौरा को पत्र लिखते-लिखते एकाएक भुवन उद्विग्न हो उठता है—'सब कुछ अधूरा है, और ज्यों-ज्यों वह आगे पूरेपन की ओर बढ़ता है, नयी अपूर्णताएँ भी उसके आगे स्पष्ट हो जाती हैं·······कितना बड़ा है जीवन, कितना विस्तृत, कितना गहरा, कितना प्रवाहमान ; और उसमें से व्यक्ति की ये छोटी-छोटी इकाइयाँ—प्रवाह से अलग जो कोई अस्तित्व नहीं रखतीं, कोई अर्थ नहीं रखतीं, फिर भी सम्पूर्ण हैं, स्वायत्त हैं, अद्वितीय हैं, और स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि अन्ततोगत्वा आत्मानुशासित हैं, अपने आगे उत्तरदायी हैं, स्वर्ग और नरक, पुण्य और पाप, दण्ड और पुरस्कार, शान्ति और तुष्टि, ये सब बाहर हैं तो केवल समय हैं, सत्य तभी हैं जब भीतर से उद्भूत हों·······'[1]

अन्त में वह 'अनुद्विग्न भाव से' पत्र फाड़ डालता है। एक बार वह जाकर खिड़की पर खड़ा हो जाता है। अब शायद दो-तीन मिनट ही उसके पास हैं 'और फिर साँझ हो जायेगी, मच्छरों से रक्षा की कार्यवाई शुरू हो जायेगी—यन्त्र फिर उसे जकड़ लेगा। मानो चक्की के पटों के बीच दाने को क्षण-भर की स्वतन्त्रता मिल गयी थी—किन्तु कितना मूल्यवान हो सकता है ऐसा क्षण—सम्पर्क का क्षण—

'मूल्यवान् क्षण ? मूल्यवान् किसके लिए ? सम्पर्क का क्षण ? किसके साथ सम्पर्क ? हाँ मूल्यवान्—नश्वर किन्तु मूल्यवान्, जिनका सम्पर्क है सभी के लिए चिरन्तन और मूल्यवान् ; सम्पृक्त—जो समीक्षा करते हैं उनसे सम्पृक्त, वे चाहें बोलें या न बोलें ; प्रश्न से सम्पृक्त और उसके उत्तर से सम्पृक्त—प्रश्न चाहे न पूछा जाये, उत्तर चाहे न भी दिया जाये। मूल्यवान् और सम्पृक्त क्षण क्योंकि प्रतीक्षा के क्षण—वह प्रतीक्षा चाहे कितनी लम्बी हो, कर्म की इस अजस्र-प्रवाहिनी नदी से भी लम्बी ; भुवन प्रतीक्षा करेगा, जैसे कि निस्सन्देह, गौरा भी प्रतीक्षा करेगी ···· ···· क्योंकि

१. 'नदी के द्वीप' (श्री 'अज्ञेय'), पृष्ठ ३२६।

प्रतीक्षाएँ भी अजस्र, अनाद्यन्त काल की नदी में स्थिर, शिलित समय के द्वीप हैं।''[1]

'अज्ञेय' के दोनों उपन्यास—'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' शिल्प की दृष्टि से इस युग की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं, जो न केवल कथा-शिल्प की दृष्टि से वरन् प्रतिनिधित्व की दृष्टि से भी ऐतिहासिक महत्व रखती हैं। 'शेखर : एक जीवनी' में आत्म-कथात्मक शैली के रूप में निर्मित जो प्रौढ़ कथा-रूप मिलता है, वह इस ढंग पर लिखी गयी इस युग की किसी अन्य कथा-कृति में खोजना कठिन है। घटनाओं की अप्रासंगिकता तथा विचार-दर्शन के आरोप के फलस्वरूप आयी बोझिलता ने भी इसमें कोई बाधा नहीं पहुँचायी है। अवश्य, कथानक की सूत्रबद्धता की दृष्टि से अनेक प्रसंग बाधक सिद्ध हुए हैं। और जिस प्रकार 'शेखर : एक जीवनी' आत्म-कथात्मक शैली में लिखी गयी एक प्रतिनिधि कृति है, उसी प्रकार खण्ड-कथा-रूप में लिखे गये उपन्यासों में 'नदी के द्वीप' एक महत्वपूर्ण कृति है। प्रधान पात्र भुवन को लेकर चलने वाली इस कथा को खण्ड-रूप में विभाजित करके विकसित किया गया है। भारतेन्दु युगीन उपन्यासों के समान ही इस कृति में भी अनेक कवियों के उदाहरण अधिकता से मिलते हैं, जिनसे कथा का स्वाभाविक विकास-मार्ग अवरुद्ध हुआ है।

प्रेमचन्द के बाद मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति की एक धारा बौद्धिकता का आग्रह लेकर चली। इसका प्रवर्त्तन 'अज्ञेय' द्वारा हुआ। इस विशिष्ट उपन्यास-विकास-धारा के अन्तर्गत जो उपन्यासकार आते हैं, उनमें यशपाल, अश्क, अमृतराय, डा० देवराज, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, नरेश मेहता, डा० धर्मवीर भारती तथा राजेद्र यादव आदि के नाम आते हैं। यहाँ इन्हीं उपन्यासकारों की प्रमुख कृतियों के आधार पर उनके शिल्प-रूपों की परिचयात्मक विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

यशपाल के उपन्यास बौद्धिकता के साथ-साथ राजनैतिक पृष्ठभूमि को लेकर आगे बढ़े हैं। इस दृष्टि से उनका पहला उल्लेखनीय उपन्यास 'पार्टी कामरेड' है, जिसके कथानक का आधार राजनैतिक भारत की सन् १९४५ के आस-पास की परिस्थितियाँ हैं। इसका कथा-क्षेत्र बम्बई है। और वस्तु-सामग्री उसी

१. 'नदी के द्वीप' (श्री 'अज्ञेय') पृष्ठ ३२७।

समय के एक चुनाव से ली गयी है। कथा का सूत्र उपन्यास की नायिका के कम्यूनिस्ट पार्टी के लिये किये गये प्रचार-कार्य से आरम्भ होता है। वह चुनाव-कोष के लिए धन भी एकत्र करती है और विविध प्रकार के प्रचार-कार्य के साथ ही साथ कार्यालय का कुछ काम भी। कथा में औत्सुक्य की वृद्धि तब होती है, जब वह एक दुश्चरित्र धनी युवक के सम्पर्क में आती है। यहाँ से कथा प्रमुखतः तीन सूत्रों में विभक्त हो जाती है। पहला सूत्र है नायिका के अपने पारिवारिक क्षेत्र से संबंधित, दूसरा नायक के अपने मित्र-समाज से संबंधित और तीसरा मूल कथा के क्रम में, जिसमें सामाजिक दशाओं की पृष्ठभूमि में राजनैतिक उथल-पुथल का चित्रण किया गया है। कथा के पहले सूत्र में नायिका के अपने परिवार की कथा प्रमुख रहती है। परन्तु इसके कुछ सह-सूत्र भी हैं, जिनके अन्तर्गत उसकी पार्टी आदि से सम्बन्धित व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाली घटनाएँ सामने आती हैं। कथा का दूसरा सूत्र है नायक के अपने मित्र-समाज से सम्बन्ध रखनेवाला, जिसमें वह अपने मित्रों के साथ जीवन-चर्या का पूर्व की भाँति ही निर्वाह करते देखा जाता है। इसके सह-सूत्रों में उसकी पार्टी की गतिविधि और कार्य-प्रणाली में योग देने की घटनाएँ हैं, जो उसे आगे बढ़ाती हैं। कथा का तीसरा सूत्र उसी प्रारम्भिक मूल कथा के क्रम में आता है, जिसमें कथा-क्षेत्र में होने वाले संघर्षों का वर्णन है। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि ये सूत्र स्वतन्त्र रूप से विकास की ओर अग्रसर होते हुए भी इस विकास-क्रम के बीच अन्तर्सम्बन्धों से जकड़े रहते हैं—नायिका अपने सूत्र-क्षेत्र से अलग नायक के सम्पर्क में आती रहती है, नायक अपने सूत्र-क्षेत्र से अलग नायिका के जीवन में अधिकाधिक रुचि लेने लगता है और उसकी आर्थिक सुविधाओं की ओर ध्यान देता है और तीसरा सूत्र इन दोनों से प्रभावित होकर तब तक आगे बढ़ता रहता है, जब तक फिर इनमें एकात्मकता नहीं आ जाती।

यशपाल का दूसरा उल्लेखनीय उपन्यास 'देशद्रोही' है, जिसकी रचना भी उपर्युक्त पीठिका पर हुई है। इस उपन्यास की कथा का आधार सन् बयालीस की क्रान्ति है। मूल कथा इसी क्रान्ति से सम्बन्ध रखती है। कथा-सूत्र का प्रारम्भ होता है आरम्भ में राजनैतिक दशाओं के वर्णन प्रस्तुत करने से। फिर आकस्मिक रूप से कथा में तब मोड़ आता है, जब उपन्यास का नायक खन्ना सीमान्त पर जाता है। यहाँ से मूल कथा दो सूत्रों में विभक्त होकर विकसित होती है। कथा का पहला सूत्र दिल्ली और उसके आसपास के ही वातावरण में रहता है, परन्तु

उसका दूसरा सूत्र खन्ना के साथ आगे बढ़ता है। उसे सीमान्त पर वजीरियों के बीच रहना पड़ता है। किसी प्रकार वहाँ से मुक्ति पाने पर वह गजनी जाता है और फिर रूस होता हुआ भारतवर्ष वापस आता है। कथा का जो सूत्र इस प्रकार विभक्त हो जाता है, वह आगे चलकर अपने आपमें कई प्रासंगिक कथाओं को जन्म देता है। विविध स्थलों पर खन्ना जिन लोगों के सम्पर्क में आता है और जिस प्रकार कुछ विशेष घटनाएँ घटती हैं, वे इन कथाओं में प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। खन्ना की अनुपस्थिति में भी स्वदेश में जो कथा-सूत्र रह जाता है, वह इतने लम्बे समय में अनेक मोड़ ले चुकता है। यहाँ यह मान लिया जाता है कि खन्ना की मृत्यु हो चुकी है। इसी भ्रामक धारणा के विश्वास के कारण यहाँ कथा में नाटकीय ढंग से कुछ तत्व समाविष्ट हो जाते हैं। खन्ना की पत्नी एक दूसरे व्यक्ति के साथ स्थायी रूप से पति-पत्नी की हैसियत से निवास करने लगती है। यहाँ तक की कथा को देखने से यह पता चलता है कि कथा में अब तक काफी बिखराव आ चुका है और अब उसका पुनः संयोजन होना चाहिए। स्वभावतः ही खन्ना के स्वदेश आ जाने पर दोनों कथा-सूत्र एक में मिल जाते हैं। अब कुछ विशिष्ट समस्याएँ खन्ना, उसकी पत्नी तथा उससे सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों के सामने आती हैं। चूँकि इस स्थल तक आते-आते कथा के दोनों सूत्र फिर संयुक्त हो जाते हैं, अतः कथा की एकता फिर से सूत्रबद्ध रूप में मिलने लगती है। यहाँ पर लेखक ने जिन विशिष्टताओं की ओर संकेत किया है, उनसे शिल्प का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। अन्त में अनेक प्रकार के संघर्षों के बाद नायक घायल हो जाता है, और वायु-परिवर्तन के लिए ले जाया जाता है। उपन्यास वर्णनात्मक-शैली में लिखा गया है। शिल्प की दृष्टि से इसकी मुख्य विशेषता यही है कि लेखक ने कथा को बीच में दो भागों में विभक्त कर दिया है और उनका तब तक भली भाँति निर्वाह किया है, जब तक वे दोनों सूत्र संयुक्त नहीं हो जाते। संयुक्त हो जाने पर उसका एकात्मक रूप से निर्वाह होते हुए विकास दिखाया गया है।

'मनुष्य के रूप' यशपाल का तीसरा उल्लेखनीय उपन्यास है। उनके राजनैतिक उपन्यासों में यही एक ऐसा उपन्यास है जिसमें शिल्प-रूप पर्याप्त जटिलताओं में जकड़े हुए मिलते हैं। इसकी कथा का क्षेत्र कोई एक स्थान नहीं है, वरन् घटना-चक्र के घूमने के साथ ही साथ कथा-क्षेत्र में भी परिवर्तन होता रहता

है। कथा-सूत्र वास्तविक रूप में उस समय आरम्भ होता है, जब एक पहाड़ी गाँव की विधवा, जो इस उपन्यास की प्रधान पात्री है, निराश्रिता होने के कारण एक व्यक्ति के साथ भागकर आती है। राजनैतिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हुई विषमताओं का उसे पग-पग पर सामना करना पड़ता है। किसी प्रकार वह अपने प्रेमी के साथ आकर एक वकील परिवार में नौकरी करने लगती है। कथा का वह आरम्भिक सूत्र, जो अब तक विकसित हो रहा था, यहाँ आकर एकाएक समाप्त हो जाता है। यहाँ से कथा एक सर्वथा नवीन रूप में विकास की ओर बढ़ती है और प्रधान-पात्री के चरित्र-विकास के दृष्टिकोण की यदि उपेक्षा कर दी जाय, तो पूर्व कथा-सूत्र के अन्त के पश्चात् उसका भावी कथा-विकास में न कोई योग होता है और न उसके विकास की दृष्टि से कोई महत्व ही। यहाँ से कथा का जो सूत्र आगे बढ़ता है उसका आधार इस वकील परिवार में नायिका के जीवन की घटनाएँ हैं। यहाँ अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घटती हैं, जिन्हें प्रसंग रूप में समावेशित किया गया है। यह एक उल्लेखनीय बात है कि यहाँ से ज्योंही कथा आगे बढ़ती है, त्योंही इस कथा-सूत्र का भी अन्त हो जाता है। अब आगे कथा का जिस रूप में विकास होता है, उससे इस सूत्र का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कथा का तीसरा सूत्र तब आरम्भ होता है जब उपन्यास की प्रधान पात्री बम्बई में रहकर फिल्मों में काम करने लगती है और हीरोइन बन जाती है। बंबई के फिल्मी वातावरण से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ प्रासंगिक रूप से कथा के इस भाग में समाविष्ट हुई हैं। इस प्रकार 'मनुष्य के रूप' के कथानक को तीन खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक कथा-खण्ड का महत्व स्वतन्त्रत रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि इन कथा-खण्डों के क्षेत्र और वातावरण पूर्ण रूप से भिन्न हैं और उनमें परस्पर कोई साम्य नहीं है।

इस परंपरा में सामाजिकता का आग्रह लेकर आने वाले उपन्यासकारों में उपेंद्रनाथ 'अश्क' का नाम उल्लेखनीय है, जिनका नया उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' हैं। यह मानना होगा कि यह उपन्यास उनके पिछले उपन्यासों से प्रवृत्तिगत भिन्नता रखता है और इसके द्वारा 'अश्क' ने एक नये क्षेत्र में प्रवेश करके एक नयी समस्या पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इसीलिए इसे उनकी पिछली औपन्यासिक कृतियों से अलग करके देखना चाहिए। उपन्यास की कथा जिस क्षेत्र-

वातावरण से सम्बन्ध रखती है, वह बाह्य रूप से देखने पर बहुत सरल, स्वच्छ और पवित्र जान पड़ती है। कथा का क्षेत्राधार देवनगर है, जो एक स्वप्नदर्शी व्यक्ति के लौकिक आदर्शवादी दृष्टिकोण का साक्षात् प्रमाण है। उपन्यास की प्रमुख समस्या है उसी खोखले आदर्शवाद की स्थापना का प्रश्न, जिसके व्यावहारिक पक्ष को वह अपने वैयक्तिक आदर्श की धुन में बिल्कुल भुला ही देता है। उपन्यास अपने प्राणवान् पात्रों के कारण ही कथात्मक दृष्टिकोण से भी सफल हुआ है। अधिक स्पष्ट कहें तो अपने पात्रों के कारण ही उपन्यास की कथावस्तु में संतुलन बना रह सका है। इसके अधिकांश पात्र काफी रूढ़ अर्थों में आदर्शवादी होते हुए भी बहुत व्यावहारिक जान पड़ेंगे। हो सकता है कि उनमें उस चेतना की कमी हो, जो किसी सशक्त उपन्यास के सप्राण पात्रों की प्रमुख विशेषता होती है। शिल्प के आकर्षक रूपों का इसमें अवश्य प्रयोग हुआ है। जहाँ तक कलात्मक ढंग से शिल्प की दृष्टि से कोई चमत्कार मिलने का प्रश्न है, वह भले ही इस उपन्यास न मिले, परंतु शिल्प-दोष भी इसमें नहीं मिलता। शिल्प से तात्पर्य यह नहीं है कि उपन्यास के कथानक-विस्तार में उसके सभी प्रकारों का आश्रय लेकर उसे कला-बाजियाँ खिलायी जायँ। शिल्प की सफलता यह भी हो सकती है कि कथा अपनी स्वाभाविक गति से चले और कलात्मक विकास की दृष्टि से पूर्णता को प्राप्त हो। फिर, शिल्प-निर्धारण भी बहुत-कुछ कथानक के प्रकार पर निर्भर होता है।

बौद्धिकता से आगृहीत वैयक्तिक चेतना से प्रभावित सांस्कृतिक आधार लेकर उपर्युक्त कथा-परम्परा का विकास करनेवालों में डा० देवराज का नाम उल्लेखनीय है। 'पथ की खोज' दो भागों में लिखा हुआ उनका सर्वप्रथम उपन्यास है। इसका प्रधान पात्र चन्द्रनाथ है, जिसे केन्द्र मानकर ही कथा का सारा ताना-बाना बिना गया है। विविध कथा-सूत्र इस प्रधान कथा के साथ कहीं-कहीं सहायक रूप से उसके साथ चलने लगते हैं और उसे इस प्रकार गति देते हैं और कहीं-कहीं उसके भावी विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। प्रमुख रूप से जो दो सहायक कथा-सूत्र हैं, वे क्रमशः साधना और सुशीला को आधार मानकर चलते हैं। यों प्रसंग रूप से उसकी माँ की स्मृति, विद्यार्थी-जीवन तथा साहित्यिक गतिविधि-विषयक जिन वर्णनों का समावेश इसमें दिया गया है, उन्होंने सम्भवतः इसमें बोझिलता ही अधिक उत्पन्न की है। उसमें बिखराव आया है एवं संगठन की कमी हो गयी है। साधना को आधार बनाकर जो सूत्र विकसित होता है, उसका विकास क्रम

से हुआ है। उसमें विविध स्थानों पर स्वाभाविक और नाटकीय मोड़ आये हैं। वह चन्द्रनाथ के प्रति आकर्षण का अनुभव करती है, उसी की इच्छा से अपना विवाह करती है और पति से उसके सम्बन्ध-विच्छेद का कारण भी अप्रत्यक्ष रूप से वही है। इसी प्रकार सुशीला को लेकर जो कथा-सूत्र आगे बढ़ा है, वह भी बहुधा अस्थिर हुआ है। इस सूत्र को की समाप्ति सुशीला की मृत्यु के साथ ही हुई है। कथानक में जितने साहित्यिक बहस के अंश हैं, उनमें से अधिकांश उपन्यास की मर्यादा की दृष्टि से अनावश्यक हैं। नरेन्द्र और मदन आदि को लेकर जो सूत्र चलते हैं, वे वास्तव में उप-कथा-सूत्र हैं। उनसे सम्बन्ध रखनेवाले जो विवरण हैं, उनका महत्व केवल प्रासंगिक समावेश की दृष्टि से ही है। ऊपर के कथन का आशय यह नहीं है कि किन्हीं प्रासंगिक विषयों को इसमें सम्मिलित नहीं करना चाहिए था, वास्तव में इनके अभाव में किसी बड़े उपन्यास का ढाँचा नहीं खड़ा किया जा सकता। किन्तु उनके औचित्य की परीक्षा, इस दृष्टि से, इसी आधार पर होगी कि उन्होंने मूल कथानक को किस सीमा तक प्रभावित किया है और यह भी कि वे उसके विकास में किस सीमा तक सहायक हुए हैं।

इसी बौद्धिक प्रवृत्ति के अन्तर्गत सामाजिक व्यावहारिकता के पक्ष का उद्घाटन करनेवाला उनका दूसरा उपन्यास 'बाहर भीतर' है, जिसका कथानक नायक और सुमित्रा भाभी को केन्द्र बनाकर निर्मित किया गया है। जहाँ तक शिल्प-रूप के प्रयोग का सम्बन्ध है, इसमें प्रथम पुरुष के रूप में, अर्थात् आत्मकथात्मक शैली के माध्यम से सारी कथा कही गयी है। चित्रण की कुशलता के बावजूद उपन्यास में वातावरण का प्राधान्य नहीं हो पाया है। कथा का गठन एक सुनिश्चित क्रम के आधार पर किया गया है। कथा का फैलाव सीमाओं के भीतर ही हुआ है और कहीं भी उसमें सूत्रगत शिथिलता नहीं मिलती। कथा का व्यावहारिक रूप से आरम्भ होता है नायक के विद्यार्थी-जीवन से। प्रारम्भ से अन्त तक इसमें कथा का केन्द्र नायक ही रहा है और उसमें मोड़ केवल वहीं आये हैं जहाँ स्वयं प्रधान कथा-सूत्र मुड़ा है। नायक का विद्यार्थी-जीवन, सुमित्रा भाभी के सम्पर्क में आना, अख्तर और कान्ता का आकर्षण, विवाह सभी चित्र रूप में स्पष्टता से सामने आते हैं। पात्रों या अनावश्यक घटनाओं के अभाव के कारण कथानक की प्रभावात्मकता बढ़ गयी है। प्रथम पुरुष की ओर से कही गयी इस कृति का स्थान हिन्दी के श्रेष्ठ लघु उपन्यासों में है।

'अज्ञेय' द्वारा प्रवर्तित 'आत्म-विश्लेषणात्मक-स्मृति-चित्र' शैली का आरम्भ 'शेखर : एक जीवनी' के द्वारा हुआ था। उसी की परम्परा में आनेवाला जनार्दन मुक्तिदूत का उपन्यास 'अधूरा उपन्यास' है, जो प्रयोग की नवीनता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। उपन्यास का प्रमुख पात्र पद्मकान्त है। वह स्वयं उपन्यास के रूप में अपने जीवन को देखता है और उन परिस्थितियों को आत्म-विस्मृत नहीं करना चाहता, जिनसे उसका जीवन बना है। अपने जीवन को एक उपन्यास का रूप देने के लिए वह अपनी अतीत स्मृतियों में विचरण करता है, उन्हें ताजा करता है, उसमें से वे तार खोजता है जिनकी सहायता से वह अपने जीवनरूपी उपन्यास का ताना-बाना बिनेगा। पद्मकान्त की इस जीवन-गाथा को निर्मित होने में जो अन्य पात्र विशेष रूप से सहायता देते हैं, उनमें श्रीराम, अनुराधा व आनन्द आदि उल्लेखनीय हैं। विविध पात्र-पात्रियों के साथ ही प्रधान पात्र के सामने की परिस्थितियाँ, जो उनके जीवन को संघर्षशील बनाती हैं, इस औपन्यासिक वातावरण के निर्माण में सहायक होती हैं। इस उपन्यास की एक बड़ी शिल्प-विशेषता यह भी है कि उसका प्रधान कथा-सूत्र एकाएक एक स्थान पर, किसी सीमा तक विकसित हो जाने के बाद टूट जाता है और लगता है कि अब उपन्यास आगे नहीं बढ़ेगा। परन्तु वहाँ से अनुराधा के चरित्र को अपना आधार बनाकर चलनेवाले सूत्र का तुलनात्मक महत्व अन्य सभी सूत्रों से बढ़ जाता है और वही उपन्यास को कथात्मक पूर्णता प्रदान करता है। इस दृष्टि से उसी का महत्व सर्वाधिक है।

इसी परंपरा में प्रभाकर माचवे का नाम भी आता है, जिनके उपन्यासों में 'परंतु' तथा 'द्वाभा' उल्लेखनीय हैं। 'परंतु' प्रयोगात्मक शिल्प को लेकर चलने वाला उपन्यास है। इसके कथानक की विशेषता यह है कि उसमें विविध कहा-नियाँ-स्केचों को एकात्मक रूप देकर उपन्यास बनाया गया है। इस दृष्टि से उपन्यास की सबसे बड़ी कमी यह है कि उनकी एक-सूत्रात्मक-रेखा इतनी कमजोर है कि उसके सहारे इन सब को एक में नहीं बाँधा जा सकता। कथानक में बिखराव और असंगति का कारण यही है। कथा का केन्द्र प्रधान पात्र अविनाश है जिसके चारों ओर घेरा-सा बनाकर आनेवाली सहायक कथाएँ हैं, अमिय, अनीता और हेम की कथाएँ। इस प्रकार से उपन्यास के निर्माण का जो ढाँचा खड़ा किया गया है, वह पूर्ण अशक्त नहीं है। मुख्य कमी यही

है कि वे न तो मूल कथा को विकास की गति देती हैं और न उसे पद्य-रूप में किसी सीमा तक प्रभावित ही करती हैं। इसीलिए कथानक ठोस नहीं बन पड़ा है और खोखला-सा प्रतीत होता है। प्रसंग रूप से किन्हीं जीवन-चित्रों का समावेश अवश्य हुआ है और उनमें लेखक ने अधिक से अधिक मार्मिकता भरने का प्रयत्न किया है। ये प्रसंग उपन्यास को आवश्यक गठन दे सकते थे, यदि इनका थोड़ा भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध मूल कथानक से होता परन्तु उसके अभाव में ये सूत्र-रहित होकर अप्रासांगिक प्रतीत होते हैं, जिनके फलस्वरूप उपन्यास में अनावश्यक विस्तार आ गया है। अमिय और अनीता का प्रेम होने के बाद अनीता का रंगून के किसी व्यापारी से विवाह हो जाना बिल्कुल नाटकीय मालूम होता है, जिसमें स्वाभाविकता नहीं और गीता के सिद्धांतों की विवेचना विषय से एकदम बाहर है और जो उपन्यास की सूत्रबद्धता में एक बाधा बन जाती है।

प्रभाकर माचवे के दूसरे उपन्यास 'द्वाभा' का नाम शिल्प-रूपों के विविधता समावेश की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसमें डायरी-शैली, वर्णनात्मक-शैलो, खंड-शैली, आदि विविध शिल्प-रूपों का प्रयोग किया गया है। इन विविध शिल्प-रूपों के प्रयोग के फलस्वरूप उपन्यास पर मुख्यत: दो प्रभाव पड़े हैं। एक तो यह कि इनके कारण कथानक में बिखराव आ गया है और उसकी एक-सूत्रात्मकता सुरक्षित नहीं रह सकी है। दूसरे चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उपन्यास कमजोर हो गया है।

इस परंपरा में राजनैतिकता की प्रवृत्ति को प्रधानता देकर आनेवालों में अमृतराय का नाम उल्लेखनीय है, जिनके 'बीज', 'नागफनी का देश' तथा 'हाथी के दाँत' आदि उपन्यासों को इसमें रखा जा सकता है। उनके 'बीज' नामक वृहत् उपन्यास के कथानक का व्यावहारिक आरंभ होता है सत्यवान् के जेल से छूटने से। परन्तु जेल का यह प्रवास उसके जीवन में महान परिवर्तन ला देता है। वह जेल-जीवन में विशेष रूप से वीरेन्द्र के साथ रहने के कारण कम्यूनिस्ट विचार-धारा को भो साथ ले लेता है। यहाँ तक की कथा एक विशेष परिस्थिति का ही चित्रण करती रह जाती है। परन्तु अब उसमें खिंचाव उत्पन्न होता है जब सत्यवान् अपनी पत्नी उषा को भी वे ही शिक्षाएँ देने का प्रयत्न करता है, यद्यपि इसमें उसे सफलता नहीं मिलती। उपन्यास की विकास-गति में फिर मोड़ आता है और सत्यवान् को जेल जाना पड़ता है। अब उषा उसके उपदेशों के महत्व को समझती है और कर्म-

क्षेत्र में कूद पड़ती है। अब कथा में अन्य अनेक पात्रों—पार्वती, प्रमिला, अमूल्य; राजेश्वरी, जमुना आदि—का समावेश होता है और कथा संघर्षपूर्ण जीवन के बाद शांति की झलक दिखाने के उद्देश्य के साथ समाप्त होती है। इसमें प्रासंगिक रूप से जिन कम्यूनिस्ट सिद्धांतों और दर्शन का समावेश किया गया है वे उपन्यास की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए इस माध्यम के उपयुक्त नहीं थे। इसलिए उनके फलस्वरूप उपन्यास की कथा बोझिल हो गयी है तथा प्रभावात्मकता कम।

अमृतराय के 'नागफनी का देश' नामक लघु उपन्यास का महत्व कथा-शिल्प की दृष्टि से अधिक है। इस उपन्यास में कथानक को ठीक उसी क्रम से नहीं प्रस्तुत किया गया है, जिस क्रम से घटनाएँ घटित होती हैं। कथा का व्यावहारिक आरंभ एक ऐसे पति-पत्नी से होता है, जिनके जीवन में विचित्र-सी स्थिरता छा गयी है। उनके बीच में प्रेम नाम की कोई वस्तु नहीं रह गयी है और न वे दोनों एक दूसरे से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध रखते हैं। पति रणजीत और पत्नी बेला इस स्थिरता से ऊकता गये हैं, परन्तु उन्हें छुटकारे का कोई मार्ग नहीं दिखायी देता। कथानक की यह स्थिरता भंग होती है श्रीकांत के आगमन से। एक उत्सुकता सी अब जागती है। बेला श्रीकांत की झूठी बातों में आकर उसकी ओर आकृष्ट होती है। रणजीत यह देख वहाँ से चला जाता है। नाटकीय रूप से मदालसा का प्रवेश कथा के मंच पर होता है और बेला के समक्ष श्रीकांत का वास्तविक स्वरूप आता है। नाटकीयता के इसी उलझाव में कथा की समाप्ति हो जाती है।

राजनैतिकता की पृष्ठभूमि में ही उनका उपन्यास 'हाथी के दाँत' लिखा गया है। इसकी कथा प्रधानतः ठाकुर परदुमन सिंह से संबंध रखती है। कोई विशेष काल-सीमा इस कथा से विशेष रूप से संबंध नहीं रखती, क्योंकि ठाकुर साहब समाज और देश की प्रत्येक परिवर्तित तथा सम्भाव्य और असम्भाव्य परिस्थिति में अपने आपको फिट कर सकनेवाले व्यक्ति हैं और किसी भी राज्य-व्यवस्था में उन्हें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। उनके अत्याचार और अनीति की कथाएँ भी संख्या में बराबर बढ़ती रहती हैं। अँग्रेजों के शासन में वह उनके समर्थक रहते हैं और काँग्रेसी शासन में एम० एल० ए० होकर काँग्रेस सरकार की सेवा करते हैं। उपन्यास की कथा व्यंग्यात्मक रूप में सामने रखी गयी है। कथा का व्यावहारिक रूप से प्रारंभ ठाकुर साहब और चम्पाकली के प्रेम से होता है। ठाकुर साहब एक के बाद दूसरे प्रलोभनों का जाल उसके चारों ओर फेरकर अन्त में

उसे बाँध ही लेते हैं। परन्तु बाद में ऐसा लगना है कि यह कथा का प्रारंभिक सूत्र होते हुए भी विकासशील कथा-सूत्र नहीं था। परन्तु आश्चर्य तब होता है जब आगे भी ऐसी ही छुटपुट घटनाओं को ही कथा के नाम पर सामने रखा जाता है। वास्तव में इनका महत्व चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ही है, कथात्मकता की दृष्टि से नहीं। उनकी सबसे बड़ी कमी यह है कि उनमें कोई सूत्रबद्धता नहीं है। यही कारण है कि स्थान-स्थान पर कथा-प्रवाह भंग हो गया है। इसी दोष के कारण इस उपन्यास के कुछ पात्र बाहरी व्यक्तियों से लगते हैं, मानो वे बीच में कहीं से दर्शक-रूप में आकर खड़े हो गये हों। रावल, चंद्रिका प्रसाद, रामबिहारी चतुर्वेदी, रामसिंह, आजाद जी तथा रत्ना आदि प्रासंगिक रूप से आये ही प्रतीत होते हैं। कथानक के इस बिखराव के कारण उसमें कोई केन्द्रीय एकसूत्रता नहीं मिलती। शिल्प के कुछ नये रूप-प्रयोगों से कथा-विकास की एक मात्र विशेषता, इस दृष्टि से, इस उपन्यास में मिलती है।

उपर्युक्त परंपरा में ही राजनैतिक पृष्ठभूमि पर कथा-रचना करनेवालों में विष्णु प्रभाकर का नाम आता है। उनका लिखा हुआ उपन्यास 'निशिकान्त' है, जिसका कथानक प्रथम महायुद्ध के बाद भारत की राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों पर आधारित है। कथा का व्यावहारिक आरम्भ होता है प्रधान पात्र के राष्ट्रीय कार्य-क्षेत्र में पूरे उत्साह से सम्मिलित हो जाने के साथ। स्वभावतः इसमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए गये अनेक प्रयत्नों का मूल या प्रासंगिक कथाओं के रूप में वर्णन किया गया है। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ये सारे उप-कथा-तत्व मूल कथा को केन्द्र बनाकर उसके चारों ओर घूमते ही रहे हैं। निशिकांत इस कथा का केन्द्र है। उसके जीवन में अनेक मोड़ आये हैं। वह देश-सेवा की लगन के पीछे सरकारी नौकरी छोड़ता है, आर्य समाज का समर्थक बनता है, फिर कहानियाँ भी लिखने लगता है। उसका कमला के प्रति आकर्षित होना और कमला का सोहन कृष्ण से विवाह होना आदि घटनाओं का आधार नाटकीय तत्व हैं। बाद में वे नाटकीय रूप से ही एक-दूरे के निकट आते हैं। उपन्यास का अंत कथात्मकता की दृष्टि से बहुत अच्छा नहीं बन पड़ा है।

नरेश मेहता का उपन्यास 'डूबते मस्तूल' इस परंपरा की अगली कड़ी है, जिसका महत्व शिल्प की नवीनता के कारण है, यद्यपि उसमें लेखक को किस सीमा तक सफलता मिली है, यह कहना कठिन है। इस उपन्यास की सबसे पहली

विशेषता, इस दृष्टि से, यह है कि इसमें कथा के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक केवल दो ही पात्र सामने आते हैं—रंजना और अकलंक। कथा का प्रारम्भ रंजना के कथा सुनाने से होता है जो अकलंक सुनता रहता है। कहीं-कहीं अकलंक भी उत्सुकता-वश आगे की कथा जानने की इच्छा प्रकट करता है और रंजना फिर आगे की कथा कहने लगती है। सभी अन्य घटनाओं और उसके सम्बद्ध पात्रों की चर्चा प्रासंगिक रूप से की गयी है। इसी रूप में सामाजिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है।

इस परंपरा में आनेवाले केवल तीन और उपन्यासकारों की चर्चा करना यहाँ पर्याप्त होगा। ये उपन्यासकार गिरिधर गोपाल, कमल जोशी तथा राजेन्द्र यादव हैं।

'चाँदनी के खण्डहर' गिरिधर गोपाल का एकमात्र उपन्यास है। इस उपन्यास का महत्व शिल्प के नये प्रयोग की दृष्टि से है। लघु उपन्यास होने के कारण इसका कथा-विस्तार स्वभावत: ही अधिक नहीं है। छोटे कथानक में घटनाएँ भी उसकी सीमाओं के भीतर ही हैं और घटना-बाहुल्य से उसमें व भिलता नहीं आने पायी है। कथा का केन्द्र एक मध्यवर्गीय परिवार है। कथा की आधार-भूमि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद की सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। उपन्यास का नायक वसन्त है, जो क्षय से ग्रस्त है। कथा का काल-विस्तार बहुत कम है—केवल चौबीस घण्टे। कथा का आरम्भ नायक वसन्त के सबेरे छै बजे इलाहाबाद स्टेशन पर आगमन से होता है और दूसरे दिन छै बजे कथा की समाप्ति हो जाती है। परन्तु इस शिल्प-विधान की नवीनता के अतिरिक्त इसमें कोई अन्य विशेषता नहीं मिलती। काल-क्षेत्र, काल-सीमा तथा कथा-विन्यास की दृष्टि से इसे निश्चय ही नयी पीढ़ी का एक उल्लेखनीय उपन्यास कहा जायगा।

'बहता तिनका' कमल जोशी का सर्वप्रथम उपन्यास है। इसकी कथा का केन्द्र-बिन्दु 'लता' का जीवन है। कथा में मोड़ नायिका को आधार बनाकर चलने वाले प्रधान कथा-सूत्र के साथ ही आते हैं। छोटे-से कलेवर के इस उपन्यास में घटनाओं का फैलाव-बिखराव आवश्यकता से अधिक है। कथा के उप-सूत्र और सहायक सूत्रों के रूप में अनेक प्रासंगिक घटनाओं का समावेश हुआ है। केवल प्रवाहात्मकता के गुण के ही कारण यह घना जाल कथा को प्रभावित नहीं करता

और उसकी रोचकता बनी रहती है। कथा को जहाँ-जहाँ मोड़ दिये गये हैं, वहाँ बहुधा नाटकीय तत्वों का भी समावेश दिखायी देता है।

इसी परम्परा में, राजेन्द्र यादव के लिखे हुए उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' का नाम भी लिया जा सकता है, जो कथा-वस्तु के काल-विस्तार की दृष्टि से बहुत कम अवधि का है, परन्तु इसका घटना-विस्तार उसकी अपेक्षा अधिक है। इसकी वस्तु-सामग्री आधुनिक भारत के एक-दो नगरों से सम्बन्ध रखती है। इसकी पृष्ठ-भूमि राजनैतिक-सामाजिक है। कथा-सूत्र का प्रारम्भ होता है शरद और जया के परिचय से। परन्तु इस सूत्र का मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। कथा में औत्सुक्य का समावेश उस समय से होने लगता है, जब शरद जया को लेकर एक नये रूप में अपना जीवन आरम्भ करने चल पड़ता है। एक प्रकार से कथा का प्रारम्भिक सूत्र यहाँ समाप्त हो जाता है, जिससे अब मूल सूत्र उपजता है। व्यावहारिक रूप से कथावस्तु का आरम्भ यहीं से होता है। देशबन्धु जी के यहाँ यहाँ से मूल सूत्र अपने आसपास कई सह-कथा-सूत्रों को भी लेता चलता है, जिनके आधार पर उसमें अनेक प्रासंगिक कथाओं के समावेशित होने की सुविधा रहती है। इनमें एक सह-कथा सूत्र है, सूरज जी से सम्बन्ध रखनेवाला, दूसरा मायादेवी से सम्बन्ध रखने वाला, तीसरा पद्मा से और चौथा अन्य गौण पात्रों से, जिनका इस कथा-खण्ड में योग है। एक दृष्टि से यहीं कथात्मक एकता का निर्वाह नहीं हो सका है ये विविध सह-कथा-सूत्र मूल कथा की उपेक्षा करते हुए बराबर विकसित होते रहते हैं। कहीं-कहीं प्रासंगिक कथाओं ने मूल-कथा-स्रोत को भी बाधा पहुँचायी है और उनका स्थान उससे अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। उद्घाटन, कविता-पाठ जैसी प्रासंगिक कथाएँ निरर्थक-सी लगती हैं। पाठक को यह आशा होती है कि सम्भवत: इन सब कथा-सूत्रों और सह-कथा-सूत्रों को आगे चलकर संयोजित किया जायगा, परन्तु ऐसा नहीं होता। ये सभी सूत्र समान रूप से विकास को प्राप्त होते हैं। अन्त में चरम सीमा पर आकर पद्मा के अपनी सम्मान-रक्षा के लिए खिड़की में से नीचे फाँद पड़ने के साथ कथा का नाटकीय रूप से अन्त होता है। इस कथानक की क्षीणता का प्रमुख कारण है पात्रों के चित्रण की ओर उपन्यासकार द्वारा अधिक ध्यान दिया जाना, जिनके चरित्र-विकास में कथा सहायक मात्र प्रतीत होती है।

संक्षेप में, प्रेमचन्द के परवर्ती युग में हिंदी उपन्यास की विविध विकास-

धाराओं में से एक मनोविश्लेषणात्मक तत्वों को प्रधानता देकर विकसित हुई। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, इसका एक रूप वह है, जिसमें बौद्धिकता का आग्रह अपेक्षाकृत अधिक है इस दृष्टि से इस प्रवृत्ति के प्रमुख उपन्यासकार 'अज्ञेय' हैं। परन्तु 'अज्ञेय' के अतिरिक्त और भी बहुत से उपन्यासकार ऐसे हैं, जिनकी औपन्यासिक कृतियाँ इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत आती हैं। उनकी कृतियों के कथा-शिल्प के रूपों के संदर्भ में पिछले पृष्ठों में चर्चा की जा चुकी है। हिन्दी उपन्यास की वर्तमान विकास-धाराओं में इसकी भावी संभावनाएँ सबसे अधिक हैं।

अध्याय ८

उपसंहार

उपन्यास में शिल्प-कला और उसका महत्व

आज विश्व-साहित्य में उपन्यास का महत्व कितना अधिक बढ़ गया है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन इसके साथ ही यह कहना अनुचित न होगा कि आज जीवन के माप भी बहुत बदल गये हैं और निरन्तर परिवर्तित होते जा रहे हैं। आज संभवतः संसार की प्रत्येक समृद्ध भाषा के साहित्यकारों के सामने यह समस्या अत्यंत गंभीर रूप में उपस्थित है कि वे अपनी कृतियों को वर्तमान मानव-जीवन के अनुरूप कैसे बनायें। निस्संदेह, इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त करना बड़ी प्रतिभाओं का काम है और अब तक देखा गया है कि ऐसे प्रयत्नों में प्रायः उन्हीं लोगों को सफलता मिलती भी रही है। यह भी सत्य है कि अभी इस क्षेत्र में उन प्रतिभाओं के अभाव के चिन्ह भी नहीं लक्षित हो रहे हैं, जिनके समान क्षमताशाली प्रतिभाओं के न होने पर गतिरोध की संभावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और बहुत शीघ्र ही इस गतिरोध के बादल साहित्याकाश पर छा जाते हैं।

उपन्यास के क्षेत्र में जो शिल्प-विकास हुआ, और उस विकास के पूर्व उसके शिल्प के क्षेत्र में जो-जो प्रयोग किये गये, उनके मूल में उपर्युक्त प्रेरणा ही थी। वास्तव में शिल्प-विकास में वह प्रयोग ही अपना योग दे सकता है, जो अन्य अनेक गुणों के साथ ही यथार्थ में अपने युग का प्रतिनिधित्व कर सकने की भी सामर्थ्य रखता हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के प्रयोग भी महान प्रतिभाओं द्वारा अब तक होते रहे हैं। उपन्यास में शिल्प-कला का जो आश्चर्यजनक विकास हुआ है और उसके रूप-निर्माण में जो आश्चर्यजनक प्रगति हुई है, उसके पीछे उन्हीं प्रतिभाओं का योगदान है, जिन्हें अपने युग की समस्याओं का गहन तथा तीखा अनुभव हुआ था।

लेकिन इतना भर हो जाने से मूल समस्या हल नहीं हुई। अर्थात् किन उपायों का अवलंबन करके एक औपन्यासिक कृति पूर्ण और समग्र रूप से अपने युग का प्रतिनिधित्व कर सकती है, इसके विषय में कोई ऐसे निष्कर्ष नहीं निकाले जा सके, जो अंतिम कहे जा सकते। अधिक स्पष्ट कहा जाय, तो यह समस्या आज के उपन्यासकारों के सामने जितने गंभीर रूप में उपस्थित हुई है, उतनी संभवतः पहले के उपन्यासकारों के सामने कभी नहीं रही थी। अवश्य ही इसका कारण जन-जीवन विषयक बदली हुई मान्यताएँ हैं। लेकिन यह बाद की बात है कि उसे बराबर प्रगतिशील बने रहना चाहिए और अपने निरंतर उन्नत होते रूप का परिचय देते रहना चाहिए। इससे भी पहले जो बात आवश्यक है, वह यह है कि यदि वह अपेक्षाकृत अधिक उन्नत रूप-निर्माण में असमर्थ है, तो कम से कम अपने उस रूप को तो स्थिर रख सके, जो अब तक निर्मित हो चुका है ; और युग के साथ कदम मिलाकर चल सके। परन्तु तथ्य यह है कि इतनी सामर्थ्य भी होना कोई कम महत्वपूर्ण बात नहीं है। और ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यही पता चलेगा कि इसके लिए भी उन्हीं प्रयत्नों की आवश्यकता होती है, जिनकी दूसरी के लिए। बहुत सम्भव है कि हम इस परिणाम पर आएँ कि आज उपन्यास के रूपों में जो बड़ा परिवर्तन हो गया है, उसके लिये किये गये प्रयत्न मूल रूप से उपर्युक्त पहलीवाली बात के लिये ही किये गये थे अर्थात् उनके रचयिता युग की माँग की पूर्ति करना चाहते थे।

उपर्युक्त विवरण से इतना स्पष्ट है कि आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व विश्व की अन्य समृद्ध भाषाओं में जो औपन्यासिक कृतियाँ उपलब्ध थीं, उनमें और आज के उपन्यासों में, इस दृष्टि से भारी भेद पाया जाता है। लेकिन यहाँ केवल हिन्दी उपन्यास के विशेष सन्दर्भ में ही इस विकास का अध्ययन करने का प्रयत्न किया जायगा।

यह समझा जा सकता है कि यह परिवर्तन और विकास केवल कथा-शिल्प के क्षेत्र में हुआ है ; परन्तु ऐसा नहीं है। वास्तव में प्रत्येक दृष्टि से इस युग के उपन्यासों और पूर्ववर्ती उपन्यासों में भारी अंतर मिलता है। आज का उपन्यासकार केवल मनोरञ्जन और चमत्कार-सृष्टि के लिये ही जमीन-आसमान के कुलाबे नहीं मिला करता। आधुनिक युग में, जब कि मानवीय मूल्यों के विघटन की समस्या गम्भीर रूप में उपस्थित है, उपन्यासकार अपने दायित्व की

गहनता को भली भाँति समझता है और यथाशक्ति उसके निर्वाह का प्रयत्न करता है। वह केवल कथा को ही नये रूप-शिल्प का आधार देकर विकास की ओर नहीं अग्रसर करता है, वरन् उस विकास के बीच अपने जीवन-दर्शन को स्पष्ट करने के लिये भी यथेष्ठ अवसर निकाल लेता है, और निस्संदेह उसमें कला से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों की सम्भावना भी हो सकती है।

एक दृष्टि से देखा जाय तो आज के इस यन्त्र युग में मानवीय-मूल्यों का विघटन इस युग की प्रमुख समस्याओं में से एक है। इसका एक कारण यह भी है कि आज न केवल जन-जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखनेवाले दृष्टिकोण और मान्यताएँ परिवर्तित हो गयी हैं, वरन् एक ऐसा बिखराव-सा उत्पन्न हो गया है, जिसका कहीं अन्त ही नहीं दिखायी देता। इसीलिए साहित्य के क्षेत्र में एक प्रकार की ऐसी अस्त-व्यस्तता सी मिलती है, जिसका संयोजन कठिन जान पड़ता है। स्पष्ट है कि यह कोई ऐसी सामान्य समस्या नहीं है, जिसका निराकरण शीघ्र ही किया जाना सम्भव हो। और न यह ऐसी समस्या है, जिसे कुछ लोग थोड़ा प्रयत्न करके सुलझा सकें। वास्तव में यह इस युग की एक विशिष्ट समस्या है, जिसको सुलझाने में युग की सारी प्रतिभाओं को जमकर संघर्ष करना होगा। यह कहना भ्रामक होगा कि उसके विरुद्ध ऐसे प्रयत्न नहीं किये जा रहे हैं। प्रयत्न अवश्य हो रहे हैं, परन्तु उनमें जो मुख्य अभाव लक्षित हो रहा है, वह है एक सामूहिक दायित्व-भावना का, जिसके बिना सफलता मिलना सम्भव नहीं है।

स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी-उपन्यास ने अपनी लगभग सौ वर्षों की यात्रा में जो प्रगति की है, वह निराशाजनक नहीं है। सामान्यतया हिन्दी उपन्यास के विकास को तीन-चार युगों में विभक्त किया जा सकता है और यह स्पष्ट है कि इन विविध विकास-युगों में जो प्रगति हुई है, वह एक निश्चित प्रक्रिया के अनुसार हुई प्रतीत होती है। यद्यपि अलग से देखने पर उसकी प्रगति को इतना नियमित-निश्चित नहीं समझा जा सकता है। वास्तव में, साहित्य में प्रगति का कारण, या नये मोड़ों का उदय किसी समय विशेष, अवसर विशेष अथवा युग विशेष की आवश्यकता के अनुसार नहीं होता है, बल्कि वह साहित्यिक विकास की आवश्यक और स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो स्वयं ही गतिशील रहती है। उसे किसी वाद, आंदोलन या प्रवृत्ति के योग की आवश्यकता

नहीं पड़ती। यही कारण है कि आवश्यकतानुसार समय-समय पर साहित्य में नवीनता का आविर्भाव होता चलता है और पुरानी वस्तुओं में ही नये विकास की संभावनायें परिलक्षित होती हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि किन्हीं विशेष अवसरों पर ही नवीनता का आविर्भाव आकस्मिक रूप से होता है, बल्कि सिर्फ यह कि समसामयिक साहित्य-धाराओं में ही, पुरातनता के बीच, नये विकास के रूपों के परिचायक तत्व दिखायी देने लगते हैं अर्थात् उन्हीं पुरातन सिद्धांतों में नवीनता के बीज फूटते दिखायी देते हैं और आगे चलकर, विकास को प्राप्त होने पर वे ही नये रूपों का निर्माण करते हैं।

विभिन्न युगों में उपन्यास का एक ही रूप नहीं मिलता, बल्कि प्रत्येक युग में उसके नये रूप-शिल्प मिलते हैं। इसका एक कारण यह है कि प्रत्येक युग में अपनी-अपनी समस्याएँ रहती हैं और युग-परिवर्तन के साथ ही साथ उनमें भी परिवर्तन होता रहता है। उपन्यास इन्हीं समस्याओं के आधार पर किसी विशेष युग का प्रतिनिधित्व करने का दावा करता है। इसीलिए प्रत्येक युग में कला के नये रूपों का प्रादुर्भाव होता है। ये कला के नये रूप प्रत्येक युग की परिस्थितियों की भिन्नता के कारण विकसित होकर भी नवीन रूप धारण कर लेते हैं। यह एक महत्वपूर्ण गति-विकास-सिद्धान्त है, जिसके अभाव में कोई उपन्यास किसी युग का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ नहीं हो सकता। उसमें किसी भी युग के जीवन का प्रतिबिंब मिलना दुर्लभ है उस युग की सांस्कृतिक चेतना की गहन अभिव्यक्ति की बात तो दूर। परन्तु यह रूप-परिवर्तन का कार्य तब होता है, जब साहित्यिक विकास में परिवर्तनशीलता की गति अपेक्षाकृत तीव्र हो जाती है। जाती है। और इसका कोई भी नया रूप जब जन्म लेता है, तब उसे अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में, उस पिछले रूप से संघर्ष करना पड़ता है, जो परिपक्व और स्थिर हो चुका होता है। लेकिन इससे नये रूप का विकसित होना ही आवश्यक नहीं हो जाता। इस संघर्ष के कई परिणाम हो सकते हैं। यह हो सकता है कि पिछला जमा हुआ रूप नये रूप को उसकी प्रारम्भिक अवस्था में ही दबा दे और विकसित ही न होने दे। यह भी हो सकता है कि नये रूप के विकास के बावजूद वह अपना अस्तित्व उसी प्रकार बनाये रखे; और यह भी हो सकता है कि वह नये रूप द्वारा सदैव के लिये मिटा जाय।

उपर्युक्त कुछ बातें यहाँ इसलिए कही गयी हैं कि इनकी पृष्ठभूमि में कथा-

शिल्प का विकास-क्रम भी भलीभाँति समझा जा सकेगा, क्योंकि प्रत्येक युग में उपन्यास-विकास के मूल में लगभग वैसे ही सिद्धांत कार्यशील रहे हैं। ऊपर कहा गया है कि रूप-विकास में परिवर्तन युग-परिवर्तन के साथ-साथ होता है, क्योंकि युगीन परिस्थितियों में भी सदैव परिवर्तन होता रहता है। यदि विशेष रूप से उपन्यास को ही ध्यान में रखकर देखा जाय, तो यह ज्ञात होगा कि उपन्यास के रूप-प्रकार में जो परिवर्तन होते हैं, वे स्वतः ही नहीं होते गये। अर्थात् उनके लेखकों ने भी यह अनुभव किया कि आज उपन्यास के पाठक उपन्यास को इस उद्देश्य से नहीं पढ़ते, जिससे वे सौ साल पहले पढ़ते थे या कि उपन्यास से वे उस प्रकार की कोई आशा नहीं करते, जिस प्रकार की उस समय करते थे। फिर क्या कारण है कि उनके सामने उपन्यास के रूप में कोई वैसी ही कृति रखी जाय, जिसमें सौ वर्ष पूर्व की औपन्यासिक कृति से कोई असमानता न हो? इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकारों ने इस विकास-काल के दौरान में बराबर युग की माँग का अनुभव किया है और यथासम्भव उसे पूरा करने का प्रयत्न किया है। यह हर्ष का विषय हो सकता है कि उन्होंने इस दृष्टि से न केवल उस माँग को पूरा किया है, वरन् उसके कला-रूप को भी विकास की ओर अग्रसर किया है।

कहने का आशय यह है कि पुराने और नये उपन्यासों में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर दिखायी देता है, वह उसके कथा-शिल्प के क्षेत्र का है। अवश्य उसके वाह्य और आन्तरिक रूपों से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अनेक परिवर्तन उसमें खोजे जा सकते हैं। किन्तु जैसा उपर कहा गया है, सबसे अधिक महत्व इसी का होना चाहिए। विषय की दृष्टि से उपन्यास में जो परिवर्तन हुआ है, उसकी थोड़ी चर्चा की जा चुकी है, परन्तु एक बड़ा प्रभाव, जो इस युग में उपन्यासों पर पड़ा है, वह है नये मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो आज ऐसे उपन्यासों की संख्या बहुत बड़ी मिलेगी। साथ ही, श्रेष्ठता के अनुपात में भी वे ही अधिक महत्व के कहे जायँगे। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास आधुनिक युग की ही देन नहीं हैं, वरन् उपन्यास में मनोवैज्ञानिक आधार को समावेशित करना पहले से ही आरम्भ हो चुका था। मुख्य बात उसकी वर्तमान प्रवृत्ति है, जो उसकी प्राचीन से विशिष्टता का कारण और प्रमाण है।

प्रायः ऐसा कहा जाता है कि आधुनिक युग के उपन्यासों में कथानक का

क्रमशः ह्रास हुआ है और होता जा रहा है। किसी सीमा तक यह बात सत्य है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन प्रश्न होगा कि इस कथानक-ह्रास के कारण कौन-कौन से हैं ? क्या यह युग की आवश्यकताओं के फल-स्वरूप हुआ है ? अथवा उसके आधुनिक रूप-विधान का ही यह आवश्यक परिणाम होना था ? वास्तव में देखा जाय तो मालूम होगा कि उपर्युक्त दोनों ही कारणों से ऐसा हुआ है। प्रारम्भ में उपन्यास में एक सम्पूर्ण युग को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न किया जाता था। ऐसा तब सम्भव होता था, जब उपन्यासकार किसी विस्तारपूर्ण और जटिल कथा के ताने-बानों को जोड़ता था। साथ ही, पहले किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति को कथा का प्रधान पात्र बनाकर उसके संपूर्ण जीवन या जीवन के पचास-साठ वर्षों का चित्रण प्रस्तुत किया जाता था। और इस दौरान में उन अनेक व्यक्तियों के चरित्रों को उसमें समाविष्ट कर लिया जाता था, जो किसी रूप में भी उसके संपर्क में आते थे।

यह कहना अनुचित होगा कि इस ढंग के उपन्यास आज नहीं लिखे जाते, लेकिन जो महत्वपूर्ण भेद कथा के क्षेत्र में, आधुनिक उपन्यासों से, उसमें है, वह यह है कि आज यह आवश्यक नहीं समझा जाता किसी बड़े या महत्वपूर्ण उपन्यास के लिये कथा का फैलाव भी उतना ही अधिक अथवा जटिल होना चाहिए। आज ऐसे भी अनेक उच्च कोटि के उपन्यास मिल जायँगे, जिनमें केवल एक सप्ताह, एक दिन, कुछ घंटों या कुछ मिनटों की ही कथा है। और यह एक तथ्य है कि श्रेष्ठता या कलात्मकता में वे उन उपन्यासों से घटकर नहीं कहे जाते, जिनमें एक लंबी अवधि की जीवन-घटनाओं को एक सूत्र में पिरोया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि अपेक्षाकृत इन उपन्यासों में ही अधिक प्रभाव, अधिक मार्मिकता और अधिक तीखापन पाया जाता है।

परन्तु यह केवल एक कारण हुआ। दूसरा कारण इसकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। वह है घटना के स्थान पर द्वंद्व का समावेश। पहले के उपन्यासों में बहुत-सी घटनाएँ होती थीं और उनके आधार पर कथा के ढाँचे को खड़ा किया जाता था। घटनाओं की संख्या जितनी अधिक होती थी, कथा का विस्तार भी उतना ही बढ़ता जाता था। लेकिन आधुनिक उपन्यासों में, जो इस कोटि में आते हैं, कथा या घटनाओं का फैलाव इस सीमा तक करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। फिर भी यह महत्वपूर्ण बात है कि उपन्यासों में घटनाओं की कमी के बावजूद

अपेक्षाकृत अधिक प्रतिभा और सूक्ष्म-दृष्टि सम्पन्नता की आवश्यकता होती है। ऐसे उपन्यास का लेखक तभी सफलता प्राप्त कर पाता है, जब वह बहुत क्षमतावान् हो।

ऊपर कही गयी बातें इस तथ्य को प्रकट करती हैं कि आज उपन्यास के आन्तरिक रूप में भी उतना ही परिवर्तन हो चुका है, जितना उसके बाह्य रूप में। हो सकता है कि इस परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई परिस्थितियाँ आज के उपन्यासकार के सामने एक विषम समस्या के रूप में खड़ी हों और यह भी हो सकता है कि वह उन्हें स्वाभाविक और युगोचित समझता हो। किन्तु यदि वे उसके सामने एक समस्या के रूप में आती हैं, तब उपन्यासकार अपने आपको एक विषम परिस्थिति में पाता है। क्योंकि वह युग-परिवर्तन के साथ ही साथ यह भी अनुभव करने लगता है कि कथानक का फैलाव या विस्तार एक श्रेष्ठ या वृहत् उपन्यास के लिये आवश्यक नहीं है। और वह यह भी भलीभाँति जानता है कि कथानक-रहित उपन्यास भी असम्भाव्य है। अवश्य वह अपनी सामर्थ्यानुसार इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा करता है, किन्तु वह यह भी अनुभव करता है कि उसे अब इस क्षेत्र में अनेक बन्धनों के साथ कुछ स्वतन्त्रता भी है।

एक उपन्यास में उसके प्रधान पात्र अथवा पात्री के जीवन की घटनाओं का लेखा-जोखा रहता है। इसके साथ ही उसमें वे अन्य पात्र भी आते हैं, जिनके संपर्क में नायक कभी आता है। लेकिन उन अन्य घटनाओं का समावेश एक सीमित क्षेत्र में होता है और वे एक प्रकार से नियन्त्रित रूप में सामने आती हैं। वैसे कथा की अवधि बहुत बड़ी नहीं होती। लेकिन यदि कथा की अवधि छोटी है, तब भी यह आवश्यक नहीं हो जाता कि वे घटनाएं तुच्छ या महत्व रहित हों। यही कारण है कि आज का उपन्यासकार उन अनेक बातों को व्यर्थ समझता है, जिनका समावेश अपनी कथा-कृति में करना पूर्ववर्ती उपन्यासकार आवश्यक समझते थे, या उन पर गौरव देते थे। आज के उपन्यासकार के लिये अतीत की घटनाओं का महत्व इतना ही है कि उनकी पृष्ठभूमि में ही वह उस जीवन-खण्ड को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से सामने रख सकता है, जिसे व्यक्त करना उसका प्रमुख उद्देश्य होता है। लेकिन शिल्प की दृष्टि से यह उत्तम होता है कि वे किसी विचारधारा के सन्दर्भ में उड़ती-उड़ती सी आएँ और सार की बात प्रकट कर चली जाएँ, जिससे वर्तमान के स्वरूप-निर्माण का रहस्य प्रकट होता हो, न कि वे घटनाएँ उपन्यास की मूल कथा को

आक्रांत कर दें। यदि उनका समावेश इस ढंग से नहीं किया जाता, तो वे उपन्यास की मूल कथा का ही एक अंश होकर रह जाती हैं और तब उपन्यासकार के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह उसमें तथा मुख्य कथा में कोई ऐसा स्पष्ट भेद कर सके, जो उद्देश्य पर कोई प्रभाव न डालता हो। कथा-शिल्प के क्षेत्र में घटना-विन्यास की दृष्टि से जो विकास हुआ है, उसमें इसका महत्व बहुत अधिक है।

अवश्य ही विकास की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है। परन्तु ऐसा देखा जाता है कि जहाँ भी उपन्यासकार मूल कथा में अधिक प्रभाव भर सकने की अपनी सामर्थ्य जताता है, वहाँ इसके कुछ अवगुण भी उभर आते हैं, जो मूल कथा को प्रभावित करते हैं। फल यह होता है कि मूल कथा से सम्बद्ध घटनाएँ क्षीण रूप में सामने आती हैं, पूर्ण रूप से उभर कर नहीं। वास्तव में अतीत की घटनाओं का अप्रत्यक्ष रूप से मूलकथा में सम्मिलित होना जिस मनोवैज्ञानिक दृष्टि की अपेक्षा करता है, वह प्रत्येक उपन्यासकार में नहीं होती। लेकिन जब उसके अभाव में भी उपन्यासकार इस दिशा प्रयत्नशील होता है, तब परिणाम यह होता है कि वे घटनाएँ उपन्यास में इस प्रकार आती हैं कि उनका मूल कथा से कोई सीधा संबंध नहीं भासित होता। अतः या तो वे कथानक की एकता या सम्बद्धता को भंग कर देती हैं, और या कथा के आनुपातिक सन्तुलन में अन्तर ला देती हैं। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा प्रभाव उनके संयोग से मूल कथा पर पड़ता है, वह यह कि यदि वे किसी सीमा तक भी अरोचक होती हैं, तब संपूर्ण कथा की सरसता को समाप्त कर देती हैं।

घटनाओं के समावेश के इस क्रम के विषय में एक और बात ध्यान देने की है। प्राचीन कथा-साहित्य में घटना-चक्र या कथा-वस्तु एक सिरे से आरम्भ होती थी और दूसरे सिरे पर जाकर समाप्त होती थी। आज की तरह उसमें अतीत की घटनाओं के समावेशित होने का प्रश्न नहीं उठता था। यदि कभी होता था तो वे किसी मनोवैज्ञानिक आधार को लेकर नहीं आती थीं। वे प्रायः किसी घटना या मूल कथा के किसी अंश-विशेष के संदर्भ में आती थीं। परिणाम यह होता था कि वे एक प्रकार की चमत्कार-सृष्टि करती थीं और उनके योग से रोचकता में भी वृद्धि होती थी।

इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में मूल कथा के अतिरिक्त जो अन्य कथाएँ आती थीं, उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रायः कथानक

के बाह्य रूप से होता था। परन्तु आधुनिक कथा-साहित्य में इस प्रकार की घटनाएँ उस रूप में न आकर एक प्रकार से उसके आन्तरिक पक्ष से सम्बद्ध होकर आती हैं और किसी मानसिक या आन्तरिक समस्या के किसी उलझाव को खोलती हैं।

उपर्युक्त तथ्य को पौराणिक या वैदिक-कालीन साहित्य के संदर्भ में अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। उसमें किसी कथा की किसी घटना-विशेष में यह बताया जाता था कि अमुक व्यक्ति को उसके किस पूर्व जन्म के किस पाप अथवा पुण्य, या शाप अथवा वरदान का कोई फल मिला। और उसी स्थल पर उस वरदान या शाप, या पाप-पुण्य की पूरी कथा वर्णित कर दी जाती थी। बहुधा ऐसा भी होता था कि उसका सम्बन्ध ऐसी किसी एक घटना से न होकर कई घटनाओं से होता था और फिर उसी क्रम से वे सब घटनाएँ उसमें समाविष्ट होती थीं। स्पष्ट है कि इसमें आधुनिक कथा-साहित्य में समाविष्ट होने वाली घटनाओं की शैली को बिल्कुल नहीं अपनाया जाता था। और यदि कहीं-कहीं उस युग के कथा-साहित्य में इस प्रकार की घटनाएँ रोचकता-वृद्धि में किसी सीमा तक बाधक सिद्ध हुई हैं, तो कहीं-कहीं उनके समावेश के फल-स्वरूप ही कथा में इस प्रकार भी कौतूहल-सृष्टि आश्चर्यजनक रूप से हुई जान पड़ती है कि एकाएक उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया है।

परन्तु ऊपर दिये गये विवरण से यह आशय नहीं निकालना चाहिए कि वह कथा, जो अपेक्षाकृत लघु होती है और जिसमें घटनाएँ भी कम होती हैं, आकार में भी आवश्यक रूप से लघु ही होगी। वास्तव में मार्मिक चित्रण स्वभावतया ही विशद होता है। यदि कोई उपन्यासकार घटनाओं का जाल बिछाकर कथा में विस्तार ला सकता है, तो प्रयत्न करने पर वह मार्मिक अंशों में भी वही विशेषता उत्पन्न कर सकता है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जीवन की विभिन्न स्थितियों का मार्मिक विश्लेषण कर सकना कठिनतर कार्य है और आज, स्थूल रूप से, श्रेष्ठ उपन्यास की कसौटी भी यही बतायी जा सकती है। परन्तु इस प्रकार की कथा का चुनाव करते समय उपन्यास-लेखक को अपनी सीमाओं को भली-भाँति समझ लेना पड़ेगा, अन्यथा वह उसमें असफल सिद्ध हो सकता है। आधुनिक युग के श्रेष्ठ उपन्यासों में अनेक कृतियाँ ऐसी मिलेंगी, जिनमें प्रायः बहुत साधारण कथानक को चुना गया होता है। किंतु एक प्रतिभा शाली उपन्यासकार का यह काम होता है कि वह उसी लघु कथानक की छोटी सी परिधि में मानव-जीवन के अनेक तत्वों की

खोज करे। जिस कृति में इस प्रकार के जितने अधिक मार्मिक चित्रण होंगे, वह कृति आकार में भी उतनी ही बढ़ जा सकती है और वृहद् आकार वाले उपन्यासों की कोटि में सहज ही आ सकती है।

ऊपर मार्मिक विश्लेषण की बात कही गयी है। साथ ही यह भी कहा गया कि किसी सीमा तक मार्मिकता को भी श्रेष्ठ उपन्यासों का एक गुण माना जा सकता है। प्रश्न उठाया जा सकता है कि यह मार्मिकता एक उपन्यास में कैसे लायी जा सकती है। क्योंकि कोई स्थल या वर्णन मार्मिक बन पाता है और कोई नहीं। बात यह है कि यह प्रश्न परोक्ष रूप से यथार्थ से सम्बन्ध रखता है। वास्तविक अथवा यथार्थ अनुभव के अभाव में भी किसी विश्लेषण में मार्मिकता आना बहुत कठिन होता है। जो विश्लेषण मार्मिक होते हैं, वे प्राय: लेखक के निजी अनुभव के आधार पर सर्जित होते हैं। एक उपन्यासकार जीवन के उसी पक्ष के वैविध्य का चित्रण करता है, जिसके विषय में वह अपने आपको सुपरिचित समझता है। परिणामत: जिस लेखक का उसके वर्ण्य जीवन-पक्षों से जितना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, वह उसका उतना ही अधिक मार्मिक चित्रण कर सकता है। दूसरे शब्दों में, उसका जीवन-अनुभव जितना अधिक यथार्थ पर आधारित होगा, उसके उतने ही अधिक मार्मिक हो सकने की संभावना होगी।

यथार्थ अनुभव और मार्मिक विश्लेषण के विषय में ऊपर कही गयी बात सिद्धांत रूप में नहीं ग्रहण की जा सकती है। क्योंकि इस बात की सम्भावना भी हो सकती है कि किसी लेखक की किसी औपन्यासिक कृति में यथार्थ का पुट होते हुए भी मार्मिकता का अभाव हो। यथार्थ और उसका तीखा बोध, ये दोनों उसकी दृष्टि की तीव्रता और गहनता पर निर्भर होते हैं। वास्तव में किसी दृश्य या घटना का चित्रण यथार्थ होते हुए भी प्रभावरहित हो सकता है। उसे मार्मिक और तीखा बनाने के लिए उपन्यासकार के पास मनोवैज्ञानिक दृष्टि का होना आवश्यक है। अवश्य ही इसके फल-स्वरूप जिन वर्णनों की सृष्टि होती है, वे लेखक की गहन यथार्थ-चेतना के परिचय होते हैं।

हिन्दी उपन्यास की भावी संभावनाएँ : शिल्प की दृष्टि से

आज के युग में, जब कभी भी, किसी साहित्य या साहित्यांग की भावी सम्भावनाओं की बात की जाती है, तब स्वभावत: ही वर्तमान मानव-जीवन की

जटिलताओं की ओर ध्यान जाता है। वास्तव में, मनुष्य आज एक ऐसे वैज्ञानिक युग से होकर गुजर रहा है कि वह जन-जीवन की कटुता और यथार्थता की उपेक्षा नहीं कर सकता। यह मानव की एक प्रकार से स्वभावगत विशेषता बन गयी है कि वह एक विचित्र जीव की भाँति एक निश्चित गति से किन्हीं अनिश्चित लक्ष्यों की ओर बढ़ता रहता है। अन्यथा जीवन की जटिलताएँ कुछ इस रूप में आजकल उसके सामने हैं कि क्षण भर के लिए उसे चिन्तनशील हो जाना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, उनका सामना किस प्रकार किया जा सकता है।

बहुधा आज सांस्कृतिक विकास की चर्चा करते हुए कहा जाता है कि आज संस्कृति ह्रासोन्मुख होती जा रही है। ऐसा कहते हुए इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया जाता कि अपने आप में यह धारणा कहाँ तक सार्थक है। सांस्कृतिक पतन का यह अर्थ नहीं है कि किसी दैवी कारण से उस संस्कृति का अंत हो रहा है, जिसका विकास होने में सहस्रों वर्ष लगे हैं और जिसे विकास-प्रक्रिया की अनेक सीढ़ियाँ पार करनी पड़ी हैं। तथ्य यह है कि महान कला-कृतियाँ ही अमरता के गुण से युक्त होती हैं। आस्कर वाइल्ड ने लिखा है कि 'कला की महान् कृतियाँ जीवित वस्तु हैं—वास्तव में ये कला-कृतियाँ ही एकमात्र वस्तुएँ हैं जो जीवित रहती हैं। आदर्श आलोचक इस सत्य को इतनी भली प्रकार पहचानता है कि मुझे विश्वास है कि सभ्यता के अधिकाधिक विकास और संगठन के साथ श्रेष्ठ व्यक्ति वास्तविक जीवन में कम रुचि लेने लगेंगे। कला ने जिनका स्पर्श किया है, कदाचित् केवल उन्हीं वस्तुओं से श्रेष्ठ व्यक्ति जीवन का प्रभाव या परिचय ग्रहण करना चाहेंगे। ....तृप्ति अथवा अनुभव के लिए जीवन के पास जाना चाहिए। जीवन तो सूत्रहीन परिस्थितियों के कारण संकीर्ण बन जाता है। कलात्मक मनोवृत्ति को एक ही वस्तु संतुष्ट कर सकती है। और वह है विधान और आत्मा का सुन्दर मिश्रण। जीवन में यह नहीं मिलता। कला और केवल कला के द्वारा हम अपनी पूर्णता की अनुभूति कर सकते हैं, कला के द्वारा वास्तविक स्थिति के कष्टदायी त्रासों से हम अपने को सुरक्षित रख सकते हैं।'[1]

१. देखिये—'The Critic as Artist'—Oscar wilde.

बर्ट्रेन्ड रसेल ने आधुनिक युग में मानव-जीवन पर अपने विचार प्रकट करते हुए बताया है कि 'मनुष्य का जीवन बहुत अल्प एवं असहाय है, उस पर और उसकी सारी जाति पर मृत्यु का धीमा परन्तु निश्चित, निर्दय और अँधेरा पंजा गिरता है। अच्छाई और बुराई को बिना देखे, तथा बिना ध्वंस की कोई चिन्ता किये हुए, सर्वशक्तिमान भौतिक तत्व बिना रुके आगे बढ़ता रहता है। मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने मस्तिष्क को उस अपरिहार्य निर्दयता से मुक्त रखे, जो उसके बाह्य जीवन की नियामक है; और उसके साथ-ही-साथ वह उन अनिवार्य तत्वों का भी समाना करता रहे, जो एक क्षण के लिए उसके ज्ञान और भर्त्सना को सहन कर लेते हैं।'[1]

युग की जटिलताओं और मानवीय संस्कृति के ह्रास को दृष्टि में रखते हुए ग्रैबील मार्सेल लिखता है कि 'हम आज कहते हैं कि हमारी संस्कृति मरणोन्मुख है। इसके अर्थ क्या हैं? क्या कोई भूचाल इसे नष्ट कर रहा है, क्या कोई जल-प्रलय आ रहा है या ऊँची-ऊँची पक्की इमारतों की छतें गिर रही हैं, या कोई महा-मारी फैल रही है। नहीं, बाह्य जगत में यह सब-कुछ नहीं होने जा रहा है। मरणोन्मुख संस्कृति से मतलब यह होता है कि हमारी संस्कृति का आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुष्य में आन्तरिक रुग्णता केवल एक शिविर में या एक व्यवस्था की संस्कृति में है? नहीं। हमारी वर्तमान स्थिति में दोनों ओर की सत्ताएँ प्रगति की शत्रु हैं। अतः वे जान-बूझ कर मनुष्य की आन्तरिक वैयक्तिकता को रुग्ण और कुण्ठित बना रही हैं। वैयक्तिक आन्तरिकता के विरुद्ध इस गुप्त कीटाणु-युद्ध के तरीके बड़े ही विचित्र और नृशंस हैं। व्यक्ति में भय का संचार किया जाता है, उसके स्वाभिमान को तोड़ा जाता है, घृणा और हिंसा के भावावेश में लाया जाता है, सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक साधनों से उसे इतना जर्जर कर दिया जाता है कि वह अपनी वैयक्तिकता पर अधिकार खो बैठता है। जिन कर्मों को यह करता है उसका उत्तरदायी अपने को नहीं मानता और जिन कर्मों को नहीं करता उनका अपराधी अपने को मानकर झूठे बयान पर स्वेच्छा से हस्ताक्षर कर आता है। धीरे-धीरे वह विवेक से शून्य स्वतंत्र संकल्प से रहित, भावावेशों, बाह्य हिप्नाटिक प्रभावों

१. देखिए—'Free Man's Worship'—B. Russel.

और ऐन्द्रजालिक अन्तर्विरोधों से परिचालित मानव-यन्त्र-मात्र रह जाता है। भय-संचार की इस टेकनीक का पूर्णतम विकास पूँजीवादी देशों में अणुबम के रूप में हुआ है और साम्यवादी देशों में चिन्तन-पारतन्त्र्य के रूप में।'[1]

उपन्यास को आज के युग में सबसे अधिक सशक्त साहित्यिक माध्यम माना जाता है। उसके शिल्प रूपों का अब तक जो भी विकास हुआ या हो रहा है और भविष्य में होने की आशा है, उसका कारण उसकी महत्ता में वृद्धि भी है। ऊपर जिन विद्वानों के विचारों को उद्धृत किया गया है, उसका उद्देश्य यही है कि आज दृष्टिकोण और मूल्यों के परिवर्तन की बात एक प्रमुख समस्या के रूप में उपस्थित है, जो किसी सीमा तक एक जागरूक विचारक के लिए चिंतन का विषय भी हो सकता है। कम से कम उपन्यास जैसे दायित्वपूर्ण और महत्ता वाले साहित्य माध्यम के लिए इन मूल्यों की उपेक्षा करना सम्भव नहीं है और न उचित ही। सर बोम्स जीम्स ने इस विषय पर जो विचार प्रकट किये हैं, वे बहुत महत्व के हैं। उन्होंने लिखा है कि 'तीस वर्ष पहले हमने यह सोचा था, या अनुमान किया था कि हम एक ऐसे अन्तिम सत्य की ओर बढ़ रहे हैं, जो अपनी प्रकृति में एकदम यान्त्रिक है। यह हठात् एकत्र किये हुए अणुओं का ढेर-सा लगता था, जो अन्धी और निरुद्देश्य शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के साथ-साथ कुछ देर तक निरर्थक उछल-कूद करने को विवश था, और अन्ततोगत्वा इसे एक मृत संसार का भाग बनना पड़ता था·······आज तो इस धारणा में सहमति का अंश अधिक है, जो विज्ञान के भौतिक स्तर पर प्राय: एकमत हो जाता है, कि ज्ञान की धारा एक अयान्त्रिक वास्तविकता की ओर बढ़ रही है; ब्रह्माण्ड आज एक महान् विचार के रूप में अधिक लगता है बनिस्बत एक बड़ी मशीन के। मस्तिष्क आज भौतिक जगत् में हठात् यों ही घुस आनेवाली कोई अवांछनीय सत्ता नहीं जान पड़ता; हमें तो अब ऐसा जान पड़ता है कि मस्तिष्क ही वस्तुत: भौतिक जगत् का निर्माता तथा नियामक है।'[2]

सिडनी फिंकेल्सटीन ने कहा है कि अगर कोई कलाकार समाज और मानव-प्राणियों के बारे में सत्यों का उद्घाटन करना चाहता है, तो वह आवश्यकतावश

१- देखिये—'Men against Humanity'. G. Marcell.
२. देखिये—'The Mysterious Universe'—Sir James Beams.

कला के ऐसे रूपों और शैलियों को ही अपनाना चाहेगा जो उसके अभीष्ट को पूरा करने में सहायक हों। जिस पाठक या दर्शक वर्ग तक वह पहुँचना चाहता है उसे यथासम्भव निकट लाये और स्वतंत्रता दे। अपने लिए किसी कला-रूप या शैली को चुनते समय कलाकार के लिए यह बात ही निर्णयकारी होती है, न कि किसी कला-रूप का 'प्रकृत' या रूढ़ियों से मुक्त दिखायी पड़ने वाला गुण।[1]

जे. डब्लू. बीच ने आधुनिक युग के उपन्यासों पर अपने विचार प्रकट करते हुए बताया है कि ज्यों-ज्यों उपन्यास-कला का विकास हुआ है, त्यों-त्यों उपन्यास-लेखक की छाया उपन्यास पर कम होती चली गयी है। उपन्यास-कला के प्रौढ़ता को प्राप्त होने का ही यह परिणाम हुआ है कि अब वह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए कथा को शृंखलाबद्ध करने के लिए अथवा किसी रहस्य के स्पष्टीकरण के लिए स्वयं उपन्यास के रंगमंच पर प्रकट होना आवश्यक नहीं समझता।[2]

हिन्दी उपन्यास की वर्तमान प्रवृत्तियाँ अपने आप में उपर्युक्त बौद्धिक-सांस्कृतिक समस्याओं के लिए हुए हैं और उन्हें देखते हुए यह आशा भी की जाती है कि उसका भावी स्वरूप-क्षेत्र भी अपने आपको इनसे मुक्त न रखना चाहेगा, जो निश्चय ही साहित्यकारों की अजागरूकता का परिचायक होगा। जैसा कि कहा जा चुका है, हिन्दी के आधुनिक कथा साहित्य की रचना-काल बहुत थोड़े वर्षों का है। परन्तु इतने कम समय में ही इस साहित्यांग ने जो आश्चर्यजनक प्रगति की है, वह इसकी निरन्तर बढ़ती हुई लोकप्रियता का प्रमाण है, हिन्दी का नया उपन्यास-साहित्य कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। एक ओर जहाँ इसमें शिल्प तथा उद्देश्य की दृष्टि से पर्याप्त नवीनता लक्षित होती ह, वहाँ दूसरी ओर वह पिछले कुछ समय में स्थापित विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव भी अपने आप में लिये हुए है। नयी स्थापनाओं का प्रभाव उस पर प्रचुर रूप में मिलता है। यह प्रभाव पिछले बीस-तीस वर्षों के उपन्यास साहित्य पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसका प्रसार भविष्य में और अधिक होने की आशा है।

इधर कुछ वर्षों से हिन्दी कथा-साहित्य की जो प्रमुख समस्याएँ रही हैं, उनमें से एक यह है कि आलोचकों में उसके प्रति एक विचित्र उदासीनता पायी जाती है।

१. देखिये—'Art and Society'—S. Finkelsteene.
२. 'Twentieth Century Novel'—J. W. Beach.

कहने का मतलब यह है कि हिन्दी कथा-साहित्य इधर जो पर्याप्त उन्नति करने के बाद भी अब मनमाने रास्तों पर भटकता दिखायी पड़ता है, इसका मुख्य कारण उसके उचित दिशा-निर्देशन का अभाव है। यह भी कहा जा सकता है कि इधर हिंदी साहित्य में प्राय: जो आलोचना होती दिखायी दे रही है, वह किन्हीं विशेष विवादग्रस्त विषयों के आसपास ही चक्कर लगाती रही है, इसलिए अगर किसी साहित्यांग के प्रति उसकी उदासीनता स्पष्ट हो, तो यह स्वाभाविक ही है।

हिन्दी का नया कथा साहित्य अपने आप में रूप-गठन सम्बन्धी अनेक विविधताएँ लिये हुए है, परन्तु उसका भली भाँति विवेचन किये हुए बिना यह कह सकना कठिन है कि उसकी महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ क्या हैं। निश्चय ही प्रेमचन्द युग में निरधारित सीमाओं का अतिक्रमण करके वह विकास के मार्ग पर आगे बढ़ चुका है और जहाँ तक शिल्प-विधि के विकास का प्रश्न है, उसने अवश्य ही प्रगति की है। इस युग के कथाकारों ने मनोविज्ञान का आधार लेकर अनेक नैतिक प्रश्नों पर नये दृष्टिकोण से विचार किया है। इस प्रवृत्ति की प्रमुखता का कारण आज के युग में नैतिक धारणाओं में परिवर्तन हो जाना है और आधुनिक मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों द्वारा नयी मान्यताओं का निर्धारण ही है।

प्रेमचन्द युग के बाद हिन्दी उपन्यास अनेक दिशायें ग्रहण कर चुका है, यह उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है। परन्तु अभी इस सबसे कोई निष्कर्ष निकाला जा सका है, यह संदेहास्पद है। साथ ही यह कहना भी अनुचित न होगा कि उसके सही मूल्यांकन की चेष्टाए भी कम हुई हैं।

इस उदासीनता का ही यह फल दिखायी दे रहा है कि हिंदी उपन्यास नित्य नये मोड़ों पर आकर आगे बढ़ने की चेष्टा करते हुए भी, किसी निश्चित मार्ग पर अग्रसर नहीं हो पा रहा है। लेकिन इस प्रकार से किये गये और किये जा रहे अनेक प्रयत्न उपन्यासकारों की क्रियाशीलता के परिचायक और हिंदी उपन्यास के भावी उन्नत और परिष्कृत रूप का आभास देने वाले हैं। इसके साथ ही एक बात और भी महत्व की है। वह यह कि, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, हिंदी के किसी भी आलोचक ने इसके मार्ग-निर्देशन के क्षेत्र में कोई ठोस प्रयत्न नहीं किया, यद्यपि अब आलोचकों का ध्यान इस ओर आकर्षित होता प्रतीत होता है। हमारा अनुमान है कि एक ओर जहाँ यह प्रवृत्ति उनकी अजागरूकता तथा इस क्षेत्र में उनकी अकर्मण्यता का परिचय देती है, वहाँ दूसरी ओर उनके इसकी प्रगति से

विषय में उपेक्षा भाव की भी परिचायक है। सम्भवत: इतना कहने के बाद यहाँ यह संकेत करने की आवश्यकता नहीं रह गयी है कि यह लक्षण हिंदी उपन्यास की भावी प्रगति की दृष्टि से शुभ नहीं है।

क्या यहाँ उसके कारणों की ओर इंगित करना आवश्यक नहीं है? हमारी निश्चित धारणा है कि हिंदी का नया उपन्यास-साहित्य अपने ऊपर पड़े अनेक प्रभावों को साथ लेकर आगे बढ़ रहा है और नित्य नये रूपों का परिचय दे रहा है। कहने का तात्पर्य यह है जिस प्रकार भारतेन्दुयुगीन उपन्यासों से पूर्ण प्रभावित होते हुए भी प्रेमचन्द युग का उपन्यास-साहित्य, उससे अलग अनेक प्रवृत्तियों को साथ लेकर आगे बढ़ा, ठीक उसी प्रकार प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास, प्रेमचन्द युगीन उपन्यास साहित्य के निर्धारित मार्गों से अलग अनेक नयी राहों की खोज कर रहा है। विवाद का विषय होते हुए भी, हमारी यह निश्चित धारणा है कि प्रेमचन्द युग के बाद भी हिंदी-उपन्यास, उपयुक्त निर्देशन के अभाव के होते हुए भी आगे बढ़ सका है।

तो, हम अनेक न्यूनताओं के होते हुए भी, अपनी औपन्यासिक उपलब्धियों से निराश नहीं हैं। बल्कि, यदि अधिक स्पष्ट कहा जाय, तो आशान्वित ही हैं। यह इसलिए, कि हम जानते हैं कि किसी भी भाषा की उन्नति या स्तरीकरण के लिए चालीस-पचास या सौ वर्ष बहुत कम हैं। यदि हम विश्व की भाषाओं का आनुपातिक और तुलनात्मक अध्ययन करें, तो देखेंगे कि उन भाषाओं को, जिन्हें आज समृद्ध कहा जाता है, अपने निर्माण में कई-कई सौ वर्ष लगाने पड़े हैं। अत: हिंदी—और यहाँ हमारा तात्पर्य निश्चय ही खड़ी बोली से है—साहित्य की जो सर्वांगीण उन्नति आज दिखायी दे रही है—भले ही उसकी सीमाएँ चारों ओर विस्तार से फैली हुई नहीं हैं—यदि हमारे सौ वर्षों से भी कम—अस्सी या पचासी वर्ष—समय के प्रयत्नों का फल है, तो भविष्य कुछ निराशाजनक नहीं है। बल्कि, इसके विपरीत, हिन्दी को उपर्युक्त औपन्यासिक प्रगति, इस बात का स्पष्ट संकेत देती है कि भविष्य में—यदि उसका विस्तार-क्रम तथा गतिशीलता ऐसी ही रही—वह संसार की समृद्ध भाषाओं के उपन्यास-साहित्य को समता कर सकेगा।

इसलिए, हमारा विचार है कि प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी की उपलब्धियों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि वह अभी भी अपने विकास की अप्रौढ़ अथवा अपरिपक्वावस्था में है। हाँ, यह स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी

चाहिए कि हिंदी का सामान्य साहित्यिक स्तर अभी विश्व साहित्य के स्तर का नहीं है। और साथ ही, विश्व उपन्यास की तुलना में हिंदी उपन्यास को तौलना सर्वथा भिन्न बात है। वैसे, यह मानने में कोई अनौचित्य नहीं है कि हिंदी में प्रेमचन्द जैसे कुछ उपन्यासकारों को छोड़कर ऐसे उपन्यासकार कम ही हैं, जिन्हें विश्व के महान उपन्यासकारों की पंक्ति में बैठाते हुए उनका महत्व प्रतिपादित करने में हमें गर्व या सन्तोष हो। परन्तु हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जहाँ विश्व की अन्य समृद्ध भाषाओं—फ्रेंच, जर्मन, अँग्रेजी, रशियन आदि—का उपन्यास-साहित्य अपने पीछे सैकड़ों वर्षों की पुरानी परंपराओं को लिये हुए है, वहाँ हिन्दी-उपन्यास अभी कठिनाई से पचास-साठ वर्ष पुराना है, और इस आनुपातिक दृष्टि से उसका महत्व निस्सन्देह बहुत अधिक है, जो किसी भी सीमा हमें तक नैराश्य का अनुभव नहीं करने देता। बल्कि अपने उन्नत भावी रूप का आभास देते हुए दृढ़ता से अपने वर्तमान महत्व की घोषणा करता है।

परिशिष्ट (१)

सहायक ग्रन्थों की सूची

(क) हिन्दी

अपने खिलौने—श्री भगवतीचरण वर्मा

अमरबेल—डा० वृन्दावनलाल वर्मा

अशोक के फूल—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

आदर्श दम्पति—श्री लज्जाराम मेहता

आधुनिक कवि, भाग १—श्रीमती महादेवी वर्मा

" " " २—श्री सुमित्रानन्दन पन्त

" " " ३—डा० रामकुमार वर्मा

आधुनिक समीक्षा—डा० देवराज

आधुनिक साहित्य—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

आधुनिक साहित्य—प्रतापनारायण टण्डन

आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—डा० श्रीकृष्ण लाल

आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान—डा० देवराज उपाध्याय

उत्तरापथ—श्री यादवचन्द्र जैन

उपन्यास-सिद्धान्त—श्री श्यामू सन्यासी

कंकाल—श्री जयशंकर 'प्रसाद'

कचनार—डा० वृन्दावनलाल वर्मा

कमलिनी—श्री जैनेन्द्र कुमार

कल्याणी—श्री जैनेन्द्र कुमार

काठ का उल्लू और कबूतर—श्री केशवचंद्र वर्मा

काव्य, कला और अन्य निबन्ध—श्री जयशंकर 'प्रसाद'

काव्य के रूप—डा० गुलाब राय

काव्य-शास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र

कुल्ली भाट—श्री 'निराला'

कुसुम कुमारी—श्री किशोरीलाल गोस्वामी

गंगा जमुनी—श्री जी. पी. श्रीवास्तव

गबन—श्री प्रेमचन्द

गोदान—श्री प्रेमचन्द

चन्द हसीनों के खुतूत—श्री 'उग्र'

चन्द्रकान्ता—श्री देवकीनन्दन खत्री

चित्रलेखा—श्री भगवतीचरण वर्मा

चिन्तामणि—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

जातक, भाग १—श्री भदन्त आनन्द कौसल्यापन

जीने के लिये—श्री राहुल सांकृत्यायन

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई—डा० वृन्दावनलाल वर्मा

ठेठ हिन्दी का ठाठ—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

तारा—श्री किशोरीलाल गोस्वामी

त्यागपत्र—श्री जैनेन्द्र कुमार

दिव्या—श्री यशपाल

दीपशिखा—श्रीमती महादेवी वर्मा

द्विवेदी काव्य माला—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

नदी के द्वीप—श्री 'अज्ञेय'

नासिकेतोपाख्यान—श्री सदल मिश्र (सं० डा० श्यामसुन्दर दास)

नूतन ब्रह्मचारी—पं० बालकृष्ण भट्ट

पंचतंत्र—अनु० श्री सत्यकाम विद्यालंकार

पत्थर अल पत्थर—श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

परख—श्री जैनेन्द्र कुमार

परती : परिकथा—श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु'
परीक्षा गुरु—श्री श्रीनिवास दास
पल्लव—श्री सुमित्रानन्दन पन्त
पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा—श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
प्रणयिनी परिणय—श्री किशोरीलाल गोस्वामी
प्रबन्ध प्रतिमा—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'
प्रेत और छाया—श्री इलाचन्द्र जोशी
प्रेमसागर—श्री लल्लूलाल
प्रेमाश्रम—श्री प्रेमचन्द
बड़ी बड़ी आँखें—श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
बाणभट्ट की आत्मकथा—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
बाहर भीतर—डा० देवराज
बिल्लेसुर बकरिहा—श्री 'निराला'
भागो नहीं, दुनिया को बदलो—श्री राहुल सांकृत्यायन
भारत का इतिहास—डा० ईश्वरी प्रसाद
भारत भूमि और उसके निवासी—श्री जयचन्द विद्यालंकार
भारतीय संस्कृति—डा० बल्देवप्रसाद मिश्र
भारतेन्दु ग्रन्थावली—भारतेंदु हरिश्चंद्र
भारतेन्दु युग—डा० रामविलास शर्मा
भुवन विक्रम—डा० वृन्दावनलाल वर्मा
मधुशाला—श्री 'बच्चन'
माधव जी सिंधिया—डा० वृन्दावनलाल वर्मा
माधव-विलास—श्री लल्लूलाल
मिश्रबन्धु विनोद—मिश्रबन्धु
मिस्टर तिवारी का टेलीफोन—श्री सरयूपंडा गौड़
मुर्दों का टीला—डा० रांगेय राघव
मृगनयनी—डा० वृन्दावनलाल वर्मा
मैला आँचल—श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु'
रंगभूमि—श्री प्रेमचन्द
रक्त मण्डल—श्री दुर्गाप्रसाद खत्री

रसवन्ती—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'

लगन—डा० वृन्दावनलाल वर्मा

लज्जा—श्री इलाचन्द्र जोशी

विचार वल्लरी—श्री जैनेन्द्र कुमार

विवेचना—श्री इलाचन्द्र जोशी

शिवसिंह सरोज—श्री शिवसिंह सेंगर

शेखर : एक जीवनी—श्री 'अज्ञेय'

श्यामा-स्वप्न—ठाकुर जगमोहन सिंह

श्रीनिवास ग्रन्थावली—सं० डा० श्रीकृष्ण लाल

संस्कृत साहित्य का इतिहास—श्री बलदेव उपाध्याय

सती सामर्थ्य—श्री भगवानदीन पाठक

साहित्य का उद्देश्य—श्री प्रेमचन्द

साहित्य साथी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

साहित्य का देवता—श्री माखन लाल चतुर्वेदी

साहित्य परिचय—प्रकाशक, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बंबई

साहित्य शिक्षा—सं० श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

साहित्यालोचन—डा० श्यामसुन्दर दास

सुखशर्वरी—श्री किशोरीलाल गोस्वामी

सुनीता—श्री जैनेन्द्र कुमार

सूनी राह—श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

सूरज का सातवाँ घोड़ा—डा० धर्मवीर भारती

सेठ बाँकेमल—श्री अमृतलाल नागर

सेवासदन—श्री प्रेमचन्द

हास्य रस—श्री जी. पी. श्रीवास्तव

हितोपदेश—अनु० श्री 'आनन्द'

हिन्दी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव

हिन्दी उपन्यास में वर्ग भावना—प्रतापनारायण टण्डन

हिन्दी कथा साहित्य—श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

हिन्दी कहानी की शिल्प-विधि का विकास—डा. लक्ष्मीनारायण लाल

हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास—डा. अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन (अनु० श्री किशोरी लाल गुप्त)

हिन्दी साहित्य : पिछला दशक—प्रतापनारायण टण्डन

(ख) संस्कृत

अलंकार पीयूष (उत्तरार्द्ध)

कठोपनिषद्

काव्य-प्रभाकर

काव्यालंकार सूत्र

केनोपनिषद्

छान्दोग्य उपनिषद्

तैत्तिरीय

ध्वन्यालोक:

प्रश्नोपनिषद्

भामह का काव्यालंकार

महाभारत

मुण्डकोपनिषद्

बृहदारण्यक

शब्द-शक्ति प्रकाशिका

श्राद्ध विवेक

साहित्य दर्पण

(ग) अँग्रेजी

Aesthetics—Croce.

Art And Social Life—Plakhnov.

Art And Society—S. Finkelsteene.

An Introduction To The Study of Literature—W. H. Hudson.

Aspects of the Novel—E. M. Forester.

A Treatise on the Novel—E. M. Forester.
Enpsyclopedia Britanica
Film Making from Script to Screen—Andrew Buchanan.
Film Technique—Pudovkin (Translated and Annotated by Ivor Montagu).
Free Man's Worship—B. Russel.
History of Sanskrit Poetics—Dr. S. K. Dey.
Humour and Humourists—Thackeray.
Laughter—Henry Bergson.
Man against Humanity—G. Marcell.
Novel and the people—R. Fox.
Principles of Literary Critism—I. A. Richards.
Return to Philosophy—Zoad.
The Critic as Artist—O. Wilde
The Development of English Novel—Cross.
The Meaning of Human History—Cohen.
The Mysterious Universe—Sir. J. Beems.
The Progress of Romance—C. Reeve
The Sacred Wood—T. S. Eliot.
Vaishnavism—Dr. Bhandarkar,
What is Art—Tolstoy.

(घ) पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना
नये पत्ते
नागरी प्रचारिणी पत्रिका
विशाल भारत
साहित्य-सन्देश
हिन्दुस्तानी

परिशिष्ट २

(क) नामानुक्रमणिका

ल

व

श

(ख) ग्रन्थानुक्रमणिका